63

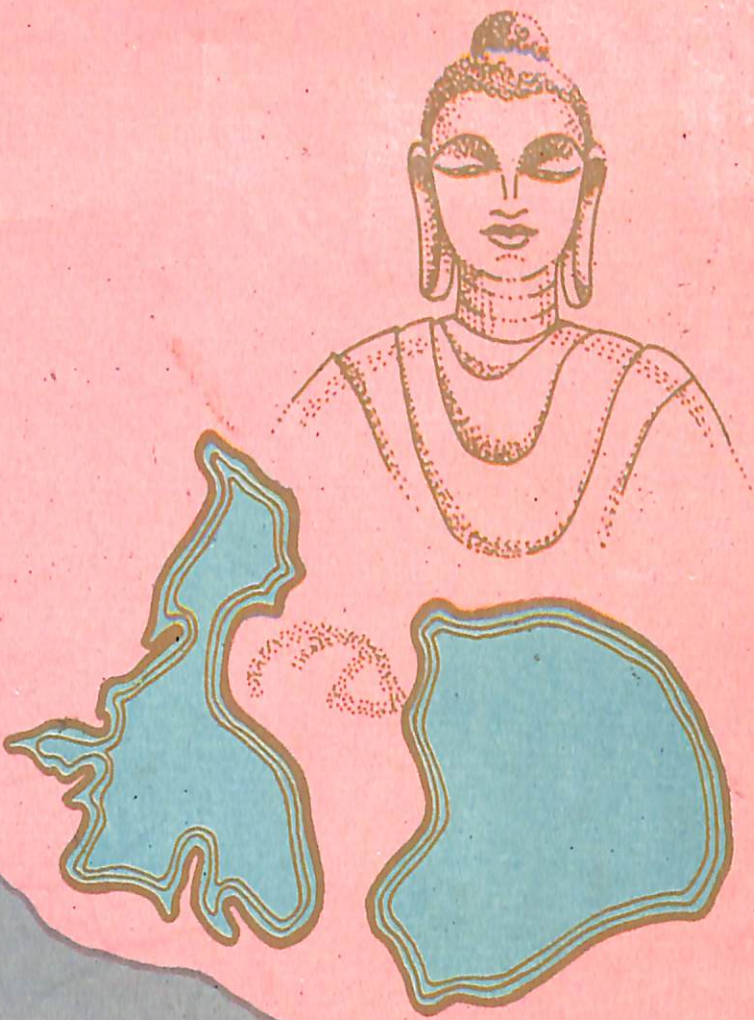

प्राचीन बौद्धग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म

डा. प्रिया श्रीवास्तव

डा. प्रिया श्रीवास्तव

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातुकर्म

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातु-कर्म

[illegible]

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में वर्णित धातु एवं धातु-कर्म

लेखिका

डॉ. प्रिया श्रीवास्तव

एम. ए. पी-एच. डी.

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
एवं पुरातत्त्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रकाशक

रत्ना पब्लिकेशन्स

वाराणसी

प्रकाशक :
रत्ना पब्लिकेशन्स
कमच्छा, वाराणसी

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
डा. प्रिया श्रीवास्तव
S. 21/112 B, इंगलिशिया लाइन
वाराणसी, फोन : (0542) 348012

मूल्य : रु. 400.00

© लेखिकाधीन

वर्ष : 1997

PRACHIN BAUDHA GRANTHON MEIN
VARNIT DHATU-EVAM-DHATUKARMA
By Dr. Priya Srivastava

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद
भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा आर्थिक सहयोग प्राप्त

मुद्रक :
रत्ना आफसेट्स लिमिटेड
बी. २१/४२ ए., कमच्छा
वाराणसी–२२१०१०

मेरे श्रद्धेय
स्वर्गीय माता-पिता
को सादर समर्पित

प्राक्कथन

"धातु एवं धातुकर्म बौद्धकालीन सभ्यता-संस्कृति का अमूल्य पृष्ठ है" इस वाक्य की सार्थकता प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होती है जिसमें बौद्ध-युगीन संस्कृति का मुख्यतः प्रतिनिधित्व करने वाले प्राचीन बौद्ध-पालि साहित्य को आधार मानते हुए धातु एवं धातुकर्म जैसे महत्वपूर्ण विषय को रोचकपूर्ण ढंग से सर्वथा नवीन शैली में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया गया है । यद्यपि बौद्धकालीन सामाजिक-आर्थिक संस्कृतियों के निरूपण में विभिन्न धातुओं के योगदान की चर्चा अनेक शोधग्रन्थों में विस्तार की गई है किन्तु मूलतः धातु एवं धातुकर्म को आधार मानकर इस प्रकार से व्यापक अर्थों में समकालिक सामाजिक-आर्थिक क्रियाकलापों का पुनरीक्षण विगत वर्षों में दिखलायी नहीं पड़ता है । प्रस्तुत पुस्तक के प्रायः सभी अध्यायों में धातुविषयक सन्दर्भों को अत्यन्त सतर्कतापूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिसमें लौह एवं ताम्र धातुओं के लिये प्रयुक्त समानार्थी शब्दों यथा–अयस एवं लोह जैसे शब्दों की सूक्ष्मतापूर्वक छान-बीन करते हुए इन धातुओं की विभिन्न वस्तुओं में उपादेयता, अन्य धातुमय वस्तुओं (निष्क, सीसे-रांगेमयी-पात्रों, रक्षा-उपकरणों एवं मुद्राराशि) के उपयोग सम्बन्धी नवीन अवधारणा का विकास दिखंलायी पड़ता है । धातु-विषयक सन्दर्भों की परख इतनी सावधानीपूर्वक की गयी है कि समकालिक संस्कृति की पूर्णता धातुओं की उपादेयता में निहित प्रतीत होती है ।

प्रस्तुत पुस्तक के कौतूहल का विषय वस्तुतः धातु-विज्ञान विषयक सन्दर्भों की विवेचना है । जिस प्रकार से पर्वतीय भागों एवं जलीय स्रोतों में धातु-प्राप्ति की नवीन सम्भावनाओं तथा धातु-तकनीकों की विकसित प्रक्रियाओं को आधुनिक धातु-विज्ञान की कसौटी पर सफलतापूर्वक परखने का प्रयास किया गया है, वह न केवल इतिहास के शोधार्थियों अपितु विज्ञान के शोधार्थियों को भी नवीन दिशा प्रदान करता है, जिसके लिए लेखिका डा. प्रिया श्रीवास्तव निःसन्देह प्रशंसा की पात्र हैं ।

(प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय)
पूर्व कुलपति
जयपुर विश्वविद्यालय, राजस्थान

भूमिका

धातु का आविष्कार मानव सभ्यता-संस्कृति के उत्कर्ष का काल कहा जाता है । अतिप्राचीन काल से ही विशाल भौगोलिक क्षेत्र में विस्तृत भारतवर्ष में विकसित सभ्यता-संस्कृति का मापदण्ड वस्तुतः उस कालविशेष से सम्बद्ध धातुएँ रही हैं । ये धातुकीय सभ्यता कभी उत्तर-पश्चिमी भारतवर्ष के विकास का केन्द्रबिन्दु रही हैं तो कभी इनका कार्य-क्षेत्र पूर्वोत्तर भारतवर्ष रहा है । वस्तुतः चतुर्थ-तृतीय सहस्राब्दि ईस्वीपूर्व से छठीं-पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के दीर्घकालिक अवधि में फलीभूत विभिन्न संस्कृतियों का निर्धारण पुरातत्वविदों ने इस काल में प्राप्त धातुओं एवं धातु-विज्ञान के प्रयोगों के आधार पर किया है यथा–ताम्रयुगीन सभ्यता, ताम्र-कांस्ययुगीन सभ्यता एवं लौहयुगीन सभ्यता ।

लगभग छठीं-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व के काल में गंगाघाटी के मध्यवर्ती क्षेत्रों में द्वितीय नगरीय सभ्यता का आविर्भाव होता है । पुरातात्विक साक्ष्यों के अनुसार इस सभ्यता के विकास में ताम्र-लौह जैसी धातुओं का विशेष योगदान था । प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थ जो मूलतः बौद्ध धर्म-दर्शन् की व्याख्या करते हैं, प्रसंगवशात् बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के केन्द्र में विकसित नगरीय सभ्यता का बृहद् चित्रण प्रस्तुत करते हैं । इनमें वर्णित धातु-विषयक सन्दर्भों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि न केवल मध्यवर्ती गांगेय क्षेत्र अपितु सुदूर विस्तृत पूर्वोत्तर भारत (आधुनिक तिब्बत तक के भाग) तक बौद्धकालीन सभ्यता संस्कृति का विकास रहा होगा । इस विशाल भौगोलिक क्षेत्रफल में विकसित सभ्यता संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्वों में सुवर्ण, रजत, लौह, ताम्र, कांस्य, सीसा एवं रांगा जैसी धातुएं प्रमुख थीं जिन्हें सम्भवतः उत्तर-पूर्वी भारत में विहित (उत्तरापथ) कैलाश से हिमवान तक विस्तीर्ण विभिन्न पर्वतीय-शृंखलाओं, वन-क्षेत्रों, नद्य-तटवर्ती भागों से प्राप्त किया जाता रहा है । अतएव मध्यवर्ती गांगेय क्षेत्र की अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत भौगोलिक परिक्षेत्र में फलीभूत बौद्धकालीन नगरीय सभ्यता की जानकारी हेतु बौद्ध पालि ग्रन्थ मुख्य भूमिका का निर्वाह करते प्रतीत होते हैं । अतः बौद्धकालीन धातुकीय सभ्यता का प्रतिनिधित्व करने वाले साहित्यिक स्रोतों में प्रमुख बोद्ध पालि ग्रन्थों का इस दृष्टिकोण से अध्ययन अनिवार्य हो जाता है । इस अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राचीन पालि ग्रन्थों को आधार मानकर सुदूर उत्तर-पूर्व भारतवर्ष तक द्वितीय नगरीय सभ्यता के विकसित होने, उनके विकास में धातुओं के योगदान

एवं वैज्ञानिक धरातल पर धातु-प्राप्ति के प्राकृतिक स्रोतों एवं धातु तकनीकी ज्ञान सम्बन्धी सन्दर्भों का विवेचन करते हुए समग्र विषय वस्तु को नये आयाम में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है, जो एक ओर तो सुदूर भौगोलिक परिक्षेत्र तक बौद्ध संस्कृति की व्यापकता की संभावना को नवीन ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक आधार प्रदान करता है तो दूसरी ओर आधुनिक भूगर्भशास्त्रियों एवं धातुविदों के लिए धातु-प्राप्ति के नवीनतम प्राकृतिक स्रोतों एवं तकनीकी ज्ञान के लिए नवीन सम्भावनाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करता है ।

प्राचीन पालि-ग्रन्थ बौद्ध धर्म-दर्शन को स्पष्ट करने के लिए उपमा-उपमेय के माध्यम से समकालीन सामाजिक-आर्थिक संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में 'धातु एवं धातु-कर्म' जैसे वैज्ञानिक विषय-वस्तु पर प्रकाश डालते हैं । इसके अन्तर्गत तत्कालीन समाज में विभिन्न रूपों में उपलब्ध धातुओं का स्वरूप क्या था ? अथवा उच्च एवं सामान्य वर्ग में विभिन्न धातुओं का उपयोग किस परिमाण तक अपेक्षित था ? विभिन्न धातुओं की प्राप्ति के प्राकृतिक संसाधन क्या थे ? धातुओं को किन-किन तकनीकी प्रक्रियाओं द्वारा तैयार किया जा रहा था एवं धातुमय वस्तुओं के निर्माण में किन-किन विधियों को प्रयोग में लाया गया था ? इन सभी प्रश्नों का विशद् रूप से समाधान पालि-ग्रन्थों के गहन अध्ययन से प्राप्त होता है । प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में किया गया एक विनीत प्रयास है ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से ज्ञात भौतिक संस्कृति एवं समकालिक पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधारित छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से लेकर आगे की तीन-चार शताब्दियों तक के काल की संस्कृति पर अनेक शोध-कार्य हुए हैं । किन्तु मूल स्रोतों के रूप में पालि ग्रन्थों को आधार बना कर धातु एवं धातु-कर्म जैसे विषय पर स्वतन्त्र रूप से किये गये शोध-कार्य का लगभग अभाव रहा है । पालि ग्रन्थ जो पूर्णतः सामान्य जनजीवन से जुड़े हुए हैं तथा जिसमें सामाजिक जीवन से सम्बद्ध अमूल्य सामग्री बिखरी पड़ी है, इस प्रकार की सामग्री का इतिहास लेखन में प्रचुर प्रयोग भी विद्वानों द्वारा किया गया है किन्तु धातु एवं धातु-कर्म विषय पर उपलब्ध सामग्री का यथेष्ट अध्ययन कर तत्कालीन तकनीकी ज्ञान एवं उसके प्रयोग के परिणामस्वरूप आए सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का आकलन अभी तक नहीं हुआ है । ऐसे महत्वपूर्ण विषय पर शोध-कार्य का लगभग अभाव देखते हुए इस विषय का चयन किया गया है ।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ में जिन उद्भट विद्वानों द्वारा बौद्धयुगीन भौतिक संस्कृति पर लिखे गये ग्रन्थों का उपयोग किया गया है उनमें प्रमुख रूप से रीज़ डेविड्स की "बुद्धिस्ट इंडिया", प्रो. धर्मानन्द कोसाम्बी की "दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन

आव एन्शियण्ट इंडिया एन हिस्टोरिकल आउट लाइन", प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय की "बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास", महामहिम पण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन जी की "बुद्धचर्या", प्रो. लालमणि जोशी की 'स्टडीज़ इन दि बुद्धिस्टिक कल्चर आव इंडिया' फिक रिचर्ड की 'दि सोशल आर्गेनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इंडिया', प्रो. मोहन लाल महतो की 'जातक कालीन भारतीय संस्कृति', डा. मनमोहन सिंह की 'बुद्धकालीन समाज एवं धर्म', श्री रतिलाल मेहता की 'प्री. बुद्धिस्ट इंडिया', प्रो. रामशरण शर्मा की 'प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं', डा. मार्कण्डेय शुक्ल की 'भारतीय औद्योगिक कलाओं एवं शिल्पों का अध्ययन', डा. कृष्णाकुमारी श्रीवास्तव की 'पालि जातक एक सांस्कृतिक अध्यन' एवं डा. प्रभा त्रिपाठी की 'प्राचीन पूर्वोत्तर भारत' इत्यादि हैं । इसके अतिरिक्त डा. कृष्णकान्त त्रिवेदी का शोध प्रबंध 'प्राचीन पालि साहित्य से ज्ञात संस्कृति का एक अध्ययन' को भी उपयोग में लाया गया है ।

प्रस्तुत शोध विषय के संदर्भ से सम्बन्धित भौगोलिक जानकारी के लिए डा. भरत सिंह उपाध्याय की 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', सर अलेक्जेण्डर कनिंघम द्वारा लिखित एवं डा. जगदीश चन्द्र द्वारा अनूदित 'प्राचीन भारत का भूगोल', डा. विमला चरण लाहा की 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल' एवं डा. नन्दलाल डे की 'ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आव एन्शियंट एण्ड मेडिवल इंडिया' का अनिवार्य रूप से अध्ययन किया गया है ।

'बुद्धकालीन भारत' से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों का उपयोग भी शोध विषय की पुष्टि हेतु किया गया है । इनमें प्रमुखतया उत्तरी कृष्ण मार्जित संस्कृति के दोनों चरणों से प्राप्त विभिन्न प्रकार की धातुमय वस्तुओं की जानकारी हेतु प्रो. पंचानन्द नियोगी की पुस्तक 'आयरन इन एन्शियंट इंडिया, प्रो. एन. आर. बनर्जी की 'दि आयरन एज इन इंडिया', प्रो. धर्मानन्द कोसाम्बी के लेख 'दि बिगिनिंग्स आव आयरन एज़ इन एन्शियंट इंडिया', प्रो. हेमचन्द्र भारद्वाज की "आस्पेक्ट्स आव अर्ली टेक्नोलाजी", एवं "प्रो. भानु प्रकाश के अप्रकाशित लेख "मेटल एण्ड मेटलर्जी" का अध्ययन किया गया है । इसके अतिरिक्त उ. कृ. मा. संस्कृतियों पर हाल ही में हुए शोध कार्य एवं उत्खनन कार्य के अन्तर्गत डा. विभा त्रिपाठी का अप्रकाशित शोध पत्र "आयरन वर्किंग इन एन्शियंट इंडिया विथ स्पेशल रेफरेन्स टू खैराडीह" एवं डा. जगदम्बा उपाध्याय का शोध प्रबन्ध "इम्प्लिमेण्ट्स अप टू सेकेण्ड सेन्चुरी बी. सी" से ज्ञात धातु विषयक विवरणों का उल्लेख भी किया गया है ।

पालि ग्रन्थों के तिथिक्रम की विवेचना हेतु प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय की "बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास" एवं "स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म",

डा. भरत सिंह उपाध्याय की "पालि-साहित्य का इतिहास", एम. विन्टरनित्स की 'हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर" एवं डा. विमला चरण लाही की "पालि लिटरेचर एण्ड लैंगवेज" का अध्ययन किया गया है ।

उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त विवाद ग्रस्त पालि शब्दों की जानकारी हेतु कोश ग्रन्थों का भी आवश्यकतानुसार अध्ययन किया गया है । इनमें रीज़ डेविड्स की "पालि-इंगलिश डिक्शनरी", रेन हेराल्ड्स चाइल्डर्स की "डिक्शनरी आव पालि लैंग्वेज़" एवं डा. चंद्रिका सिंह उपासक की "डिक्शनरी आव बुद्धिस्टिक मोनास्टिक टर्म्स" इत्यादि ग्रन्थों का अध्ययन किया गया है ।

धातु-विषयक सन्दर्भों की अधिक तथ्यपरक पुष्टि हेतु समकालिक ब्राह्मण साहित्य यथा – पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी', कौटिल्य विरचित 'अर्थशास्त्र', विदेशी लेखकों की कृतियों हेतु डा. रमेशचन्द्र मजुमदार की 'क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया' तथा समकालिक पुरातात्विक साक्ष्यों के लिए कनिंघम की 'भरहुत स्तूप', सर जान मार्शल की 'दि मॉन्युमेण्ट्स आव सांची' एवं 'तक्षशिला एन इलस्ट्रेटेड अकाउण्ट्स आव आर्कियोलाजिकल एक्सकेवेशन्स' का भी अवलोकन किया गया । इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक कसौटी पर धातु खनिज विज्ञान संबंधी तथ्यों की पुष्टि हेतु डी. एन. वाडिया की 'ज्योलाजी ऑफ इंडिया', कृष्ण गोपाल व्यास की 'आर्थिक भू-विज्ञान', स्वामी प्रणवानन्द की 'कैलास मानसरोवर,' एवं टोनी हेगेन कृत 'जियोलाजी आव पोक्खरा वैली' इत्यादि ग्रन्थों का भी यथासम्भव प्रयोग किया गया है ।

पालि ग्रन्थों से ज्ञात विभिन्न धातुओं पर उपलब्ध सामग्री का संकलन करने के उपरान्त प्रयोग की दृष्टि से इसका वर्गीकरण समीचीन जान पड़ता है । किन्तु लगभग पांच सौ–छःसौ वर्षों का काल संस्कृति के विकास की दृष्टि से अपरिवर्तनीय नहीं रहा होगा (बौद्ध ग्रन्थ छठीं शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. के काल तक रचित माने जाते हैं) । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए उपरोक्त सामग्री को प्रथम एवं द्वितीय – इन दो कालों में विभाजित करके प्रस्तुत किया गया है ताकि विभिन्न धातुओं में होने वाले गुणात्मक परिवर्तनों को अधिक कुशलता पूर्वक दिखलाया जा सके । प्रथम काल छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में तथा द्वितीय काल चतुर्थ शता. ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक के काल में विभाजित किया गया है । इस दीर्घ अवधि में सुवर्ण, रजत, लौह, ताम्र, कांस्य एवं अन्य कम महत्व की धातुएँ सीसा, रांगा, जस्ता एवं पीतल पर भी यथासम्भव उपलब्ध सामग्री का अध्ययन करने की चेष्टा की गयी है । इन धातुओं का मोटे तौर पर प्रयोग की दृष्टि से सामरिक महत्त्व के रक्षा उपकरणों, अलंकरण की

वस्तुओं, धनराशि, दैनिक जीवन में प्रयुक्त गृहस्थोपयोगी सामग्री, कृषि कार्य में प्रयुक्त उपकरणों एवं स्थापत्य आदि में वर्गीकृत करके अध्ययन किया गया है । सामग्री के संकलन एवं विवेच्य काल के अन्त में उनके तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् धातु प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोतों एवं धातु तकनीकी ज्ञान पर प्रमुख रूप से प्रकाश डाला गया है ।

पालि ग्रन्थों में विशद् रूप से ज्ञात धातु विषयक संदर्भों को छः अध्यायों में वर्गीकृत करते हुए प्रस्तुत किया गया है । अध्याय प्रथम में "प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थ का परिचय एवं तिथिक्रम की विवेचना" प्रस्तुत की गयी है । साथ ही शोध विषय (धातु एवं धातु-कर्म) की दृष्टि से भी ग्रन्थों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । लगभग छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक विरचित प्राचीन पालि ग्रन्थों के अन्तर्गत त्रिपिटक एवं अनुपिटक साहित्य मिलिन्दप्रश्न का अध्ययन किया गया है ।

अध्याय द्वितीय में 'सुवर्ण धातु' की विवेचना प्रस्तुत की गयी है । इसके अंतर्गत सर्वप्रथम सुवर्णधातु का विभिन्न वस्तुओं में योगदान, वस्तुओं की तत्पश्चात् दोनों कालो में वर्गीकृत सुवर्णमय वस्तुओं की उपयोगिता, कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में इन वस्तुओं के प्रयोगात्मक स्वरूप क्रमशः परिवर्धित स्वरूपों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए अंत में धातु प्राप्ति के प्राकृतिक संसाधनों एवं तकनीकी ज्ञान पर उपलब्ध सामग्री को विश्लेषित करने आधुनिक सुवर्ण तकनीकों से उनका तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

अध्याय तीन में 'रजत धातु' एवं अध्याय चार में 'लौह धातु' का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । प्रस्तुतीकरण की शैली प्रायः सुवर्ण धातु के ही समान है ।

अध्याय 5 के अन्तर्गत अन्य धातुएँ यथा–ताम्र, कांस्य, सीसा,. रांगा, जस्ता एवं पीतल के क्रमशः विवरणों को प्रस्तुत किया गया है ।

अध्याय 6 को उपसंहार के रूप में लिया गया है । इसके अन्तर्गत धातु एवं धातुकर्म संबंधी संदर्भों के अन्तर्गत वर्णित तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक स्थितियों की समीक्षा करते हुए अन्त में शोध अध्ययन के माध्यम से प्राप्त उन प्रमुख बिन्दुओं को सारांश में प्रस्तुत किया गया हैं ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रंथ जो छठी-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से प्रथम सदी ई. पू. के काल तक धातु विज्ञान के क्षेत्र में हो रहे निरंतर विकास की परंपरा को को बनाए रखे हैं, वस्तुतः परवर्ती काल में इनपर लिखित व्याख्या साहित्य इस निरंतरता को अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक अर्थों में गतिशीलता प्रदान करने में सहायक हो

सकते हैं । इस प्रकार की संभावना को देखते हुए मैं धातु विज्ञान की अन्य विकसित हो रही प्रक्रियाओं के बारे में विस्तृत जानकारी हेतु प्राचीन परवर्ती व्याख्या साहित्य (अट्ठकथाओं, पुराणों एवं प्राकृत साहित्य) पर शोध कार्य (डी. लिट्) कर रही हूँ । पूजनीय प्रो. गोविन्द चन्द्र पांडेय के पूर्वोक्त आशीर्वचनों से मेरा इस शोधकार्य (डी. लिट्) के प्रति उत्साह द्विगुणित हुआ है ।

मेरे शोधग्रंथ के विषय में प्रो. गोविन्द चन्द्र पांडेय द्वारा कहे गये पूर्वोक्त आशीर्वचनों से मुझे गर्व एवं हर्ष का अनुभव हो रहा है इसके लिए मैं बौद्ध धर्म दर्शन के प्रकांड विद्वान् पूजनीय प्रो. गोविन्द चन्द्र पांडेय की सदैव ऋणी रहूँगी ।

आभार

मैं भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद, नई दिल्ली के प्रति हार्दिक रूप से आभार व्यक्त करती हूं जिनके द्वारा मुझे इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु दस हजार रु. का अनुदान दिया गया । मैं परिषद् की अनुगृहीत हूं ।

प्रस्तुत शोध कृति को पूर्ण करने हेतु सर्वप्रथम मैं अपनी निर्देशिका डा. विभा त्रिपाठी, प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रति आभार व्यक्त करती हूं जिनके कुशल निर्देशन में रहकर मैंने अपने **शोध कार्य** को सुचारु रूप से पूर्ण किया ।

मैं प्रो. जगदीश नारायण तिवारी, पूर्व विभागाध्यक्ष प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूं जिन्होंने अपने बहुमूल्य सुझावों से मेरे शोध ग्रन्थ को समृद्धता प्रदान की । मेरे शोध विषय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्यों में सहयोग प्रदान करने के लिए मैं प्रो. अवध किशोर नारायण, भू. पू. विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, प्रो.पुरुषोत्तम सिंह, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का. हि. वि. वि., लल्लन जी गोपाल, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का. हि. वि. वि., प्रो. विनोद चन्द्र माणिक चन्द्र श्रीवास्तव, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग का.हि. वि. वि., प्रो. पूरन चंद पन्त, वर्तमान विभागाध्यक्ष, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का. हि. वि. वि., प्रो. पृथ्वीकुमार अग्रवाल, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का.हि.वि.वि., के प्रति अनुगृहीत हूं ।

बौद्ध पालि ग्रन्थ के अध्ययन में पूर्ण सहयोग प्रदान करने हेतु मैं पूजनीय प्रोफेसर ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, वर्तमान विभागाध्यक्ष, पालि विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की ऋणी रहूंगी । प्रस्तुत ग्रन्थ में धातु विज्ञान सम्बन्धी विषयों की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करने में प्रो भानु प्रकाश, धातुकीय विभाग, का. हि. वि. वि., के प्रति आभार व्यक्त करती हूं ।

मैं अपने अग्रज भ्राता श्री अभय कुमार श्रीवास्तव एवं परिवार के अन्य सदस्यगण के प्रति आभार व्यक्त करती हूं जिनका हार्दिक समर्थन मेरे शोध ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान करने में सहायक रहा है । प्रस्तुत शोध ग्रन्थ को अपने सुझाव से

समृद्ध बनाने के लिए मैं अपने मित्रों एवं शुभेच्छुओं श्रीमती रीता गुप्ता, श्रीमती नुजहत सिद्दिकी की विशेष आभारी हूं ।

प्रस्तुत शोध कृति को समग्रता प्रदान करने हेतु महत्वपूर्ण ग्रन्थों को उपलब्ध कराने एवं अध्ययन की पूर्ण सुविधा प्रदान करने के लिए मैं केन्द्रीय ग्रन्थालय, उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, केन्द्रीय ग्रन्थालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, केन्द्रीय ग्रन्थालय, का. हि. वि. वि., अमेरिकन इन्स्टीट्यूट,. रामनगर, वाराणसी एवं विभागीय पुस्तकालय, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का. हि. वि. वि., के पुस्तकालयाध्यक्षों एवं समस्त कर्मचारियों के प्रति विशेष आभारी हूं । मैं भारतीय मुद्रा परिषद, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. विभाग, का.हि. वि.वि. के समस्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती हूं जिन्होंने शोधकार्य हेतु दुर्लभ ग्रन्थों के अध्ययन की सुविधा प्रदान की ।

प्रस्तुत कृति मूलतः का. हि. वि. वि. की पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत की गयी थी । इसे प्रकाशित करने की अनुमति विश्वविद्यालय द्वारा दी गयी है जिसके लिए मैं पूर्ण आभार व्यक्त करती हूँ । मैं श्री विपुल पंड्या, व्यवस्थापक, रत्नाप्रेस, कमच्छा, वाराणसी को विशेष रूप से धन्यवाद देती हूं जिन्होंने अल्पावधि में इस पुस्तक का मुद्रण कार्य सम्पन्न करके मुझे कृतज्ञ किया ।

प्रस्तुत कृति में त्रुटि सम्भाव्य है जिसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं ।

श्रावण मास, 1997

डा. प्रिया श्रीवास्तव
एस. 21/112 बी,
इंगलिशिया लाइन, वाराणसी ।

विषय–सूची

अध्याय :	विवरणः			पृष्ठ-संख्या
:	प्राक्कथन	....	....	7
:	भूमिका	....	....	9-14
:	आभार	....	....	15-16
:	विषय-सूची	....	....	17-19
:	संकेत चिन्ह	....	....	
अध्याय-1 :	**ग्रन्थ परिचय एवं तिथिक्रमः:**		....	1-25
	पालि ग्रन्थों का वर्गीकरण, उनकी मूल विषयवस्तु, तिथिक्रम की विवेचना एवं ग्रन्थों का दो कालों में विभाजन.			
अध्याय-2 :	**सुवर्ण धातु ::**	....	....	27-128
	विभिन्न रूपों में सुवर्ण धातु के उपयोग, सुवर्णमय वस्तुओं का वर्गीकरण, वर्गीकृत वस्तुओं का क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय काल में अध्ययन, विवेच्य युग के अन्त में तुलनात्मक विवेचन, वस्तुओं की तालिका, सुवर्ण प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक संसाधन, सुवर्ण धातु कर्म संबंधी प्रक्रियाएं एवं सुवर्णमय वस्तुओं की आलोचना.			
अध्याय-3 :	**रजत धातु ::**	....	....	129-162
	विभिन्न प्रकार से रजत धातु का वस्तुनिर्माण में योगदान, रजतमय वस्तुओं का वर्गीकरण, दोनों कालों में उनकी उपयोगिता, कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में तुलनामक अध्ययन, रजतमय वस्तुओं की तालिका, रजत प्राप्ति के प्राकृतिक स्रोत एवं रजत धातु कर्म.			

अध्याय :	विवरण:	पृष्ठ-संख्या
अध्याय-4 :	**लौह धातु ::**	163-220
	लौह सूचक शब्दों की विवेचना, लौह प्रकार, सामान्य एवं उत्कृष्ट कोटि के लौह का वस्तुनिर्माण में योगदान, सामान्य जीवन एवं राजकीय महत्व के रूप में प्रचलित लौहमय वस्तुओं का वर्गीकरण, दोनों कालों में लौहमय वस्तुओं की उपयोगिता, इनके क्रमशः बढ़ते प्रचलन एवं परिवर्द्धन, कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक विवेचन, धातु-प्राप्ति के स्रोत, धातुकर्म के रूप में प्रसिद्ध व्यावसायिक केन्द्र, लौह धातु कर्म, लौहमयी वस्तुओं की तालिका एवं विवेचन.	
अध्याय-5 :	**अन्य धातुएं ::**	221-263
	ताम्र, कांस्य, सीसा, रांगा, जस्ता एवं पीतल का क्रमशः विवरण, ताम्र सूचक शब्दों का विश्लेषण, ताम्र धातु के मूल उपयोग, ताम्रमयी वस्तुओं का वर्गीकरण, विवेच्य युग में उन वस्तुओं की उपयोगिता, एवं परिवर्द्धन के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन, धातु प्राप्ति के प्राकृतिक स्रोत, धातु कर्म, एवं ताम्रमयी वस्तुओं की तालिका, कांस्य धातु का निर्माण, वस्तु निर्माण में कांस्य का उपयोग, विवेच्य युग में कांस्यमयी वस्तुओं का प्रचलन, उनका तुलनात्मक अध्ययन, कांस्य उद्योग केन्द्र, एवं कांस्यमय वस्तुओं की तालिका, सीसा धातु का उपयोग, सीसामय वस्तुओं का विवरण, सीसा धातु प्राप्ति के उपयोग एवं धातु कर्म, यशद (जस्ता) धातु का उपयोग, वस्तु निर्माण में जस्ते का योगदान, एवं मिश्र धातु तैयार करने में जस्ते का प्रयोग, पीतल धातु से सम्बद्ध व्यवसायिक श्रेणी, धातुमय वस्तुओं का विश्लेषण.	

अध्याय :	विवरण:	पृष्ठ-संख्या
अध्याय-6 :	**उपसंहार ::**	
	धातु विषयक सन्दर्भों के आधार पर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक स्थितियों की समीक्षा एवं शोध विषय के प्रमुख तथ्यों का सारांश रूप.	
:	ग्रन्थ सूची	
:	चित्र सूची	
	1. प्लेट– , चित्र संख्यां 1 से 8 तक (भरहुत स्तूप से लिया लिया गया छायाचित्र फ़लक सं., चित्र सं. 1 से 8 तक) चित्र सं. - 9 (मार्शल, तक्षशिला, खण्ड-3, प्लेट-192, चित्र नं. 68)	
	2. प्लेट– , चित्र सं.-1,2,3 (तक्षशिला खण्ड-3, प्लेट-192, चित्र नं. 54, 55, 62)	
	3. प्लेट– , चित्र सं. 1,2 (तक्षशिला खण्ड-3 प्लेट नं.-192, चित्र नं. 56, 57) चित्र सं. - 3 (मार्शल, जान दि मान्युमेंट्स ऑफ साची, प्लेट–33)	
	4. प्लेट– , चित्र सं. 1 एवं 3 (भरहुत स्तूप से प्राप्त, फलक-50 चित्र सं. 9 एवं फलक-55, चित्र सं. 3 जेतवन दृश्य) चित्र सं.-2 (दि मान्युमेंट्स ऑफ सांची से प्राप्त, प्लेट-36)	
	5. प्लेट– , मानचित्र –कैलास-मानस रोवर ग्रंथ से लिया गया मनचित्र विकास भारती कार्यक्रम के अंतर्गत प्राप्त चित्र	
	6. प्लेट– , अंगारिया जनजाति द्वारा लौह कर्म में प्रयुक्त भाथी	

संकेत—चिन्ह

आ० स० आ० इंडिया	:	आर्कियोलाजिकल सर्वे आव इंडिया.
उ० कृ० मा० सं०	:	उत्तरी कृष्ण मार्जित संस्कृति
ए. न. मौ.	:	एज़ आव नन्दाज़ एण्ड मौर्याज़.
अं० नि०	:	अंगुत्तरनिकाय.
खु० नि०	:	खुद्दकनिकाय.
तृ० अधि०	:	तृतीय अधिकरण.
दी० नि०	:	दीघनिकाय.
प्र० भा०	:	प्रथम भाग.
प्रा० भा० में भौ० प्र० एवं सा० सं०	:	प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं.
पी० टी० एस०	:	पालि टैक्ट्स सोसाइटी.
बी० एम० टी०	:	बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स.
म० नि०	:	मज्झिमनिकाय.
विनय०	:	विनयपिटक.
हि० अनु०	:	हिन्दी अनुवाद
सं० नि०	:	संयुक्तनिकाय.
श० ब्रा०	:	शतपथ ब्राह्मण

प्रथम अध्याय

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का परिचय एवं तिथिक्रम

ग्रंथ परिचय एवं तिथिक्रम

प्रस्तुत अध्याय में प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों का वर्गीकरण, उनकी मूल विषयवस्तु एवं तिथिक्रम की विवेचना की गयी है । प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों के अन्तर्गत छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. तक के पालिग्रन्थों को लिया गया है । बौद्ध थेरवादी मतावलम्बियों के अनुसार प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों के अन्तर्गत त्रिपिटक का स्थान सर्वप्रथम है । उसी के अनुकरण पर बाद के काल में मिलिन्दप्रश्न की रचना की गई जिसे अनुपिटक साहित्य के अन्तर्गत गृहीत किया गया । बौद्ध पालि ग्रन्थ त्रिपिटक एवं मिलिन्दप्रश्न उपरोक्त रचनाकाल के अन्तर्गत आते हैं । अतः इनसे प्राप्त मूल विषयवस्तु, शोध विषय की दृष्टि से इनके महत्व एवं कालक्रम का अध्ययन किया गया है ।

बौद्ध पालि ग्रन्थ मुख्यतः बौद्ध धर्म के व्यवहारिक एवं आध्यात्मिक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं । किन्तु मूल विषयवस्तु के साथ-साथ ये ग्रन्थ तत्कालीन घटनाक्रमों तथा विभिन्न धातुओं के उपयोग एवं तकनीकी ज्ञान को भी वृहद् रूप से समेटे हुए हैं । पालि त्रिपिटक लगभग ३०० वर्षों के पूर्वोत्तर भारत की भौतिक संस्कृति तथा इनमें धातुओं के योगदान का उल्लेख करते हैं वहीं मिलिन्दप्रश्न द्वितीय–प्रथम शताब्दी ई. पू. के काल में उत्तर एवं उत्तर-पश्चिमी भारत की घटनाक्रमों तथा धातुओं के प्रसार का प्रसंगशात् उल्लेख करते हैं । इस दृष्टि से ग्रन्थों के विभाजन एवं विषयवस्तु के साथ-साथ सर्वप्रथम शोध विषय की दृष्टि से भी ग्रन्थों का परिचय दिया गया है ।

त्रिपिटक :

लगभग छठी-पांचवीं शताब्दी ई. पू. के काल में भारत-भूमि में एक ऐसे महान विभूति का लोकार्पण होता है जिसने अपने मानवतावादी सरल एवं सहज ग्राह्य संदेशों से प्राणिमात्र में नवीन चेतना को जगाया । ये महापुरुष थे भगवान बुद्ध, जिन्होंने रूढ़िगत जटिलताओं से परे जन्म के ऊपर कर्म की श्रेष्ठता स्थापित करते हुए न केवल अपने नैतिकतावादी विचारों से लोगों में नवीन चेतना एवं गतिशीलता का संचार किया, अपितु तत्कालीन समाज के आधारभूत ढांचे को विकास की एक नवीन दिशा भी प्रदान की । इसी महापुरुष के प्रेरणादायी उपदेशों का वाहक प्राचीन बौद्ध-पालि ग्रन्थ त्रिपिटक है ।

'पिटक' से तात्पर्य 'पिटारी' अथवा 'टोकरी' से है ।[1] इसमें बुद्ध वचनों तथा उसके अनुयायियों द्वारा अनुमोदित वचनों का संग्रह किया गया है । इन वचनों का उल्लेख तीन स्वतंत्र पिटकों में हुआ है अतः ये 'त्रिपिटक' कहे गए । ये तीन पिटक हैं 'सुत्तपिटक', 'विनय पिटक' एवं 'अभिधम्मपिटक' । अट्ठकथा में पिटक साहित्य को बुद्ध वचनों का भाजनस्वरूप कहा गया है तथा उनकी परियत्ति या परम्परा को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने वाले भी ।[2] इस प्रकार पिटक साहित्य से तात्पर्य बुद्ध वचनों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने के अर्थ में हुआ है ।[3]

सम्पूर्ण पिटक साहित्य अपने विभागों एवं उपविभागों में विशाल ग्रन्थों का समूह है जिनका मोटे तौर पर वर्गीकरण इस प्रकार किया है ।

(1) सुत्तपिटक :

सुत्तपिटक पांच निकायों में विभक्त है । यथा दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं खुद्दक निकाय । खुदकनिकाय स्वयं पन्द्रह स्वतंत्र ग्रन्थों का विशाल समूह है । ये ग्रन्थ हैं, खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिउत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु-पेतवत्थु, थेरगाथा-थेरीगाथा, जातक, निद्देस (महानिद्देस एवं चुल्लनिद्देस), पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस एवं चरियापिटक । दसवां ग्रन्थं जातक सबसे विशाल है ।

(2) विनयपिटक :

विनयपिटक मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है जिसके कुल 5 उपविभाग हैं । यथा-सुत्तविभंग (पाराजिक व पाचित्तिय), खन्धक, (महावग्ग व चुल्लवग्ग) तथा परिवार-पाठ ।

(3) अभिधम्मपिटक :

इसके अन्तर्गत सात स्वतत्र ग्रन्थों को रखा गया है । यथा–धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञति, कथावत्थु, यमक व पट्ठान ।

उपरोक्त तीनों पिटकों की विषयवस्तु का क्रमशः उल्लेख किया गया है ।

सुत्तपिटक :

लगभग पांचवीं शताब्दी ई. पू. के प्रारम्भिक चरणों में राजगृह के सप्तपर्णी गुहा में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया, जिसमें बुद्ध धम्म एवं विनय का

---

1 सांकृत्यायन, राहुलः मज्झिम निकाय, 'अनुरुद्धसुत्त', 'सन्दक सुत्त' द्वितीय संस्करण, पृ. 399.

2. बापट. वी. पी. एवं वाडेकर द्वारा संपादित, अट्ठसालिनी, पृ. 18.

3. पांडेय, गोविन्दचंद : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 230.

संगायन किया गया ।[1] बुद्ध धम्म को थेरवादी भिक्षुओं द्वारा सुत्तपिटक के अन्तर्गत गृहीत किया गया । बुद्ध के धर्म को यथातथ्य प्रस्तुत करना ही सुत्तपिटक का प्रतिपाद्य विषयवस्तु है । पालि सुत्तों के प्रारंभ में 'एवं सुत्त' अर्थात् 'ऐसा सुना गया' उल्लिखित होने से 'श्रुत' के अर्थ में भी 'सुत्त' शब्द प्रयुक्त हुआ है ।[2] संस्कृत बौद्धपरम्परा के आचार्य असंग ने 'महायान-सूत्रालंकार' में 'सूचनात-सूत्रम्' अर्थात् 'सूचना देने वाले सूत्र' के रूप में सूत्र शब्द की व्युत्पत्ति दी है ।[3] अट्ठकथा में बुद्धघोष ने सूचना देने के अर्थ में ही 'सुत्त' का अर्थ ग्रहण किया है ।[4] 'सुत्त' का अर्थ है 'धागा' तथा 'पिटक' यानि 'परंपरा' । जिस प्रकार सूत का गोला फेंक देने से वह खुलता चला जाता है उसी प्रकार बुद्धवचन सुत्तपिटक में प्रकाशित होते हैं । अतः लाक्षणिक अर्थों में उसकी 'सुत्तपिटक' संज्ञा सार्थक है ।[5]

सुत्तपिटक पांच निकायों में विभक्त है । बुद्धत्व प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण के काल तक भगवान बुद्ध एवं उनके अनुयायियों के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ उनके बीच घटित घटनाक्रम एवं तात्कालिक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों का बृहद् निरूपण इन निकायों में प्राप्त होता है । बी. एस. आप्टे महोदय ने 'निकाय' से तात्पर्य ढेर, समूह एवं संग्रह के अर्थ में ग्रहण किया है ।[6] इन निकायों का विभाजन सुत्तों के विषय के आधार पर नहीं अपितु उनके आकार-प्रकार के आधार पर किया गया है । यथा दीर्घ आकार के सुत्तों को दीघनिकाय में, मज्झिम आकार के सुत्तों को मज्झिमनिकाय में, छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह संयुत्तनिकाय में, अंकों की दृष्टि से किया गया सुत्तों का विभाजन अंगुत्तरनिकाय में एवं खुद्दक अर्थात् छोटे-छोटे स्वतंत्र ग्रन्थों को खुद्दकनिकाय में गृहीत किया गया । संक्षेप में पाँचों निकायों की विषयवस्तु का क्रमशः विवरण इस प्रकार है ।

दीघनिकाय :

इसके अन्तर्गत दीर्घ आकार के सुत्तों की नियोजना होने के कारण 'दीघनिकाय' नाम पड़ा ।[7] यह एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है जो तीन वर्गों व चौंतीस सुत्तों में

---

1. चुल्लवग्ग, विनयपिटक, एकादशकस्कंध, पृ. 411
2. सांकृत्यायन, राहुल : मज्झिमनिकाय, हि. अनु. पृ. 399.
3. जोशी, लालमणि द्वारा संपादित एवं अनूदित, वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र, भूमिका.
4. अट्ठसालिनी, निदानकथा, पृ. 230-31.
5. उपाध्याय, भरतसिंह, पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 136-39.
6. आप्टे, बी. एस. : 'संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी', पृ. 286.
7. भिक्षु काश्यप, जगदीश : दीघनिकाय, जिल्द- 1-3.

विभक्त है । प्रथम वर्ग में तेरह सुत्त एवं द्वितीय व तृतीय वर्ग में क्रमशः दस-दस की संख्या में सुत्त विभक्त हैं । ये वर्ग हैं, सीलस्कंधवग्ग, महावग्ग एवं पाथिकवग्ग । 'सीलस्कंधवग्ग' के तेरह सुत्त गद्य में है केवल कुछ सुत्त गाथाएं पंक्तियों में निबद्ध हैं जिसमें शील, समाधि एवं प्रज्ञा से संबंधित बुद्धोपदेश के साथ-साथ बुद्ध द्वारा प्रथम बार सारनाथ में धर्मचक्रप्रवर्तन, मगध नरेश अजातशत्रु का बुद्ध के साथ संलाप करने जैसे ऐतिहासिक विषयवस्तु के साथ-साथ जातिवाद, कर्मकाण्ड, इत्यादि का खंडन भी किया गया है ।[1] 'महावग्ग' के अन्तर्गत दस सुत्त जिनका प्रारम्भ 'महा' शब्द से होता है । इसमें बौद्ध धर्म दर्शन अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद एवं अनात्मवाद जैसे विषयों के साथ-साथ बुद्ध के महापरिनिर्वाण एवं जम्बूद्वीप को सात भागों में विभक्त किये जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं । तीसरे अर्थात् 'पाथिकवग्ग' के प्रत्येक दस सुत्तों की विषयवस्तु के अन्तर्गत पूजा-पाखंड, ग्राहथ्य बौद्धधर्म, वर्णव्यवस्था एवं जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ के निर्वाण संबंधी ऐतिहासिक विषय पर उल्लेख प्राप्त होते हैं । 'धातु एवं धातुकर्म' संबंधी शोध विषय की दृष्टि से ये निकाय महत्वपूर्ण हैं । इसमें विभिन्न धातुओं से निर्मित वस्तुओं यथा सुवर्णमूर्ति, स्वर्णिम चादर, लौह निर्मित तौल उपकरणों एवं कांस्य पात्रों के साथ-साथ सुवर्ण धातुकर्म के अन्तर्गत शुद्ध बनाये जाने तथा शुद्ध लौह पिण्ड तैयार करने जैसे विषयों का विवरण भी प्राप्त होता है ।

मज्झिमनिकाय :

बुद्ध वचनों की दृष्टि से इस निकाय का अत्यन्त महत्व है । पं. राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'बुद्ध वचनामृत' की संज्ञा दी है ।[2] ये निकाय बौद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष का विशद् विवरण प्रस्तुत करता है । मोटे तौर पर मज्झिम निकाय तीन विभागों, पन्द्रह वर्गों तथा एक सौ बावन सुत्तों में विभक्त है । ये तीन विभाग क्रमशः पांच-पांच की संख्या में तथा पचास-पचास एवं बावन सुत्तों में वर्गीकृत हैं । ये वर्ग हैं 'मूलपण्णासकं', 'मज्झिमपण्णासकं', एवं 'उपरिपण्णासकं' । ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के अभिनिष्क्रमण की घटना, संबोधिप्राप्ति एवं प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन, प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक के साथ बुद्ध का संलाप तथा राहुल को उपदेश दिया जाना इत्यादि विषयों का वर्णन प्राप्त होता है ।[3] शोध विषय की दृष्टि से मज्झिमनिकाय में सुवर्ण धातु-कर्म अर्थात् अच्छी प्रकार से सुवर्ण को तपाने एवं रखरखाव, विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों विशेषकर दैनिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले पात्र एवं अस्त्र-शस्त्र संबंधी उल्लेखों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है ।

---

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 144.
2. सांकृत्यायन राहुल : मज्झिमनिकाय, भूमिका.
3. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 168-201.

संयुक्तनिकाय :

छोटे-बड़े सभी प्रकार के आकार के सुत्तों के संग्रह के कारण इसे 'मिश्रित' या 'संयुक्तनिकाय' कहा गया है । अधिकांशतः छोटे आकार के ही सुत्त हैं । संयुक्तनिकाय पांच वर्गों एवं छप्पन सुत्तों में विभक्त हैं जिनमें अधिकांशतः गद्यात्मक बुद्ध वचन है । ये वर्ग हैं सगाथावर्ग (10 संयुत्त), निदानवर्ग (10 सुत्त), खन्धकवर्ग (13 संयुत्त), षडायतनवर्ग (10 संयुत्त) एवं महावग्ग (10 संयुत्त) । इनमें प्रतिपाद्य विषयवस्तु के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद, स्कंधों का उल्लेख, 6 आयतन एवं अष्टांगिक मार्ग के निरूपण के साथ-साथ ऐतिहासिक विषयवस्तु के रूप में कोसल नरेश प्रसेनजित द्वारा बुद्ध धर्म को स्वीकार करना, धर्मचक्रप्रवर्तन, मारविजय, चक्रवर्ती राजाओं के लक्षण तथा राहुल को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । शोध विषय की दृष्टि से सुवर्ण के शोधन प्रक्रिया, मिश्रित सुवर्ण को तैयार किये जाने, सुवर्ण धनराशि (चूर्ण एवं मुद्रा) को दानादि में देने, कांस्य थाली एवं विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों को तपाए जाने संबंधी धातुकर्म के विस्तृत उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

अंगुत्तरनिकाय :

सुत्तपिटक का सबसे विस्तृतभाग अंगुत्तरनिकाय है । अंकों की दृष्टि से समस्त विषयवस्तु का विभाजन किया गया है जो संख्याबद्ध शैली में निबद्ध है । संपूर्ण निकाय 11 निपातों व 169 वर्गों में विभक्त है । चारों खंडों में प्राप्त अंगुत्तरनिकाय का प्रत्येक खंड क्रमशः 3,2,3 व 3 निपातों में विभक्त है जिनमें क्रमशः 48, 52, 30 व 34 वर्ग हैं । प्रत्येक वर्ग में कम से कम 7 व अधिक से अधिक 262 सुत्त हैं । कुल सुत्तों की संख्या 2308 है । ये निपात संख्याबद्ध रूप में इस प्रकार विभक्त हैं । एककनिपात (एक विषय पर चर्चा, 21 वर्ग), दुक्कनिपात (दो विषय पर चर्चा, 16 वर्ग), इसी प्रकार तिक्कनिपात (16 वर्ग), चतुक्क-पंचक-निपात (क्रमशः 261 26 वर्ग, द्वितीय खंड) छत्तक-सत्तक-अट्टकनिपात (क्रमशः 12, 9, 9 वर्ग, तृतीय खंड) तथा नवक-दसक-एकादसकनिपात (क्रमशः 9, 22, 3 वर्ग, चतुर्थ खंड) संख्याबद्ध तरीके से बौद्ध धर्म संवंधी प्रश्नोत्तर का विवरण दिया गया है । भौगोलिक दृष्टि से षोडश महाजनपद का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] शोध-विषय की दृष्टि से अंगुत्तरनिकाय सुवर्ण धातु-कर्म के विकसित प्रक्रियाओं का उल्लेख करता है जिसमें सुवर्ण के प्रगलन प्रक्रिया, शुद्धिकरण, सामग्री निर्माण से पूर्व सुवर्ण को तैयार करने,

1 पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 201-220.

रख-रखाव संवंधी निर्देश, खरे सोनेकी परख करने एवं मिश्रित सुवर्ण तैयार करने संबंधी उल्लेखों की विस्तृत व्याख्या बौद्ध धर्मदर्शन को स्पष्ट करने के लिए उपमा एवं उपमेय के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है । इसके अतिरिक्त स्वर्णमय वस्तुओं, लौह स्थापत्य एवं उपकरणों तथा कांस्य धातु संबंधी विवरणों का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

खुद्दकनिकाय :

'क्षुद्रक' यानि छोटे-छोटे ग्रन्थों में विभक्त खुद्दक निकाय 15 ग्रन्थों में कुछ विशुद्ध रूप से पद्यात्मक शैली में व कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचना है । आकार की दृष्टि से 10वां ग्रन्थ 'जातक' विशाल ग्रन्थ की कोटि में आता है । इसनिकाय में काव्य, आख्यान एवं गीत प्रतिपाद्य विषयवस्तु है । 15 ग्रंथों की विषयवस्तु का संक्षिप्तिकरण इस प्रकार है ।

'खुद्दकपाठ' छोटे-छोटे नौ पादों का संग्रह है । सभी पाठ विशेषतः सुत्त एवं विनय में संगृहीत हैं । मुख्य विषयवस्तु बौद्धधर्म की व्यावहारिक शिक्षा है । 'धम्मपद' में धर्म संबंधी पद या शब्द की व्याख्या है । धर्म या पद बुद्ध के काल में उनके उपदेशों द्वारा गाथामय ढंग से सुनाए जाते थे । बुद्धोपदेश का सबसे अच्छा संग्रह इन्हीं पदों में माना गया है । इसमें कुल 423 गाथाएं एवं 26 वर्ग हैं । जिसमें आत्मोन्नति का मार्ग, क्रोध पर अक्रोध की विजय, अहिंसा पर बल, तृष्णा का नाश तथा ब्राह्मणों के लक्षण इत्यादि व्यवहारिक ज्ञान पर बल दिया गया है । धातु-विषयक विवरणों में स्वर्णनिष्क एवं लोहे के गोले को तपाए जाने के विवरण प्राप्त होते हैं । 'उदानपालि' में भगवान बुद्ध द्वारा उच्चरित वचन गाथाओं में वर्णित है । ये गाथाएं जिन अवसरों पर कहे गए उन अवसरों का वर्णन गद्य में है । 'भावातिरेक से कभी-कभी संतों के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीतिवाक्य ही उदान हैं ।' इसमें कुल आठ पर्व तथा प्रत्येक वर्ग में 10-10 की संख्या में सुत्त मुख्य विषयवस्तु सम्बोधि प्राप्ति के बाद विमुक्ति सुख, अर्हत्व प्राप्ति एवं चचेरे भाई (बुद्ध के) नन्द का बौद्ध धर्म में दीक्षित होना है । धातु विषयक वर्णनों में कर्मकार द्वारा प्रयुक्त हथौड़ी एवं धातु को पीटने का उल्लेख प्राप्त होता है । 'इतिउत्तक' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है । 'भगवान ने ऐसा कहा' को 'इतिउत्तक' का नाम दिया गया । इसके 112 सुत्त चार बड़े वर्गों में संख्याबद्ध ढंग से निबद्ध हैं । मुख्यतः बुद्ध वचनों का प्रवचन इसका सार है । 'सुत्तनिपात' निपातों में निबद्ध इस ग्रन्थ में मुख्यतः बौद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष को प्रस्तुत किया गया है । धातु विषयक विवरणों में लौह निर्मित कृषि के उपकरण तथा अस्त्र-शस्त्र यथा - बर्छी, कूट एवं शूल के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

खुद्दकनिकाय के परवर्ती ग्रन्थों में विमानवत्थु-पेतवत्थु का स्थान सर्वप्रथम माना जाता है । विमानवत्थु में देवताओं के निवास स्थानों अथवा विमानों का वर्णन प्राप्त होता है । समस्त विषयवस्तु सात वर्गों में विभक्त है जिसमें देवताओं की कहानियों के माध्यम से शुभ-अशुभ कर्मफलों की अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है । इसके अन्तर्गत धातुविषयक विवरणों में भव्य सुवर्णमय देवविमानों की परिकल्पना प्राप्त होती है । 'पेतवत्थु' में प्रेतों की कहानियों द्वारा अशुभ कर्मों के विपाक की व्याख्या की गयी है । इसमें कुल चार वर्ग तथा पचास (50) सुत्त हैं । ऐतिहासिक विषय के अन्तर्गत अंग-मगध देशों के व्यापारी की सिन्धु-सौवीर यात्रा का उल्लेख प्राप्त होता है । यत्र-तत्र सुवर्णधातु निर्मित वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । 'थेरगाथा-थेरीगाथा' खुद्दक निकाय के परवर्ती ग्रन्थों में महत्वपूर्ण माने जाते हैं । विशेषकर बौद्ध थेर एवं थेरी के जीवनवृत्तों के संदर्भ में इनमें क्रमशः भिक्षुओं (थेर) एवं भिक्षुणियों (थेरियों) के पूर्वजीवन के संस्मरणों का काव्यात्मक चित्रण प्राप्त होता है । थेरीगाथा में वैशाली की प्रख्यात नगरवधु आम्रपाली के विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों से अलंकृत होने के संदर्भ में धातु के उल्लेख प्राप्त होते है ।

'जातक' खुद्दक निकाय का दसवां एवं सबसे विशाल ग्रन्थ है । 'जात' अथवा 'जन्म लेना' या 'उत्पन्न होना' तथा 'क' से तात्पर्य कथाओं से है । बुद्ध के पूर्वजन्म संबंधी कथाओं एंव घटनाओं का विस्तृत उल्लेख जातकों में प्राप्त होता है । विशालता की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ में 547 जातक कथाएं हैं । प्रत्येक जातक कथा 5 भागों में विभक्त है, यथा- 'पच्चुत्पन्नवत्थु' अर्थात् बुद्ध के जीवन काल से संबंधित घटनाएं, 'अतीतवत्थु' अर्थात् वर्तमान की घटना जिसका कारण पूर्व जन्म की घटना कहा गया है, 'गाथा' अर्थात् गाथामय वृत्तान्त, 'वैयूयाकरण' या 'अत्थवण्णना' अर्थात् गाथाओं की व्याख्या या शब्दार्थ एवं 'समोधान' अर्थात् अतीतवत्थु के पात्र का वर्तमान पात्र के साथ संबंधों का उल्लेख किया गया है । सम्पूर्ण जातक एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है जो 22 निपातों में विभक्त है । बुद्धकालीन भौतिक संस्कृति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ जातक ही कहा जाता है जिसमें प्रत्येक वर्ग के जीवन का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है । धातु विषयक विवरण में जातकों का महत्वपूर्ण स्थान है विशेषकर सुवर्ण एवं लौह धातु के विभिन्न प्रकारों, उनके प्रचलन एवं महत्व का विशद् निरूपण इसमें प्राप्त होता है । इनमें कुछ प्रमुख विवरण जो ज्ञात होते हैं वो हैं–पूर्वी एवं पश्चिमी बाह्य देशों से समुद्रिक व्यापार के अन्तर्गत सुवर्ण को आयात किया जाना तथा नदियों के माध्यम से सुवर्ण को प्राप्त करने एवं एक विकसित लौह व्यवसाय के रूप में लोहार ग्राम का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है ।

खुद्दकनिकाय का 12वां ग्रन्थ निद्देसपालि है जो दो भागों में विभक्त है यथा - चुल्लनिद्देस एवं महानिद्देस । इनमें क्रमशः विषयवस्तु की दृष्टि से सुत्तनिपात के 'अट्ठकवग्ग' एवं 'खग्गविसाणसुत्त' एवं परायणवग्ग की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । इसमें भारत का पूर्वोत्तर देशों से संबंध के अन्तर्गत सुवर्णभूमि जैसे समृद्ध भौतिक सम्पदा से युक्त भूभाग का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य के विकसित अवस्था में होने का उल्लेख प्राप्त होता है । 'पट्टिसम्भिदा-मग्ग' की विषयवस्तु अर्हत के प्रतिसंवित् यानि ज्ञान एवं प्रज्ञा का निरूपण करना है । ये ग्रन्थ तीन वर्गों में तथा चौरानवे कथाओं में विभक्त हैं । 'अपदान' की विषयवस्तु थेर एवं थेरियों के पूर्वजन्म की कथाओं के चित्रण के रूप में प्राप्त होता है । थेरगाथा एवं थेरीगाथा की भांति इसके अन्तर्गत थेर अपदान एवं थेरी अपदान को जातक शैली में प्रस्तुत किया गया है । इसमें कुल 547 अपदान पूर्वकथाएं हैं । ये कथाएं वर्तमान काल में भिक्षु भिक्षुणियों के आत्माभिव्यक्ति के रूप में कहे गये हैं । थेर अपदान में 55 वर्ग तथा 10 अपदान हैं । लोकधर्म के रूप में विकसित हो रहे बौद्धपूजा के ऐश्वर्यपूर्ण स्वरूप का विस्तृत अंकन ही इसका प्रतिपाद्य विषयवस्तु है । इस ऐश्वर्यपूर्ण पूजा-पद्धति के संदर्भ में प्रायः सुवर्णमय स्थापत्य यथा–स्तूप, चैत्य, प्रदक्षिणापथ एवं सभागार के संदर्भ में धातु का बहुलता से उल्लेख प्राप्त होता है । 'बुद्धवंस' 28 परिच्छेदों में विभक्त पद्यात्मक रचना है जिसमें 24 बुद्धों की जीवनियां एवं स्वयं भगवान् बुद्ध को 25वाँ बुद्ध मानकर 25 गाथाएं वर्णित हैं । इसमें यत्र-तत्र लौह एवं स्वर्ण स्थापत्य संबंधी उदाहरण प्राप्त होते हैं । अंतिम ग्रन्थ 'चरियापिटक' है जो छः परिच्छेदों में विभक्त है । बुद्ध के पूर्वजन्म की जीवनचर्याओं का वर्णन ही इसकी मूल विषयवस्तु है । शोध विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ में भूमिगत लौहमय प्रासादों की नियोजना प्राप्त होती है ।

विनयपिटक :

त्रिपिटक साहित्य का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है विनयपिटक । भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों को जिस धर्म का उपदेश दिया था उसका साक्षात्कार जीवन की पवित्रता के बिना असम्भव था । अतः बौद्ध-भिक्षुओं के जीवनचर्याओं से संबंधित चारित्रिक विधान, नैतिक शिक्षा, एवं बौद्ध संघ के नियमनिर्देश की विस्तृत व्याख्या ही विनयपिटक का मूलाधार है । डॉ. भरत सिंह उपाध्याय के अनुसार भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार्यगत नियमों के रूप में बौद्ध संघ का संविधान ही विनयपिटक था ।[1] बुद्ध के जीवनकाल में तथा उसके परिनिर्वाण के पश्चात्

---

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 354-56.

बौद्ध-भिक्षुओं में असंयम तथा अवैराग्य की प्रवृत्ति पनपने लगी थी जिसे दूर करने के लिए भिक्षु संघ के लिए नियमनिर्देश की आवश्यकता हुई । अतः उनके लिए विनयगत नियमों को निर्दिष्ट किया गया । इनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी किये गये, विशेषकर द्वितीय बौद्ध संगीति के अवसर पर भिक्षा आदि में सुवर्ण -रजत के व्यवहार जैसे विनय विपरीत आचरण पर प्रतिबंध लगाने तथा ऐसे भिक्षुओं के लिए दंड विधान भी बनाए गए । इन विधानों की विस्तृत व्याख्या तीन वर्गों में विभक्त विनयपिटक के ग्रन्थों में प्राप्त होती है । प्रथम ग्रन्थ सुत्तविभंग की मूल विषयवस्तु संघ में आने के पूर्व भिक्षुओं द्वारा किये गये अपराध, उन अपराधों को स्वीकार करने के बाद प्रायश्चित करने तथा अपराध मुक्त होने पर नियत नियमों का पालन करना इत्यादि है । सुत्तविभंग दो उपविभागों में विभक्त है यथा पाराजिक (भिक्खु विभंग) एवं पाचित्तिय (भिक्खुनि विभंग) । सांकृत्यायन जी ने 'मोक्ख' शब्द को 'प्रमुखता' के अर्थ में ग्रहण किया है ।[1] भिक्षु धर्मरक्षित के अनुसार 'पातिमोक्ख शिक्षाप्रद शील है जो उसे पालता है, रखता है, वह उस व्यक्ति को पाप आदि से मुक्त करता है, छुड़ाता है । इसलिए वह 'पातिमोक्ख' है ।'[2] 'खन्धक' विनयपिटक का दूसरा विभाग है । खन्धक से तात्पर्य है 'अध्याय' अथवा 'विभागकर बतलाने वाला' । इसके दो उपभाग हैं यथा—महावग्ग एवं चुल्लवग्ग । दोनों ही वर्गों में क्रमशः दस-दस की संख्या में अध्याय हैं । सुत्तविभंग यदि अधिकांशतः निषेधात्मक है तो खन्धक विनयपिटक का विधानात्मक रूप है । महावग्ग में ऐतिहासिक विषयवस्तु की दृष्टि से भिक्षु संघ की स्थापना से लेकर पूरा इतिहास दिया गया है । बुद्धत्व प्राप्ति, ध्यान साधना, धर्मचक्रप्रवर्तन, पंचवर्गीय भिक्षुओं की भिक्षा, काश्यप बन्धुओं का उपासकत्व, बिम्बिसार का उपासकत्व, बिम्बिसार द्वारा वैणुवन का दान, वर्षावास के नियम तथा दसवें अध्याय में कौशाम्बी के भिक्षुओं के झगड़े से उत्पन्न संघभेद जैसे महत्वपूर्ण विषयों का निरूपण किया गया है । 'चुल्लवग्ग' श्रमण संस्कृति की दृष्टि से विशिष्ट स्थान रखता है । इसमें अपराधी भिक्षुओं के विरुद्ध सात प्रकार की कार्यवाही, न्याय एवं दंडविधान संबंधी प्रक्रिया, श्रमणों द्वारा दैनिक जीवन में प्रयोग में लाये जाने वाले वस्तुओं के उपयोग एवं अनुपयोग संबंधी निर्देश, श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठि अनाथपिंडक की दीक्षा एवं उनके द्वारा जेतवन दान, भिक्षुणी संघ का प्रारम्भ तथा प्रथम एवं द्वितीय बौद्धसंगीति जैसे अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयवस्तु का उल्लेख प्राप्त होता है । धातु विषयक विवरणों में सुत्तविभंग एवं खन्धक के उपरोक्त उपविभागों में श्रमण

---

1. विनयपिटक, हि. अनु., पृ. 20.
2. पालिसाहित्य का इतिहास, पृ. 358-59.

संस्कृति के विधान के संदर्भ में विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है, विशेषकर लौह धातु संबंधी विवरणों के अन्तर्गत श्रमणों द्वारा दैनिक जीवन में व्यवहृत की जाने वाली विभिन्न प्रकार के लौहनिर्मित वस्तुओं तथा सुवर्ण, कांस्य एवं ताम्र इत्यादि के भी उल्लेख इन्हीं संदर्भों में प्राप्त होते हैं ।

विनयपिटक का अंतिम ग्रन्थ 'परिवार-पाठ' है । इस ग्रंथ में अभिधम्मपिटक की शैली पर विषयवस्तु की पुनरावृत्ति की गयी है । कौन सा शिक्षाप्रद कहां दिया गया है संघ के झगड़े कितने प्रकार के होते हैं तथा उपोसथ आदि क्या है जैसे बौद्धधर्म के व्यवहारिक शिक्षा के साथ-साथ महेन्द्र द्वारा श्रीलंका गमन एवं विनयपिटक की परम्परा स्थापित करने एवं उन 29 सिंहली भिक्षुओं के नाम भी दिये गये हैं जिन्होंने ताम्रपर्णि द्वीप मे विनयपिटक का प्रकाशन किया ।

अभिधम्मपिटक :

तीसरा पिटक है अभिधम्म । बुद्धघोष ने 'अभिधम्म' से तात्पर्य 'विशेषधर्म' से लिया है ।[1] मुख्य विषयवस्तु के अन्तर्गत बुद्ध के मन्तव्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण कर उन्हें तात्विक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गणनाबद्ध किया गया है । अतः बौद्ध दर्शन ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषयवस्तु है । मोटे तौर पर सात ग्रन्थों में विभक्त है यथा - 'धम्मसंगणि' इसमें बौद्ध नीतिवाक्य की व्याख्या की गयी है, 'विभंग अर्थात् विभाजन या विवरण । इसमें नीतिवाद का ही वृहद् विश्लेषण किया गया है । 'धातुकथा' अर्थात् स्कन्ध, आयतन एवं धातु का निरूपण प्राप्त होता है । 'पुग्गलपञ्ञति' अर्थात् पुदगलों या व्यक्तियों संबंधी ज्ञान या पहचान ही प्रतिपाद्य विषयवस्तु है । 'कथावत्थु' में थेरवाद को मूल मानकर बाकी 17 सम्प्रदायों का खंडन करते हुए इनके दार्शनिक सिद्धान्तों का निराकरण किया गया है । 'यमक' जिसका शाब्दिक अर्थ है ''जोड़ा' या 'जुड़वा पदार्थ' । दस अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में बौद्ध दर्शन संबंधी विवरणों की जुड़वा प्रस्तुति की गयी है । सातवां एवं अन्तिम ग्रन्थ 'पट्ठान' है जिसमें पदार्थ, अवस्थाओं का परिपूर्ण दर्शन है जो मूल रूप में 24 प्रत्ययों का विवेचन है । धातु विषयक विवरणों में विभिन्न प्रकार के धातुओं के भू-खनिज पदार्थों के रूप में विभंग पालि से उदाहरण प्राप्त होता है ।

मिलिन्दप्रश्न :

मूल स्रोत के अन्तर्गत प्रथम शताब्दी ई. पू. तक के पालि-साहित्य के रूप में मिलिन्दप्रश्न को दूसरे ग्रन्थ के अन्तर्गत रखा गया है । साहित्य एवं दर्शन दोनों ही

---

1. बुद्धघोष, सुमंगल विलासिनी, दीघनिकाय, अट्ठकथा, पृ. 18.

दृष्टि से मिलिन्दप्रश्न स्थविरवादी बौद्ध ग्रन्थ है । लगभग द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. में भारत के उत्तर पश्चिमी प्रान्त पर शासन करने वाले ग्रीक राजा मिनाण्डर के बौद्ध धर्म स्वीकार करने के रोचकपूर्ण तथ्यों का उल्लेख इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है । मुख्य रूप से बौद्ध भिक्षु नागसेन एवं राजा मिलिन्द (मिनाण्डर) के बीच बौद्ध धर्म-दर्शन संबंधी तर्कपूर्ण प्रश्नों का समाधान ही इस ग्रन्थ की मूलविषयवस्तु है । सांसारिक विषयों पर राजा मिलिन्द द्वारा नागसेन से पूछे गये प्रश्नों तथा नागसेन द्वारा विद्वतापूर्ण इन शंकाओं का समाधान किया गया है । यद्यपि इस ग्रन्थ के रचनाकार का नाम उल्लिखित नहीं है किन्तु डा. भरत सिंह उपाध्याय ने इसे नागसेन की ही कृति के रूप में स्वीकार किया है । महास्थविर बौद्ध घोषाचार्य की भी यही मान्यता है क्योंकि उन्होंने ग्रन्थ का नाम तक लेना आवश्यक न समझ कर केवल स्थविर नागसेन के नाम से उद्धरण देना ही उचित समझा । प्रतिपाद्य विषयवस्तु के साथ-साथ उत्तर पश्चिमी भारत के विकसित नगर (सागल नगरी) पर ग्रीक राजा के शासन का वर्णन एवं उस राज्य की संस्कृति एवं भौगोलिक समृद्धि का भी व्याख्यान प्राप्त होता है ।

विषयवस्तु की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ सात अध्यायों में विभक्त है । यथा– 'बाहिरकथा' जिसमें मिलिन्दपन्ह की भूमिका तथा त्रिपिटक पर आधारित इसकी कथा को ध्यानपूर्वक सुनने का आह्वान किया गया है तत्पश्चात् समृद्धि एवं वैभव के रूप में सागल नगरी का वर्णन एवं बौद्ध दर्शन अनात्मवाद का रथ की उपमा के माध्यम से विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । 'लक्खणपञ्हो' में पुनर्जन्म की व्याख्या की गई है । तीसरे 'विमतिच्छेदनपन्हो' में राजा के संदेहों (विभक्ति) का निवारण किया गया है । चौथा भाग 'मेण्डकपन्हो' में राजा मिलिन्द द्वारा त्रिपिटक को पढ़े जाने व उसमें वर्णित पारस्परिक विरोधी मतों का नागसेन द्वारा समाधान किया गया है । पांचवें 'अनुमानपञ्हो' भाग में बौद्ध धर्म के अस्तित्व से बुद्ध के अस्तित्व के होने की पुष्टि जैसे ऐतिहासिक तथ्य का निरूपण किया गया है अर्थात् जिस प्रकार गन्ध से पुष्प के होने का अनुमान लगता है वैसे ही शील आदि की जो गन्ध देवताओं एवं मनुष्यों में बह रही है वह लोकोत्तर बुद्ध के होने का प्रमाण है । छठे परिच्छेद 'धुतांग कथा' में गृहस्थों के प्रवजित होने के उपाय के अन्तर्गत अवधूत व्रतों का विवरण दिया गया है तथा सातवे परिच्छेद 'ओपम्मकथापञ्ह' में अर्हत्व का साक्षात्कार करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणों का सम्पादन करना चाहिए इसका सुन्दर निरुपण पशु-पक्षियों के गुणों के आधार पर उपमा के माध्यम से बताया गया है ।

भौतिक संस्कृति की दृष्टि से मिलिन्दप्रश्न का महत्वपूर्ण स्थान है जहां ऐतिहासिक विषयवस्तु के अन्तर्गत उत्तर पश्चिमी भारत पर ग्रीक राजा मिनाण्डर के

आक्रमण करने एवं तक्षशिला पर शासन करने के उल्लेख प्राप्त होते हैं वहीं द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के विकसित सामाजिक एवं आर्थिक संस्कृति के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के व्यवसायिक श्रेणियों, यथा सुवर्णकार, लौहकार, ताम्रकार, सीसाकार एवं त्रपुकार के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । इन धातुकारों के अतिरिक्त चर्मकार, मालाकार, बढ़ई इत्यादि तथा विकसित वास्तुकला के अन्तर्गत स्थपति (वास्तुकार) का उल्लेख विशेषरूप से सागल नगरी के समृद्धि के अन्तर्गत प्राप्त होता है ।

तिथिक्रम :

लगभग छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. में बुद्ध मुख से उपदिष्ट, प्रथम व द्वितीय संगीति में क्रमशः संगायित[1] बुद्ध वचनों को तृतीय शताब्दी ई. पू. में तृतीय संगीति के अवसर पर पिटक साहित्य के अन्तर्गत अन्तिम स्वरूप प्रदान किया गया । सिंहली परम्परा के अनुसार पिटक साहित्य को तृतीय संगीति के अवसर पर अन्तिम स्वरूप प्रदान करने के पश्चात् सिंहल द्वीप ले जाया गया जहां लगभग दो शताब्दियों तक अपने मौखिक स्वरूप में यथावत् बने रहने के पश्चात् इसे श्रीलंका के राजा वट्टगामिणी अभय के काल में प्रथम शताब्दी ई. पू. में ताड़पत्रों पर लेखबद्ध किया गया ।[2] आज त्रिपिटक अपने इसी रूप में विद्यमान है ।

एक दीर्घ अवधि तक मौखिक स्वरूप में बने रहने के पश्चात् लेख बद्ध त्रिपिटक के तृतीय शताब्दी ई. पू. में अन्तिम् रूप से विनिश्चयीकरण होने के सिंहली दावे को आधुनिक विद्वान भी स्वीकार करते हैं क्योंकि भारत से वाह्य सिंहल द्वीप में लगभग दो शताब्दियों तक फलीभूत होने के बाद भी त्रिपिटक में कहीं भी सिंहली संस्कृति की छाप दिखाई नहीं पड़ती है । तृतीय शताब्दी ई. पू. तक त्रिपिटक के स्वरूप की विद्यमानता की पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी ज्ञात होती है । यथा अशोककालीन भाब्रूपाषाण शिलालेख पर उंत्कीर्ण सुत्त 'अलियवसांणि', 'विनयसमुकसे', 'मुनिगाथा', 'अनागतभयानि' एवं 'मौनेयसुत्त' आदि के अंकन प्राप्त होते है ।[3] इसी प्रकार तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई. पू. के बने भरहुत स्तूप के लेखों में त्रिपिटक के सुत्तों का तथा अन्य ऐतिहासिक विषयवस्तु का अंकन प्राप्त होता है । द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के बने सांची स्तूप पर अत्यन्त विकसित शिल्पकला के

1. सांकृत्यायन, राहुल, विनयपिटक, चुल्लवग्ग, एकादशक स्कन्ध, पृ. 419.
2. कौसल्यायन, आनन्द, महावंश, 5/278, अध्याय 30; दीपवंश, अ. 20.
3. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 627-631.

अन्तर्गत त्रिपिटक के सुत्तों एवं ऐतिहासिक दृश्यों का सजीवता से अंकन किया गया है[1] जो इनसे पूर्व त्रिपिटक की विद्यमानता का परिचायक है ।

चूँकि सिंहली परम्परा उपरोक्त दावे को साक्ष्य के साथ स्वीकारती है कि लेखबद्ध होने से पूर्व तक अशोक के काल में लायी गयी त्रिपिटक की मौलिक परम्परा प्रथम शताब्दी ई. पू. तक बनी रही तथा स्वयं त्रिपिटक में कहीं भी सिंहली संस्कृति की छाप दिखलाई नहीं पड़ती । अतः इस प्रबलतम साक्ष्य के आधार पर आधुनिक विद्वान भी तृतीय शताब्दी ई. पू. के काल में त्रिपिटक के अन्तिम रूप से विनिश्चयीकरण का काल स्वीकार करते हैं । विनयपिटक के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके वचनों को यथावत बनाए रखने के लिये प्रथम संगीति का आयोजन किया गया । किन्तु धीरे-धीरे बौद्ध संघ में आचार-विचारगत नियमों के आधार पर मतभेद उत्पन्न होने लगे थे जिन्हें दूर करने के लिए द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन लगभग 100 वर्षों बाद किया गया । इस संघभेद का प्रतिकूल परिणाम बौद्ध आचार-विचारगत नियमों पर भी पड़ा जिसके कारण यह कहना युक्तियुक्त है कि छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. में पिटक साहित्य विद्यमान था किन्तु संघभेद के कारण उसके स्वरूप में जो परिवर्तन हुए लगभग तृतीय शताब्दी ई. पू. तक, उनका निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है । किसी भी संगीति में बुद्ध वचनों के नवीनीकरण की प्रस्तुति न हो कर उसे अनुयायियों द्वारा यथावत बनाए रखने का ही निर्देश प्राप्त होता है । अतः कालक्रम की इस अनिश्चितता को स्वीकार करते हुए आधुनिक विद्वान छठीं शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. तक के 300 वर्षों के काल में हुए त्रिपिटक की विषयवस्तु को क्रमशः परिवर्द्धन का परिणाम कहा है । इन विद्वानों ने भाषा-शैली एवं विषयवस्तु के आधार पर त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में क्रमबद्धता स्थापित करने का प्रयास किया है । इस संबंध में सर्वप्रथम टी. डब्ल्यू. रायसडेविड्स ने भाषायी आधार पर त्रिपिटक के ग्रंथों को दस कालक्रमिक अवस्थाओं में वर्गीकृत करने का प्रयास किया है । यथा–

---

1. ये सुत्त हैं 'पंचनेकायिक' अर्थात् पांच निकायों का ज्ञाता, 'माणक' अर्थात् धम्म व विनय का संगायन करने वाले भिक्षु, 'सुत्तन्तिक' अर्थात् सुत्तों को जानने वाला एवं 'पेटकिन' अर्थात् पिटकों का ज्ञाता । पाषण वेष्टनियों पर उत्कीर्ण प्रसुख ऐतिहासिक दृश्यों में जातक कथाएं, जेतवन दृश्य, बुद्ध के अभिनिष्क्रमण, प्रथम धर्म चक्र प्रवर्तन इत्यादि प्रमुख रूप से ज्ञात होते हैं । भरहुत स्तूप की पाषाण वेष्टनी पर अंकित जातक कहानी की विस्तृत सूची रायस डेविड्स की 'बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ-138 पर दी गई है । तथा विण्टरनित्ज की हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, जिल्द 2, पृ. 17-18. अशोक के 13वे शिलालेख में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा के सिंहल द्वीप गमन का उल्लेख है ।

(1) वे बुद्ध वचन जो समान शब्दों में ही त्रिपिटक के केवल दो या तीन ग्रन्थों में मिलते हैं ।

(2) वे बुद्ध वचन जो समान शब्दों में त्रिपिटक के प्रायः सभी ग्रन्थों की गाथाओं में प्राप्त होते हैं ।

(3) शील, परायण, अट्ठकवग्ग एवं पातिमोक्ख ।

(4) दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर एवं संयुक्तनिकाय ।

(5) सुत्तनिपात, थेरगाथा, थेरी-गाथा, उदान, खुद्दकपाठ ।

(६) सुत्तविभंग, खंधक ।

(7) जातक, धम्मपद ।

(8) निद्देस, इतिउत्तक, पटिसम्भिदामग्ग ।

(9) पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस एवं

(10) धम्मसंगणि, धातुकथा, विभंग, पुग्गलपञ्ञति एवं कथावस्थु ।

प्रो. डेविड्स का ये वर्गीकरण गद्य-पद्यमयी भाषा के आधार पर किया गया है। इन्होंने पद्यमय भाग को (गाथामय) प्राचीन स्वीकार किया है ।[1] डा. विमलाचरण लाहा ने भी कुछ इसी प्रकार का वर्गीकरण किया है । अंतर केवल इतना है कि उन्होंने 'पातिमोक्ख' के स्थान पर शिक्षाप्रद अंश तथा 'पातिमोक्ख' को चारों निकायों के पश्चात् रखा है । इसी प्रकार दीघनिकाय के प्रथम भाग को डेविड्स की भांति चौथे स्थान पर रखा है जबकि द्वितीय एवं तृतीय भाग को पांचवें स्थान पर । उनके द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है, यथा दीघनिकाय (द्वितीय एवं तृतीय भाग), थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, सुत्तविभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञति, विभंग, महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (227वां नियम), विमानवत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु, चुल्लनिद्देश्न, महानिद्देस्न, उदान, इतिउत्तक, सुत्तनिपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान, बुद्धवंश, चरियापिटक, अपदान, परिवार-पाठ एवं खुदकपाठ ।[2]

प्रो. जगदीश नारायण तिवारी ने उपरोक्त गद्य एवं पद्यमयी भाषा के आधार पर किए गए वर्गीकरण की आलोचना करते हुए सम्पूर्ण पिटक साहित्य को चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के काल में मोटे तौर पर रखा है । प्रो. तिवारी के अनुसार त्रिपिटक के प्रारम्भिक ग्रन्थ यथा दीघनिकाय, व अन्य तीनों निकाय के गद्यमयी भाग विषयवस्तु की दृष्टि से प्राचीनतम सामग्री प्रस्तुत करते हैं । अतः विषयवस्तु के

---

1. रायसडेविड्स, डी. डब्ल्यू; बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 121-122, प्र. सं., 1950.
2. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, पृ. 667.

आधार पर चारों निकाय, विनयपिटक, सुत्तनिपात, उदान एवं धम्मपद प्राचीनतम ग्रन्थों के अन्तर्गत गृहीत करना समीचीन प्रतीत होता है ।[1] पं. महामहिम राहुल सांकृत्यायन ने बुद्ध वचनों को बुद्ध के जीवन घटनाक्रम से सम्बद्ध करते हुए ग्रन्थों में क्रमबद्धता स्थापित करने का प्रयास किया है । उन्होंने मूल प्रमाणित बुद्ध वचनों का निर्धारण अट्ठकथाओं में वर्णित (बुद्ध द्वारा बिताए गए) वर्षावासों के आधार पर करने का श्लाघनीय प्रयास किया है । किन्तु वर्षावासों का क्रमबद्ध वर्णन अट्ठकथाओं में मिलता है । स्वयं सांकृत्यायन जी के समस्त सुत्तों का उद्धरण शक्य न होने के कारण ये महत्वपूर्ण कार्य पूर्ण नहीं हो सका ।[2] डा. भरत सिंह उपाध्याय ने त्रिपिटक में वर्णित भौगोलिक परिदृश्यों को ध्यान में रखते हुए प्रथम चारों निकायों एवं विनयपिटक को अशोक के काल के पूर्व का माना है । उनके अनुसार चारों निकायों एवं विनयपिटक के प्राचीनतम अंशों में कलिंग से परे और दक्षिण में गोदावरी से परे किसी स्थान का निर्देश नहीं किया गया है । परन्तु अशोक के द्वितीय शिलालेख में सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र जैसे जनपदों के उल्लेख हैं । इससे स्पष्ट होता है कि सुत्तपिटक के प्रथम चार निकायों के भूगोल का युग अशोक के युग से पूर्वकालिक होना चाहिए । यही बात श्रीलंका के संबंध में भी कही जा सकती है ।[3] प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय ने भी विनयपिटक व सुत्तपिटक के चारों निकायों तथा खुदक निकायों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल अशोक के समय के पूर्व हुआ मानते हैं । उन्होंने भारत व ताम्रपर्णी के संबंधों पर प्रकाश डालते हुए त्रिपिटक की प्राचीनता पर विस्तृत प्रकाश डाला है[4] । इन विद्वानों ने ग्रन्थों की क्रमबद्ध नियोजना को स्वीकार करते हुए दीघनिकाय को सर्वप्रथम माना है ।

प्रथम बौद्ध संगीति के अवसर पर सर्वप्रथम धम्म के अन्तर्गत दीघनिकाय के आरम्भिक शील (ब्रह्मजाल सुत्त) का संगायन किया गया है[5] । भाब्रू पाषाण शिलालेख में दीघनिकाय के सुत्त का अंकन प्राप्त होता है । दीघनिकाय में तीन वेदों का अंकन है अथर्ववेद का नहीं जबकि महाभारत में चारों वेद का उल्लेख प्राप्त होता है । इस आधार पर महाभारत से दीघनिकाय की प्राचीनता सिद्ध होती है । विसेजकर के अनुसार दीघनिकाय में उल्लिखित ब्राह्मण छंदों यथा 'अद्धरिया', 'तिथिरया' एवं 'बह्मरिज्झा' आदि के कारण उनका संकलन काल ब्राह्मण काल के

---

1. प्रस्तुतिपूर्व संगोष्ठि (14 फर., 92) में व्यक्त प्रो. जगदीश नारायण तिवारी के विचार (प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. वि. का. हि. वि. वि.)
2. सांकृत्यायन, राहुल, बुद्धचर्या, पृ. 1-20.
3. उपाध्याय, भरत सिंह; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 455.
4. पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र; बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ. 229.
5. चुल्लवग्ग, हि. अनु. पृ. 204.

अन्त में रखना उचित प्रतीत होता है जबकि उपनिषद स्वतंत्र रूप से विद्यमान नहीं थे ।[1] विन्टरनित्ज के अनुसार दीघनिकाय के गद्यांशों में ब्राह्मण छंदों के उल्लेख इस ग्रन्थ के प्रथम खंडके प्राचीनतम स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं ।[2] प्रथम संगीति के अवसर पर तीन वर्गों में वर्गीकृत दीघनिकाय की विषयवस्तु को सांकृत्यायन जी ने चतुर्थ शता. ई. पू. में स्वीकार किया है । इनके अनुसार विषयवस्तु की दृष्टि से किया गया यह विन्यास पूर्वापरता का सूचक नहीं है अपितु इसका कारण सुत्तों के संकलन से न होकर आकार की दृष्टि से ऐसा किया गया ।[3] प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय के अनुसार प्रथम सुत्त द्वितीय सुत्त की अपेक्षा उत्तरकालीन सामग्री प्रस्तुत करता है ।[4] अतः इन विद्वानों ने दीघनिकाय का काल प्रथम संगीति अर्थात् पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक का माना है ।

अन्य तीन निकाय यथा मज्झिम, संयुक्त एवं अंगुत्तरनिकाय भी प्रायः विषयवस्तु एवं संग्रह शैली में दीघनिकाय के समान ही हैं । अतः विषयवस्तु की दृष्टि से इन्हें पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ श. ई. पू. तक का माना गया है ।[5]

'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनयपिटक 'चुल्लवग्ग' से आरम्भ होकर भरहुत व सांची के स्तूपों में अंकित होती हुई[6] मिलिन्दप्रश्न में दृष्टिगोचर होती है ।[7] डा. भरत सिंह उपाध्याय के अनुसार खुद्दकनिकाय के संकलन को सुनिश्चित करना कठिन है किन्तु इनमें जो उत्तरकालीन हैं वे भी अशोक के बाद के नहीं हैं । धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान एवं इतिउत्तक के बाद कालक्रम की दृष्टि से जातक व थेर-थेरी गाथाओं का स्थान कहा जा सकता है ।[8] प्रथम चार निकायों में विवेकवाद की प्रधानता है जबकि खुद्दक निकाय के ग्रन्थों में काव्यात्मक तत्वों का आधार लेकर भावुकता की प्रधानता है । इस आधार पर विन्टरनित्ज़ ने इस निकाय को उत्तरकालीन माना है ।[9] खुद्दक निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी इसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है बल्कि उसकी गाथाओं में अनेक तो

---

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 120.
2. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, जि. 2, पृ. 35.
3. बुद्धचर्या, पृ. 1-20.
4. पाण्डेय, गोविन्दचन्द्र; स्टडीज इन द ओरिजन्स आफ बुद्धिज्म, पृ. -13
5. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ. 232.
6. डेविड्स राइज़; बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 169.
7. मिलिन्दप्रश्न के चतुर्थ परिच्छेद में राजा मिलिन्द द्वारा सम्पूर्ण त्रिपिटक को पढ़े जाने एवं उसकी विषयवस्तु (दर्शन संबंधी) को आधार बना कर तर्क-वितर्क किये जाने का रोचकपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है । मिलिन्दपन्ह, चतुर्थ परिच्छेद.
8. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ - 227.
9. विन्टरनित्ज़; हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर, जि. 2, पृ. 77.

पिटक संकलन की प्राचीनतम युग की सूचक है । यथा-धम्मपद की गाथा, उदान, सुत्तनिपात इत्यादि । थेरगाथा व थेरीगाथा स्पष्टतः भिक्षुभिक्षुणियों की कृतियां हैं जबकि तात्कालिक लौकिक साहित्य और भावनाओं का प्रवाह विमानवत्थु, पेतवत्थु, जातक एवं चरियापिटक जैसे खुद्दक निकाय के ग्रन्थों में दिखता है जो उसकी अर्वाचीनता का सूचक है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम संगीति से ही जब दीघमाणक एवं मज्झिममाणक भिक्षुओं में खुद्दक निकाय के विषय में मतभेद प्रारम्भ हुआ ते उसी समय से इसका संकलन होने लगा था किन्तु प्रथम चार निकायों से इसका अन्तर केवल इतना था कि जबकि उनके स्वरूप का स्थिरीकरण हो गया था किन्तु खुद्दक निकाय में तृतीय, संगीति तक परिवर्द्धन होते रहे । अतः उनका संकलन काल मोटे तौर पर प्रथम संगीति से तृतीय संगीति के बीच की सीमा ज्ञात होती है ।

धम्मपद में मूल विषयवस्तु की सादृश्यता अंगुत्तरनिकाय, मज्झिम निकाय के समीप है । अतः इसका कालक्रम पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक निर्धारित किया गया है । 'उदान' में भी बुद्धकाल की विषयवस्तु को गाथामय ढंग से प्रस्तुत किया गया है । 'इतिउत्तक', शैली की दृष्टि से अंगुत्तरनिकाय की ही भांति संगृहित है । अतः इनका कालक्रम भी धम्मपद के समकक्ष ही रखना समीचीन प्रतीत होता है । 'सुत्तनिपात' भाषा की दृष्टि से वैदिक प्रभाव के लक्षण से युक्त है । यथा 'समूहतासे', 'पच्चयासे' (15), 'चरामसे', 'पण्डितासे' एवं 'ब्राह्मासे' (1079) आदि महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[1] इस ग्रन्थ में वैदिक छन्दों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है । अतः प्राचीनता की दृष्टि से इस गाथामय ग्रन्थ को बौद्ध ग्रन्थ के विकास के प्रथम स्तर का माना जा सकता है । अशोक के भाब्रू पाषाण शिलालेख में भी सुत्तनिपात के सुत्तों के अंकन से अशोक के पूर्व होने का संकेत मिलता है ।[2] डा. बापट के अनुसार सुत्तनिपात पालित्रिटिक का प्रथम गाथा संग्रह है । धम्मपद, खुद्दकपाठ, उदान, इतिउत्तक, थेरगाथा, थेरीगाथा, बुद्धवंस, चरियापिटक एवं अपदान इसके बाद के हैं ।[3] राइस डेविड्स के अनुसार सुत्तनिपात किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया संकलन नहीं है बल्कि समय-समय पर संघ द्वारा किये गये सामूहिक प्रयत्न का फल है । [4]विषयवस्तु की दृष्टि से सुत्तनिपात को पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के मध्य रखा गया है । विमानवत्थु, पेतवत्थु अपने विषयवस्तु की दृष्टि से उत्तरकालीन रचना प्रतीत होते हैं ।

---

1. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ 121 व 122.
2. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 627-631.
3. भिक्षु धर्मरत्न, सुत्तनिपात, हि. अनु., भूमिका, पृष्ठ 3.
4. राइस डेविड्स, बुद्धिज्म, नवीन संस्करण, 1926.

विमानवत्थु में तो सेरसिक प्रसंग में एक ऐसी घटना का वर्णन है जो उसी के अनुसार पायासि राजन्य के सौ वर्ष बाद घटित हुई थी ।[1] पायासि की मृत्यु भगवान बुद्ध के कुछ साल बाद हुई थी । अतः ये घटना भी बुद्ध के निर्वाण के सौ से अधिक साल बाद ही हुई होगी । इस दृष्टि से विमानवत्थु की रचना तृतीय संगीति से कुछ पहले की हो सकती है । 'पेतवत्थु' में मौर्यराजा का निर्देश प्राप्त होता है । अतः यह ग्रन्थ भी तृतीय शताब्दी ई. पू. के आसपास का प्रतीत होता है । 'थेरगाथा', 'थेरीगाथा' भिक्षु-भिक्षुणियों के गीतमय काव्यत्मक उद्गार हैं । इनमें कुछेक भिक्षु अशोककालीन हैं । अतः विषयवस्तु की दृष्टि से थेरगाथा उत्तरकालीन (तृतीय शताब्दी ई.पू.) प्रतीत होता है जबकि थेरीगाथा में बुद्धकालीन भिक्षुणियों की गाथाओं के उल्लेख मिलते हैं यथा– 'अम्बपालि थेरीगाथा' एवं 'प्रजापति गौतमी थेरीगाथा' । अतः विषयवस्तु की दृष्टि से थेरीगाथा चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक क्रमशः विकसित होती हुयी ज्ञात होती है । 'जातक' में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ प्राप्त होती हैं जिसका अंकन भरहुत एवं सांची के स्तूपों पर विशेष रूप से प्राप्त होता है ।[2] अतः जातकों का काल इनसे पूर्व का ज्ञात होता है । जातकों की प्राचीनता की दृष्टि से बुद्धवचनों के गाथामय भाग को चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक एवं गद्य भाग को तृतीय शताब्दी ई.पू. में रखा जा सकता है । विषयवस्तु की दृष्टि से भी जातक एक विकसित सभ्यता संस्कृति की रूपरेखा प्रस्तुत करता है । अतः इस दृष्टि से भी इसे चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. के विकसित सभ्यता संस्कृति के काल के समकक्ष रखा जा सकता है ।

खुद्दक निकाय के परवर्ती ग्रन्थों में विशेषकर निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, बुद्धवंस एवं चरियापिटक अपने पूर्व के ग्रन्थों के विषयवस्तु का सांस्कृतिक परिवेश में संवहन करते हुए प्रतीत होते हैं । यथा– निद्देसपालि में भिक्षुओं के निषेध संबंधी निर्देश (लौह पात्रों को ग्रहण करना, सोना-चांदी से विरत् रहना इत्यादि) विनयपिटक के 'चुल्लवग्ग' की भांति प्रतीत होते हैं । इस विषयवस्तु को निद्देस पालि विकसित संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है जिसमें तृतीय शताब्दी ई.पू. में भारत के वाह्य देशों से व्यापारिक संबंधों के अन्तर्गत सुवर्ण भूमि व अन्य पूर्वोत्तर देशों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[3] इसका उल्लेख पूर्ववर्ती ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होता है जबकि

1. विमानवत्थु, पी.टी.एस., का संस्करण, पृ. 78.
2. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ 138.
3. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ- 544. चुल्लनिद्देस में सुत्तनिपात के खग्गविषाणसुत्त एवं परायणवग्ग की व्याख्या की गई है जबकि महानिद्देश में अट्ठकवग्ग की व्याख्या प्राप्त होती है । इस आधार पर डा. विमलाचरण लाहा ने इन्हें सुत्तनिपात से पूर्व का माना है । इनके अनुसार इस कालतक सुत्तनिपात स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में नहीं था । –हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर, जि. 1, पृ. 38; डा. उपाध्याय ने खु. नि. के अन्य परवर्ती ग्रंथों की भांति इसकी विषयवस्तु भी

अशोक के अभिलेख में इन पूर्वोत्तरदेशों के उल्लेख मिलते हैं । अतः इस दृष्टि से निद्देसपालि तृतीय शताब्दी ई.पू. की अथवा अशोककालीन रचना के रूप में संकलित किया गया प्रतीत होता है । 'अपदानपालि' में थेरगाथा, थेरीगाथा के भिक्षु-भिक्षुणियों की कथाएं जातकशैली में प्रस्तुत किया गया है । किन्तु इसमें भी क्रमशः परिवर्द्धित हो रहे धार्मिक परिवेश के अन्तर्गत लोकधर्म के रूप में विकसित बौद्ध पूजा संबंधी उल्लेख इसके उत्तरकालीन रचना होने का सूचक है । विशेषकर स्तूप एवं चैत्यादि के प्रतीक पूजा के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है । लगभग तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई.पू. में बौद्ध धर्म के प्रतीक पूजा स्वरूप भरहुत एवं सांची स्तूपों का भी निर्माण कार्य ज्ञात होता है ।

अपदानपालि में जहां जातक शैली के दर्शन होते हैं वहीं बुद्धवंस एवं चरियापिटक जातक विषयवस्तु की भांति बुद्ध के पूर्वजन्मों का उल्लेख करते हैं । बुद्धवंस में चीन राष्ट्र का उल्लेख प्राप्त होता है । 'चीन' का नाम ' छिन' राजवंश के आधार पर 256 ई. पू.-206 ई. पू. में पड़ा था । अतः बुद्धवंस को तृतीय शताब्दी ई.पू. के अंतिम चरण में रखना समीचीन प्रतीत होता है । 'चरिया' के आगे 'पिटक' शब्द पहली बार किसी ग्रंथ के लिए (त्रिपिटक) प्रयुक्त हुआ है । जातकों की विषयवस्तु पर आधारित यह ग्रन्थ जातक से उत्तरकालीन प्रतीत होता है । 'खुद्दकपाठ की सामग्री सुत्तनिपात से ली गई है । इस आधार पर इस ग्रन्थ को बाद का माना गया है ।[1]

त्रिपिटक के दूसरे ग्रन्थ विनयपिटक को बौद्धमतावलम्बी सबसे महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम ग्रन्थ मानते हैं । प्रथम संगीति के अवसर पर धम्म के साथ-साथ विनय का भी संगायन किया गया था । द्वितीय संगति का कारण विनयविपरीत आचरण था जिसमें कुछ परिवर्द्धन संघभेद को दूर करने के लिए किये गये थे ।[2] तृतीय संगीति का वर्णन विनयपिटक से ज्ञात नहीं होता है अतः विनयपिटक का काल मोटे तौर पर पांचवीं शताब्दी ई.पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के बीच रखना समीचीन होगा । आर. ओटो फ्रांके के अनुसार महावग्ग और चुल्लवग्ग दीघनिकाय के बाद का संकलन है ।[3] विन्टरनित्ज़ ने चारों निकायों एवं विनयपिटक के कुछ अंश में समानता होने के कारण दोनों का संकलनकाल एक ही (पांचवीं शतावादी ई. पू. से

सुत्तनिपात पूर्वोक्त क्रमशः-से ग्रहण किया हुआ प्रतीत होता है । अतः इसका संकलन काल सुत्तनिपात के बाद का ही ज्ञात होता है । --पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 229.

1. पालि साहित्य का इहिास, पृ. 331
2. चुल्लवग्ग, हि. अनु., पृ. 204.
3. जर्नल आफ पालि टैक्ट्स सोसायटी, 1908, पृ. 8, 68, 74.

चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक) माना है ।[1] डा. उपाध्याय ने इनका समर्थन किया है । डा. फ्राउवाल्नर ने प्रतिपादित किया है कि विनयपिटक में स्कन्धक भाग का संकलन चतुर्थ शताब्दी ई. पू. में हुआ जबकि वैदिक साहित्य पूर्णरूपेण विद्यमान था । अर्थात् वैदिक साहित्य के बाद का संकलन है ।[2]

'परिवार' में उपालि से लेकर मोग्गलिपुत्ततिस्स (अशोक के काल के) तक के विनयधरों का उल्लेख प्राप्त होता है जो इसका संकलन काल तृतीय शताब्दी ई. पू. तक होने का सूचक है ।[3]

त्रिपिटक के तीसरे खंड अभिधम्म पिटक का प्रथम व द्वितीय संगीति में संगायन किये जाने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है । द्वितीय संगीति में इस विषय पर वाद-विवाद के प्रणयन का सूत्रपात दिखाई पड़ता है । ऐसा प्रतीत होता है संघ-भेद के कारण सम्प्रदाय वालों द्वारा अभिधम्म पिटक की अप्रमाणिकता सिद्ध करने पर ही इसके विधान की आवश्यकता पड़ी । मात्रिकाओं के आधार पर अभिधम्म का विकास हुआ । डेविड्स ने इसे अभिधम्म का मूलस्रोत माना है ।[4] चुल्लवग्ग में 'मात्रिकाधरोपंडितो' शब्द आया है जो एक सिद्धान्तात्मक सूची का बोधक है । इसे स्मरण की सुगमता के लिए भिक्षु लोग मौखिक रूप से याद रखते थे । निकायों में संख्याबद्ध सुत्त निर्दिष्ट हैं जो अभिधम्म के वर्गीकरण के मूल स्रोत माने जा सकते हैं । अतः इस ग्रन्थ की भूमिका पांचवीं शताब्दी ई. पू. से विकसित होकर ऊपरी सीमा 250 ई. पू. मानी जा सकती है विशेषतः द्वितीय-तृतीय संगीति इस साहित्य के संग्रह का रचना काल कहा जा सकता है । [5] कौसियस ए. पिरारी के अनुसार आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि , विभंग व पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ हैं । इनका संगायन सम्भवतः द्वितीय संगीति के अवसर पर हुआ था । धातुकथा व यमक को भी अशोक के पूर्व की रचना माना है । इनका संगायन अन्तिम रूप से तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था । [6] कथावत्थु को कालक्रम की दृष्टि से अन्तिम रचना माना गया है । सिंहली परम्परा के अनुसार तृतीय संगीति के अवसरपर कथावत्थु प्रकरण की रचना की गई तथा इसमें अन्य उत्पन्न 17 सम्प्रदायों व उनके दर्शन के खंडन स्वरूप इसकी रचना की गयी ।[7] 'पुग्गलपञ्ञति' को डा. लाहा ने प्राचीनतम ग्रन्थ कहा है । चूंकि अभिधर्मपिटक को कोई ग्रन्थ स्पष्ट

---

1. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, जि. 2, पृ. 21; पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 309.
2. ई. फ्राउवाल्नर, दि अर्लियेस्ट विनय एण्ड दि बिगनिंग्स आफ द बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृ. 63.
3. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 340-341.
4. ऐन. बुद्धिस्टिक मैनुअल आफ साइक्लौजिकल इथिक्स, (धम्मसंगणि का अंग्रेजीं अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृ. 9, 105-113.
5. हार्डी, अंगुत्तरनिकाय, जि. 5, पृ. 3. पी. टी. एस. द्वारा प्रकाशित संस्करण.
6. महास्थविर, ज्ञानातिलोक, गाइड थ्रू द अभिधम्म पिटक, प्राक्कथन
7. दीपवंस, अध्याय 3, महावंश अध्याय 20.

रूप से सुत्तपिटक पर कम या अधिक अवलम्बित है उसी हद तक उसकी अपेक्षित प्राचीनता भी कम या अधिक है ।[1] भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुसार यदि पुग्गलपञ्ञति को अभिधम्मपिटक से निकाल दिया जाय तो भी उसकी पूर्णता में कोई कमी नहीं आती । प्रथम मातृका में भले ही व्यांतिका शैली का अनुसरण किया गया है जो सुत्तपिटक पर अवलम्बित जान पड़ता है ।[2] विभंग के अनेक अंश पटिसम्भिदामग्ग पर आधारित होने के कारण डा. लाहा ने इसे दूसरे नम्बर पर रखा है जबकि सुत्तन्त शैली से वह मिश्रित था । धम्मसंगणि विकसित शैली का रूप है अतः इसे विभंग के बाद एवं धम्मसंगणि के पूरक ग्रन्थ धातुकथा को उसके बाद का स्वीकार किया है ।[3] किन्तु विभंग में धम्मसंगणि की मात्रिका निर्दिष्ट है । इसमें तीन खंडस्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन किया गया है । अतः अंशतः धम्मसंगणि के प्रति उनका भी पूरकत्व सुनिश्चित है ।[4] धम्मसंगणि की शैली विश्लेषणात्मक है जबकि विभंग की संश्लेषणात्मक है । इस तथ्य से विभंग धम्मसंगणि के बाद की रचना हुयी । धम्मसंगणि से विभंग की ओर विकासक्रम सामान्य से विशेष की ओर विकासक्रम है । राइस डेविड्स,[5] गाइगर,[6] एवं विन्टरनित्स[7] ने भी उपरोक्त मत को स्वीकार किया है । भिक्षु काश्यप ने भी विभंग की विषयवस्तु को धम्मसंगणि का पूरक माना है ।[8] डा. लाहा ने विभंग को यमक की पृष्ठभूमि कहा है । तथा विभंग के एक भाग पर विस्तृत निरूपण पट्ठान पर आधारित और कालक्रम में उसके बाद का है ।[9] डा. भरत सिंह उपाध्याय के अनुसार लगभग तृतीय शताब्दी ई. पू. में पाटलिपुत्र में हुए तृतीय संगीति (253 ई. पू.) ही अभिधम्म पिटक की निचरली सीमा ज्ञात होती है । तृतीय शताब्दी ई. पू. इसे श्रीलंका ले जाया गया जहां प्रथम शता. ई. पू. में इसे ताड़पत्रों पर लेखबद्ध किया गया ।[10]

मिलिन्दप्रश्न का तिथिक्रम :

मूल विषयवस्तु के अन्तर्गत मिलिन्दप्रश्न में ग्रीक राजा मिनाण्डर एवं बौद्ध भिक्षु नागसेन के बीच में बौद्ध धर्म दर्शन संबंधी तर्क-वितर्कपूर्ण प्रश्नों का रोचकपूर्ण विवरण दिया गया है । अतः विषयवस्तु की दृष्टि से मिलिन्दप्रश्न की प्राचीनता ग्रीक

---

1. भिक्षु काश्यप जगदीश, अभिधम्म फिलोसोफी, जि. 2, पृ. 165.
2. वही.
3. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, पृ. 23.
4. गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृ. 17.
5. विभंग, भूमिका, पीट टी. एस., पृ. 13.
6. गाइडर, पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज़, पृ. 9.
7. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, जि. 2, पृ. 167.
8. भिक्षु काश्यप जगदीश, अभिधम्म फिलोसोफी, जि.2, पृ. 104.
9. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 378.
10. वही, पृ. 371 व 372.

राजा मिनाण्डर के काल की अर्थात् द्वितीय प्रथम शताब्दी ई. पू. के लगभग ज्ञात होती है । पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है । इस संबंध में राजा मिलिन्द के शासन काल की बहुत सी मुद्राएं काबुल घाटी से यमुना नदी तक विस्तृत प्रदेश में तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मथुरा एवं इलाहाबाद के समीप रेह नामक स्थल से प्राप्त होते हैं । इन सिक्कों पर राजा की उपाधि के साथ-साथ आठ अरों वाले चक्र का चिन्ह अंकित है जिसे बौद्ध धर्म चक्र से समीकृत किया गया है । ईस्वी सन् के पूर्व बौद्ध पूजा इन्हीं प्रतीक चिन्हों के माध्यम से की जाती थी जबकि ईस्वी सन् के आसपास से ही बौद्ध पूजा के रूप में बुद्ध मूर्तियों का विकास परिलक्षित होता है । अतः इस दृष्टि से मिलिंदप्रश्न का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई. पू. के आसपास का ज्ञात होता है । [1]प्रो. गोवर्धन राय शर्मा व उनके सहयोगियों द्वारा उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जिले के रेह नामक स्थल से (कौसाम्बी से 96 किमी. पश्चिम में स्थित) एक लेख खोज निकाला है जो उनके अनुसार राजा मिनेण्डर का है । इस लेख की लिपि अशोक के अहरौरा लघु शिला लेख के समान है । लेकिन प्रोफेसर शर्मा के अनुसार लिपिशास्त्रीय दृष्टि से यह बेसनगर से बहुत भिन्न नहीं है । अतः इसे प्राचीनतम मौर्योत्तर अभिलेख में आसानी से परिगणित किया जा सकता है । प्रो. शर्मा ने इस लेख की तिथि लगभग 150 ई. पू. या इसके कुछ वर्ष पूर्व का स्वीकार किया है । [2] पंजकोर एवं स्वार्त नदी के संगम से पश्चिम में 20 मील की दूरी पर बाजौर के कबायली प्रदेश में शिनकोट नामक स्थल से सेलखड़ी से बने पात्र पर दो खरोष्ठी लेख मिले हैं । पहले पर मिनान्डर के शासन का उल्लेख है । इस पात्र में शाक्य मुनि बुद्ध के कुछ पवित्र अवशेष मिनाण्डर के काल में राजा विनयमित्र ने स्थापित किया था । [3] प्रतीक चिन्हों के रूप में बौद्ध अवशेष की पूजा संबंधी पुरातात्विक साक्ष्य इसे ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी का होने का संकेत देता है । स्वयं मिलिन्दप्रश्न में राजा मिलिन्द का आविर्भाव बुद्ध निर्वाण के पांच सौ वर्ष बाद हुआ उल्लिखित है । यथा–'परिनिब्बानतो पंचवस्सते अतिवमन्ते । [4] भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण 483 ई. पू. माना गया है ।[5] इस दृष्टि से इसके पांच सौ वर्ष पश्चात् राजा मिलिन्द का आविर्भाव का काल प्रथम शताब्दी ई. पू. के आसपास का ज्ञात होता है ।

---

1. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 380.
2. शर्मा, गोवर्धन राय : रेह इन्सिक्रिप्शन्स आव मिनेण्डर एण्ड दि इंडोग्रीक इन्वेजन आव दि गंगा वैली, इलाहाबाद, 1980.
3. गोयल श्रीराम् : भारतीय अभिलेख संग्रह, पृ. 185-90.
4. पालि साहित्य का इतिहास, पृ. 381.
5. वही, पृ. 90.

राजा मिलिन्द के शासनकाल की यद्यपि वास्तविक तिथि के विषय में मतभेद है तथापि द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. में उनके काल को स्मिथ[1] हेमचन्द्र रायचौधरी,[2] एवं डी. सी. सरकार,[3] आदि विद्वान् स्वीकार करते हैं । अतः उपरोक्त विवेचन से मिलिन्दप्रश्न का रचनाकाल द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. तक का माना गया है ।

उपरोक्त तिथिक्रम की विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण पिटक साहित्य छठी शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. के मध्य संकलित एवं प्रथम शताब्दी ई. पू. में लेखवद्ध हुआ । त्रिपिटक के (पालि) ग्रन्थों की तिथिक्रम संबंधी विवेचना के पश्चात् यद्यपि इसके किसी भी ग्रन्थ को एक काल सीमा में रखना कठिन है तथापि मोटे तौर पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विनयपिटक, सुत्तपिटक के प्रथम चारों निकायों एवं खुद्दक निकाय के कुछ प्रारम्भिक ग्रन्थों (खुद्दक पाठ को छोड़कर इतिउत्तक तक) को छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक के काल में रखा जा सकता है जबकि खुद्दक निकाय के परवर्ती ग्रन्थ एवं अभिधम्म पिटक को चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. तक के कालक्रम में क्रमशः परिवर्द्धन के रूप में रखना समीचीन प्रतीत होता है । मिलिन्द प्रश्न को द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के काल में रखा गया है ।

ग्रन्थों के कालक्रमानुसार धातुओं के स्वतंत्र अध्ययन के रूप में विभक्त अध्याय दो, तीन, चार एवं पाँच में भी धातु-विषयक विवरणों को दो कालों में प्रस्तुत किया गया है । अर्थात् प्रथम काल छठी-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक तथा द्वितीय काल चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से द्वितीय प्रथम शताब्दी ई. पू. तक । सर्वप्रथम इन अध्यायों में धातु विषयक विवरणों को उनके प्रयोगात्मक स्वरूप, प्रचलन एवं महत्व को क्रमशः दोनों कालों में प्रस्तुत किया गया है । अन्त में विवेच्य काल में हुए धातुओं की उपयोगिता के आधार पर परिवर्द्धनों एवं नवीन प्रकारों के आधार पर उनका तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । तत्पश्चात् धातुप्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोतों एवं धातु-कर्म पर प्रकाश डाला गया है ।

---

1. अर्ली हिस्ट्री आव इंडिया, पृ. 227, 239, 258, चतुर्थ संस्करण.
2. राय चौधरी हेमचन्द्रः पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 781.
3. सरकार, दिनेश चन्द्र : इंडियन इपिग्रैफी.

द्वितीय अध्याय

सुवर्ण धातु

सुवर्ण धातु

अपने देदीप्यमान एवं आकर्षक स्वरूप के कारण मानव सहज स्वभाववश सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में ही स्वर्ण की ओर आकर्षित हुआ होगा । नवपाषाण-कालीन सांस्कृतिक परिवेश से ही भारतवर्ष में आभूषण आदि स्वर्ण निर्मित वस्तुएं प्राप्त होने लगती हैं । तब से लेकर सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की स्वर्ण के प्रति आसक्ति बढ़ती ही चली गयी । बौद्धकाल तक आते-आते स्वर्ण का प्रयोग अनेक रूपों में होने लगा था । स्थान-स्थान पर भ्रमण करने वाले बौद्ध भिक्षु तथा उनके साथ-साथ चलने वाले सार्थवाह समूह ने सुवर्ण स्रोतों से देश-विदेश में अपना परिचय बढ़ाया । सुवर्ण न केवल संपत्ति एवं ऐश्वर्य का सूचक था वरन् विशेष लाक्षणिक अर्थों (तेजस्वी व्यक्तित्व, दिव्यआभा) में सुवर्ण का उल्लेख धातु की विशिष्टता का भी द्योतक है ।

प्रस्तुत अध्याय में विवेच्यकाल में स्वर्ण विषयक सामग्री का यथासंभव संपूर्ण अध्ययन करने की चेष्टा की गयी है । इस अध्याय को भी दो कालों में बांटा गया है, ताकि तुलनात्मक विवेचन द्वारा इनके तत्कालीन समाज में बढ़ते प्रचलन एवं परिवर्द्धन पर विशद् रूप से प्रकाश डाला जा सके । सर्वप्रथम सुवर्णमय वस्तओं का सामान्य वर्गीकरण करते हुए अध्ययन किया गया है । तत्पश्चात् सुवर्ण प्राप्ति के प्राकृतिक सम्भावित स्रोतों, सुवर्ण के विविध प्रकारों, स्वर्ण प्रगलन व अन्य तकनीकों के विवेचन की चेष्टा की गयी है ।

प्राचीन बौद्धपालि ग्रन्थों से सुवर्णबोधक 'हिरण्य', 'जातरूप', 'कञ्चन', 'श्रृंगी', 'हाटक', 'हेम' एवं 'कम्बु' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । 'निष्क' शब्द पालि ग्रन्थों में प्रायः अच्छी प्रकार से तैयार स्वर्ण वस्तु के रूप में व्यवहृत हुआ है । पालि ग्रन्थों से स्वर्ण निर्मित विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । इनमें कुछेक विशुद्ध रूप से मूलधातु सुवर्ण से निर्मित वस्तुओं के हैं तो कुछ अन्य मात्र सुवर्ण तार से खचित एवं सुवर्ण रत्नों या पत्रों से मण्डित वस्तुओं के हैं । दैनिक जीवन से परे विलासिता पूर्ण वस्तुओं के, जिनका उपयोग मात्र वर्ग-विशेष यथा राजप्रासादों, श्रेष्ठिवर्ग तथा विलासमय जीवनयापन करने वाली महिलाओं एवं पुरुषवर्ग के विशेष संदर्भ में प्राप्त होता है; ऐसे सुवर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के प्रचुर प्रयोग पर प्रकाश पड़ता है । इसके अतिरिक्त उच्चकुलीन वर्ग में प्रचलित स्वर्णमय पात्रों, आसनों, वाहनों, संपत्तिमूलक एवं मुद्रासूचक स्वर्ण धनराशि, स्वर्ण

की मूठ वाली तलवार, कैंची तथा स्वर्णमय स्थापत्य व मूर्तिकला के विवरण विशेष रूप से ज्ञात होते हैं । उपरोक्त विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए अध्ययन की सुविधानुसार उनका वर्गीकरण किया गया है जो इस प्रकार है :

1. सुवर्णमय अलंकरण की वस्तुएं यथा-स्वर्णाभूषण, स्वर्णिम वेशभूषा, छत्र, चंवर एवं ध्वजा ।
2. दैनिक जीवन में प्रयुक्त स्वर्णमय वस्तुएँ, यथा-पात्र, आसन, वाहन, घरेलू उपकरण (कैंची), पिंजरा, जंजीर एवं हौदा ।
3. सुवर्ण धनराशि यथा-संपत्तिमूलक एवं मुद्रासूचक धनराशि ।
4. स्वर्णमय स्थापत्य संबंधी उल्लेख, यथा-राजप्रासाद, पुष्करिणी, यूप, स्तूप, चैत्य, प्रदक्षिणापथ, वेदिका एवं फलक ।
5. स्वर्णमय मूर्तिकला एवं अस्त्र-शस्त्र यथा-स्वर्ण की मूठवाली तलवार, कूट ।

उपरोक्त वस्तुओं में स्वर्ण का उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जाता रहा होगा । सुवर्णमय वस्तुओं में संभवतः मूलधातु स्वर्ण स्वर्णतार, रत्न (मनके), पत्र, स्वर्ण-द्रव एवं स्वर्णधूलि या चूर्ण के रूप में उपयोग में लाया जाता था । एक ही प्रकार की वस्तुओं को भी विभिन्न उपायों से स्वर्णमय बनाया जाता रहा होगा । अतः धातु के उपयोग की दृष्टि से वस्तुओं का वर्गीकरण इस प्रकार है :

1. मूलधातु के रूप में स्वर्ण का उपयोग आभरणों एवं मुद्रासूचक धनराशि के रूप में किया जाना ।
2. स्वर्णमय परिधानों, चरणपादुकाओं, आसनों (पीठासन एवं शयनासन) के पायों, पात्रों, सुवर्णमय छत्र, स्वर्ण की मूठ वाले खड्ग, कैंची एवं वाहनों (रथ एवं नौका की किनारी वाला भाग) को स्वर्णतारों, रत्नों अथवा पत्रों से मण्डित कर उन्हें स्वर्णिम बनाया जाना ।
3. स्वर्णमय द्रव या स्वर्णपरत को आभूषणों एवं मूर्ति पर चढ़ाया जाना तथा जलयान एवं पादुका को चित्रित करने के लिए स्वर्णमय पालिश को उपयोग में लाना ।
4. स्वर्णधूलि को धनराशि के रूप में व्यवहृत किया जाना तथा राजकीय महत्व के वास्तुअंगों को अलंकृत करने के लिए उपयोग में लाना एवं
5. उपरोक्त वस्तुओं पर सुनहरी चमकदार पालिश चढ़ा कर उन्हें सुवर्णमय बनाया जाता रहा होगा ।

स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएँ

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रंथों के अध्ययन से तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के स्वर्ण अलंकरण की वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग प्रायः

धनाढ्य वर्ग की स्त्रियों, पुरुषों एवं इनके द्वारा पोषित पशुओं के अलंकरण के रूप में किया जाता था । स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के अन्तर्गत स्वर्णाभरणों, स्वर्णमय परिधानों, स्वर्णिम ध्वजा, छत्र एवं स्वर्णदण्ड लगे चंवर के उल्लेख प्राप्त होते हैं । सामान्य वर्ग में स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के उपयोग पर प्रकाश नहीं पड़ता है जो इनके बहुमूल्य होने का सूचक है ।

स्वर्णाभरणों के अन्तर्गत स्वर्णमय अलंकृत वेणी (शिरोभूषा), स्वर्णमय ललाटिका (मस्तक आभूषण), विभिन्न प्रकार के स्वर्ण के बने कण्ठाभरणों यथा कम्बुसदृश कण्ठाहार, निष्क, ग्रैवेयक अर्थात् चौड़ी पट्टी अथवा एक से अधिक लड़ियों वाला हार, सुवर्ण माला एवं सोने की जंजीर, स्वर्ण के बने एवं स्वर्णपरत चढ़े हुए कुण्डल, हस्ताभरण (बाजूबन्द, चूड़ीयाँ, कंगन) मुद्रिका, स्वर्णमय मेखला (कटि आभूषण) तथा स्वर्णमय पाजेब के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स्वर्णाभूषणों का सर्वाधिक उपयोग महिलाओं द्वारा किया जाता था । इनमें आर्थिक रूप से सम्पन्न सभी वर्गों की महिलाओं यथा देवी, राजमहिषी, राजकन्या, राजकीय परिचारिकाओं, नृत्यांगनाओं (गणिका) तथा विलास आदि कार्यों में रत् कन्याओं द्वारा स्वर्णाभरणों से सदैव अलंकृत रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पुरुष वर्ग में युवराजों द्वारा स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित होने तथा हस्ति, गौ एवं अश्व जैसे पशुओं के स्वर्णमय अलंकारों से सुसज्जित रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त पालि ग्रंथ में स्वर्णमय झालर से राजप्रासाद को अलंकृत किये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

स्वर्णमय परिधानों अथवा वेशभूषा के अन्तर्गत स्वर्ण तारों से बुने हुए तथा सुवर्ण रत्न से जटित दुशालों एवं चरण पादुकाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । चरण पादुकाओं का उपयोग प्रायः बौद्ध श्रावकों द्वारा किया जाता था ।

पालिग्रंथों से विशिष्ट वर्ग द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय छत्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यह छत्रमय आवरण प्रायः आसनों के शिरोभाग पर, स्तूप के शिखर भाग पर तथा मार्ग में छत्र-छाया हेतु वाहनों पर लगे होने के संदर्भ प्राप्त होते हैं । स्वर्णिम ध्वजा को प्रायः राजकीय सवारियों (हस्तिसेना) पर आरूढ़ स्त्री-पुरुषों द्वारा धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । उपयोग की दृष्टि से स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के उपरोक्त विवरणों को चार वर्गों में बांटा गया है यथा–

1. महिलाओं द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएं,
2. पुरुषों द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएं,
3. धनाढ्य वर्ग द्वारा पोषित स्वर्णमय अलंकारों से विभूषित पशु एवं
4. स्वर्ण झालर से अलंकृत स्थापत्य संबंधी उल्लेख ।

उपरोक्त वर्गीकरण को क्रमशः प्रथम एवं द्वितीय काल में प्रस्तुत किया गया है ।

प्रथम काल : (छठी-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक) :

प्रथम काल के बौद्ध पालि ग्रंथों में विनयपिटक, दीघनिकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तरनिकाय एवं थेरीगाथा से स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें स्वर्णाभरणों, स्वर्ण तारों से बुने वस्त्रों, स्वर्णरत्न जटित चरणपादुका, स्वर्णदण्ड युक्त चंवर एवं स्वर्णिम ध्वजा के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इस काल से सर्वाधिक उल्लेख स्वर्णाभूषणों के प्राप्त होते हैं । ये उल्लेख स्त्री-आभूषण एवं तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में प्राप्त होते हैं । सामान्य वर्ग में स्वर्णाभूषणों का प्रचलन ज्ञात नहीं होता है । इस संबंध में विनयपिटक पालि से प्राप्त संदर्भों से ज्ञात होता है कि सामान्य वर्ग की बालिका स्वर्णमय झालर से अलंकृत थी जो उस क्षेत्र-विशेष के नागरिकों के लिए आश्चर्य की विषयवस्तु थी । पालिनिकायों से नकली स्वर्ण अथवा स्वर्णपरत चढ़े एवं मिश्रित स्वर्ण के बने आभूषणों के उल्लेख मिलते हैं जो उपयोग में अकमनीय, अप्रभास्वर, जल्दी टूटने वाला तथा न कमाया जा सकने वाला (कम मूल्य वाला) कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप स्वर्णकार इस प्रकार के नकली स्वर्ण के आभरणों को बनाते थे जिसका प्रचलन सामान्य वर्ग में रहा होगा ।

1. महिलाओं द्वारा प्रयुक्त तथा तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में प्राप्त स्वर्णमय अलंकार :

प्रथम काल से महिलाओं द्वारा प्रयुक्त एवं तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में स्वर्णमय आभूषणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें केशराशि में प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकृत वेणी, विभिन्न प्रकार के स्वर्ण के बने ग्रीवाभरणों यथा ग्रैवेयक अर्थात् चौड़ी पट्टी अथवा एक से अधिक लड़ियों वाला हार, कम्बुसदृश हार एवं मनकों वाली स्वर्ण माला, स्वर्ण के बने एवं स्वर्णपरत चढ़े कुण्डल, मुद्रिका एवं पाजेब के उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होते हैं ।

(क) स्वर्णमय अलंकृत वेणी :

'अम्बपाली थेरीगाथा' से वैशाली की प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली के स्वर्णमय अलंकृत वेणी से विभूषित होने का संदर्भ प्राप्त होता है । थेरीगाथा से प्राप्त संदर्भ के अनुसार वृद्धावस्था को प्राप्त आम्रपाली पूर्वकाल में (युवावस्था) विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों से अलंकृत होने की चर्चा करते हुए कहती हैं–

'कण्हखन्धक सुवण्णमण्डितं, सोभते सुवेणी अलंकता ।' अर्थात् 'पूर्वकाल में मेरी केशराशि एवं वेणी सुवर्णमय अलंकारों से अलंकृत थी ।'[1]

प्रथम शताब्दी ई. पू. के यूनानी लेखक डायोडोरस ने चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के सिकन्दरकालीन भारत में प्रचलित सती प्रथा का विवरण देते हुए सती के लिये जाती हुई स्त्री का उल्लेख किया है जिसकी केशराशि स्वर्णिम तारावली एवं कीमती रत्नों से जटित शिरोभूषण से अलंकृत थी ।[2] भरहुत के अर्द्धचित्रों में यक्षिणियों की केशराशि विभिन्न प्रकार के पुष्पों एवं फीते से अलंकृत वेणी के अंकन प्राप्त होते हैं ।[3] मौर्यकाल के पूर्व के राजघाट से प्राप्त मृण्मयी स्त्री आकृति के सिर पर पट्टियां चिपका कर अलंकरण दर्शाया गया है ।[4] पिपरहवा स्तूप से प्राप्त सुवर्ण पत्र पर अलंकृत केशराशि वाली मातृदेवी का अंकन प्राप्त होता है ।[5]

(ख) स्वर्णनिर्मित कण्ठाहार :

पालिग्रंथों के प्रथम चरण से तकनीकी ज्ञान एवं स्त्री आभरणों के संदर्भ में स्वर्णमय कण्ठाहारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें ग्रैवेयक, कम्बुसदृश हार तथा स्वर्णमाला के उल्लेख मिलते हैं ।

1. ग्रैवेयक :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'पंसुधोवक सुत्त' से ग्रैवेयक नामक कण्ठाहार का उल्लेख मिलता है जो बनावट में चौड़े अथवा एक से अधिक लड़ियों वाला हार था । प्राप्त संदर्भ के अनुसार स्वर्णकार तैयार किये गये शुद्ध स्वर्ण से ग्रैवेयक इत्यादि किसी भी प्रकार के स्वर्णाभूषणों को बनाने में सक्षम होता था । यथा–

> 'सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी जातरूप धमति सन्धमति निद्धमति । तं होति जातरूपं धन्तं सन्धन्तं निद्धन्तं कसाव मृदु च होति कम्मनिय च पभस्सरं च न च पभङ्गु सम्मा उपेति कम्माय । यस्सा यस्सा च पिलंधन विकंतिया आकंखाति यदि गीवेयूयकेन तं चस्स अत्थं अनुमोति ।' अर्थात्

'स्वर्णकार या उसका शिष्य सुवर्ण को साफ करता है, धोता है, तपाता है, अच्छी प्रकार से तपाता है । वह सोना तपा हुआ, अच्छी प्रकार से तपाया हुआ

1. थेरीगाथा, श्लोक नं. 255; खु. नि. पालि, खंड-2, पृ. 438, उपाध्याय, भरत सिंह, हिन्दी अनुवाद, पृ. 238.
2. मजुमदार, रमेशचन्द्र; क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 241.
3. कनिंघम, भरहुत प्लेट-52.
4. नारायण, ए. के. एण्ड राय, टी. एन.; एक्सकेवेशनूस आव राजघाट, भाग-1, 1957-58, 1960-65 (वाराणसी, 1976), पृ. 24.
5. अग्रवाल, वासुदेवशरण; भारतीय कला, पृ. 98, चित्र 134.

होता है, साफ होता है, कोमल होता है, प्रभास्वर होता है तथा काम में लाया जा सकने वाला होता है, न टूटने वाला होता है, जो-जो गहना वह बनाना चाहता है यथा–ग्रैवेयक, वह उसके योग्य होता है ।'[1]

'विनयपिटक' में गर्दन के पास चीवर को दृढ़ करने की दोहरी पट्टी को 'गीवेय्यक' कहा गया है ।[2] पाणिनी ने 'ग्रैवेयक' नामक कंठाभरण का उल्लेख किया है ।[3] भरहुत प्रतिमाओं में गले में पहने जाने वाले लगभग सभी छोटे हार चौड़े या सपाट हैं जिनको आजकल 'पटिया' कहा जाता है । सर अलेक्जेण्डर कनिंघम के अनुसार, 'सामान्यतया ये सादे सोने से बने होते हैं परन्तु कीमती रत्न भी जड़े जा सकते हैं ।' इस प्रकार के अन्य हार लड़ियों की संख्या के आधार पर त्रिलड़ी, चौलड़ी, पंचलड़ी एवं सतलड़ी के भी हैं, जिन्हें यक्षिणियां धारण किये हुए हैं ।[4] (देखिए, प्लेट नं. 1, चित्र सं. 2 व 7) । इस प्रकार के ग्रीवाभरण को ग्रैवेयक प्रकार से समीकृत किया जा सकता है ।

2. कम्बु सदृश कंठाहार :

'अम्बपाली थेरीगाथा' से आम्रपाली गणिका द्वारा स्वर्ण के बने कम्बु सदृश ग्रीवाभरण से अलंकृत होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सण्ह कम्बुरिव सुप्पमज्जिता, सोभते तु ग्रीवा पुरे मम ।' अर्थात् 'स्वर्ण के बने कम्बु (शंखाकार, ग्रीवाकार) सदृश कंठाहार से मेरी ग्रीवा सुशोभित रहती थी ।'[5]

पुरातात्विक उत्खननों में उज्जैन से तृतीय शताब्दी ई. पू. की मानवाकार स्वर्ण की मोती प्राप्त हुई है ।[6] भरहुत चित्र में चौड़ी पट्टी वाले कण्ठाहार में नीचे की ओर लटकते हुए शंखाकार अथवा इससे सदृश्यता रखते हुए स्वर्णाभूषण चित्रित हैं ।[7] संभवतः कम्बु प्रकार का कण्ठाहार रहा होगा । (देखें, प्लेट-नं. 1, चित्र सं. 3, 4, 5 व 6)

3. सुवर्णमाला :

'विनयपिटक' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' से भिन्न-भिन्न संदर्भों में सुवर्ण माला के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'सुवण्णमाला' एवं 'सुवण्णमालाय' शब्द प्राप्त होते हैं ।

---

1. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-1, पृ. 234, खंड-2, पृ. 286, कौसल्यायन, आनन्द; हि. अनु., भा-1, पृ. 261, भा-2, पृ. 250.
2. सांकृत्यायन, राहुल; विनयपिटक, हि. अनु.; पृ. 279.
3. अष्टाध्यायी, 4.3.62, 4.3.65, 4.2.96, 3.3.105.
4. शर्मा, तुलसीराम; भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 33, फलक 50, चित्र सं. 1,2 एवं 7.
5. थेरीगाथा, श्लोक नं. 262, खु. नि., खं-2, पृ. 439, हि. अनु., पृ. 238.
6. राय, त्रिभुवन नारायण; द गैन्जेस सिविलाइजेशन, पृ. 225, इंडियन आर्कियोलाजी, 1957-58, पृ. 36.
7. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 33, फलक 50, चित्र सं. 3. 4, 5, 6.

सुवण्णमाला–

विनयपिटक के 'पाराजिकपालि' से आरामिक ग्राम (मगध के समीप) की सामान्य वर्ग की बालिका द्वारा उत्सव के अवसर पर स्वर्णमाला धारण करने का वर्णन प्राप्त होता है । यह माला उसे आरामिक ग्राम के बौद्ध भिक्षु द्वारा चमत्कारिक ढंग से प्रदान की गयी थी जिसे देख कर मगधवासी आश्चर्यचकित थे । ऐसी माला मगध नरेश बिम्बिसार के अन्तःपुर में भी नहीं थी । यथा–

'सा अहोसि सुवण्णमाला अभिरूपा दस्सनीया, पासादिका नत्थि तादिसा पि अन्तपुरं सुवण्णमाला ।' अर्थात्

'वह सुवर्णमाला अभिरूपा, दर्शनीया एवं प्रसन्न कर देने वाली थी जो राजा बिम्बिसार के अन्तःपुर में भी नहीं थी ।'[1]

सुवण्णमालाय–

'अंगुत्तरनिकाय' के 'पंसुधोवक सुत्त' से तकनीकी ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में सुवर्णमाला का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'यदि सुवण्णमालाय-तं चस्स अत्थं अनुमोति ।' अर्थात् 'चाहे तो वह सुवर्ण माला बनाने के योग्य होता है ।[2]

मौर्यकाल से पूर्व के पिपरहवा स्तूप से प्राप्त स्वर्णपत्र पर मातृदेवी के गले में मोतियों वाला कण्ठाहार चित्रित है ।[3] राजघाट से प्राप्त मृण्मयी मूर्ति के गले में अलंकरण दर्शाया गया है ।[4] कौशाम्बी के उत्खनन से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. की स्वर्णमनका प्राप्त हुई है, जिसमें दो प्रतिशत चांदी का मिश्रण है ।[5] डायोडोरस ने चतुर्थ शताब्दी ई. पू. की सती के लिए तैयार स्त्री द्वारा स्वर्णमय कण्ठाहार को गले से उतारने का उल्लेख किया है ।[6] भरहुत के अंकनों में मोतियों वाले बड़े हारों को पहने हुए स्त्री आकृति दर्शायी गयी है जिसे गुलबन्द, लंबनम् या ललांतिक कहा गया है क्योंकि वे स्त्रियों के वक्षस्थल के बीच में लटकते रहते थे । इसे 'मोहनमाला' भी कहा जाता था ।[7] सम्भवतः सुवर्णमाला से अभिप्राय उपरोक्त प्रकार से रहा होगा । (देखें, प्लेट नं. 1 चित्र सं. 8)

---

1. विनयपिटक, पाराजिकपालि, पृ. 355-56, महावग्ग, पृ. 227 सांकृत्यायन, राहुल; हि. अनु., पृ. 224, 225.
2. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-1, पृ. 234, हि. अनु., भा-1, पृ. 261-62.
3. भारतीयकला, पृ. 98, चित्र 134.
4. एक्सकेवेशन आव राजघाट, भाग-1, 1957-58, 1960-65, पृ. 24.
5. द गैन्जेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 225.
6. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 241.
7. भरहुत स्तूप, हि. अनुवाद, पृ. 33, फलक 50, चित्र- 8.

(ग) स्वर्णमय कर्णाभरण :

पालि निकायों से स्वर्णनिर्मित तथा स्वर्णपरत चढ़े हुए कुण्डल के उल्लेख प्राप्त होते हैं । अंगुत्तरनिकाय' से प्राप्त पूर्वोक्त विवरण में तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में शुद्ध स्वर्ण से आभूषण बनाये जाने के संदर्भ में तथा 'संयुक्तनिकाय' से सुवर्णपरत चढ़े हुए कुण्डल का उल्लेख मिलता है ।

1- शुद्ध स्वर्ण से निर्मित कुण्डल :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'पंसुधोवक सुत्त' से अच्छी प्रकार से तैयार सुवर्ण से कुण्डल बनाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

'यदि कुण्डलो-तं चस्स अत्थं अनुभोति ।' अर्थात्

'चाहे तो वह (सुवर्ण) कुण्डल बनाने में समर्थ होता है ।'[1]

2– स्वर्ण परत चढ़ा कुण्डल :

'संयुक्तनिकाय' के 'जटिलसुत्त' से सुवर्ण परत चढ़े कुण्डल का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कुण्डलो लोहऽ.नुमासो वा सुवण्णछन्नो । अर्थात्

'लोहे का बना अथवा उसपर सुवर्णपरत चढ़ा हुआ कुण्डल ।[2]

आनन्द कोसल्यायन जी ने कुण्डल को बाली कहा है ।[3] भरहुत अंकनों में गोलाकृति वाले कर्णाभरणों को दर्शाया गया है जिसे सर कनिंघम ने कुण्डल से समीकृत किया है ।[4] प्रभासपाटन से चतुर्थ-तृतीय शताब्दी ई. पू. की (एन. बी. पी. काल की) जैस्पर की बनी तथा उसपर स्वर्णपर्त चढ़ा हुआ कुण्डल प्राप्त हुआ है ।[5]

(घ) स्वर्णनिर्मित मुद्रिका :

प्रथम काल के पालिनिकायों से स्त्री-आभरण एवं तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में स्वर्ण-निर्मित अंगूठी के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'पट्टिकाय', 'मुद्दिकाय' एवं 'मुद्दिकम' शब्द प्राप्त होते हैं ।

---

1. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड–2, पृ. 286, खंड-1, पृ. 235, हि. अनु. पृष्ठ-250, 261-62.
2. संयुक्तनिकायपालि, खंड-1, पृ. 78, हि. अनु.,भा-1, पृ. 75.
3. कौसल्यायन, आनन्द; जातक, भाग-5, हि. अनु., पृ. 278.
4. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 33, फलक 49, चित्र सं. 255, 12.
5. इंडियन आर्कियोलॉजी, 1956-57, ए रिव्यू (1957), पृ.17, प्लेट-17 ए.

1- पट्टिकाय:

'अंगुत्तरनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में पट्टिका अर्थात अंगुलिमुद्रिका का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णस्स आकंखाति यदि पट्टिकाय तं चस्स अत्थं अनुमोति ।'

अर्थात् 'शुद्ध स्वर्ण चाहे तो पट्टिका बनाने में समर्थ होता है ।'[1]

पाणिनी ने 'अंगुलियक' का उल्लेख किया है ।[2]

2- मुद्दिकाय :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'उपक्किलेससुत्त' एवं 'संयुक्तनिकाय' के 'पठमक्किलेससुत्त' से मिश्रण से रहित शुद्ध स्वर्ण से अंगुलि मुद्रिका के निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा –

'जातरूपस्स उपक्किलेसेहि विमुत्तं होति . . . यदि मुद्दिकाय तं चस्स अत्थं अनुमोति ।' अर्थात्

'मिश्रण से रहित होने पर सुवर्ण चाहे तो मुद्रिका निर्माण में समर्थ होता है ।' [3]

3- मुद्दिकं :

'अम्बपालि थेरीगाथा' से आम्रपालि गणिका द्वारा पूर्वकाल में अंगुलियों में स्वर्णमय मुद्रिका से सदैव मंडित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सण्ह मुद्दिकं सुवण्णमण्डिता सोभते तु पूरेमम ।' अर्थात्

'पूर्वकाल में मेरी अंगुलियां स्वर्ण मुद्रिका से मंडित रहती थीं ।' [4]

डायोडोरस ने सती स्त्री कें अंगुलियों में बहुमूल्य मुद्रिका धारण किये होने का उल्लेख किया है ।[5] भरहुत के अंकनों में स्त्री आकृतियों को अंगुलियों में मुद्रिका धारण किये होने का चित्रण प्राप्त होता है ।[6]

(च) स्वर्णनिर्मित पाजेब :

'अम्बपाली थेरीगाथा' से आम्रपाली द्वारा पूर्वकाल में स्वर्णनिर्मित पदाभूषण धारण किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

---

1. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-1, पृ. 235, हि. अनु., भाग-1, पृ. 235.
2. अग्रवाल, वासुदेवशरण; पाणिनी कालीन भारत, पृष्ठ- 224.
3. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-2, पृ. 286, हि. अनु., भाग-2, पृ. 250, संयुत्तनिकायपालि, खंड-5, पृ. 85, हि. अनु., भाग -2, पृ. 662.
4. थेरीगाथा, श्लोक नं. 263, पृ. 439 हिन्दी अनु. पृ. 239
5. क्लासिकल अकाउण्ट्स आप एन्शियंट इंडिया, पृ. 241.
6. भरहुत स्तूप, पृ. 36, भरहुत प्लेट 52

'सण्हनुपुर सुवण्णमण्डिता, सोभते तु जंघा पुरे मम ।' अर्थात्

'पूर्वकाल में मेरे पांव स्वर्णनुपुर से सदैव शोभायमान रहते थे ।'[1]

मथुरा से स्त्री आकृति प्राप्त हुई है जिसके पैरों में झांझर है । कुमारस्वामी ने इसे प्राक्मौर्ययुगीन उदाहरण माना है ।[2] भरहुत के अंकनों में किंकिणी युक्त पाजेब पहने स्त्री आकृतियों के चित्र प्राप्त होते हैं ।[3]

(2) पुरुष वर्ग द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएं :

प्रथम काल के पालि ग्रंथों से पुरुषों द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के अन्तर्गत सुनहरे दुशालों, सुवर्ण रत्न जटित चरणपादुका एवं सुवर्ण दम्ड लगे चंवर के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) सुवर्णमय परिधान :

इसके अन्तर्गत सुनहरे वर्ण वाला पट्ट अथवा रेशमी चादर तथा सुवर्णमय चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

सुनहरे वर्ण वाला पट्ट :

'दीघनिकाय' से रेशमी दुःशाले का वर्णन प्राप्त होता है, जो सुनहरे वर्ण का था । प्राप्त संदर्भ के अनुसार इस दुशाले से आच्छादित हो भगवान बुद्ध स्वर्णमूर्ति सदृश प्रतीत होते थे । ये दुशाला उनके शिष्य पुक्कुस द्वारा प्रदान किया गया था । यथा –

'सिंगीवण्णं मुगमट्ठं पुक्कुसो अभिहारयि ।

तेन आच्छादितो सत्था, हेमवण्णो असोभता 'ति ।' अर्थात्

'सुनहरे वर्ण वाले चमकते दुशाले को पुक्कुस ने भगवान को अर्पित किया जिससे आच्छादित हो शास्ता सोने के वर्ण जैसे शोभा देते थे ।' [4]

जातकपालि के अनुसार भिक्षुओं को कौशेय एवं रेशमी चादर के उपयोग की अनुमति भगवान ने प्रदान की थी ।[5] महावग्ग में सोने के तार से जड़ित रेशमी चादर का उल्लेख प्राप्त होता है । रेशम के धागों के बीच सोने के महीन तारों को देकर इसकी बुनाई की जाती थी ।[6] अर्थशास्त्र में असम देश के सुवर्ण कुड्य नामक

---

1. थेरीगाथा, श्लोक नं. 266, तपृ. 439. हि. अनु. पृ. 268.
2. भारतीय कला, पृ. 147.
3. भरहुत स्तूप, पृ. 36, फलक 51, चित्र-456.
4. दीघनिकायपालि, खंड–2, पृ. 104, हि. अनु., सांकृत्यायन राहुल, पृष्ठ–139.
5. जातक, भाग-6, पृ. 47.
6. मित्र, अखिलेश्वर; 'सुत्तपिटक में वर्णित भौतिक जीवन का एक अध्ययन', शोध-प्रबंध, पृ. 319, उपासक, सी. ए स.; वी. एम. टी. पृ. 59; महावग्ग, 5.9.20.

स्थल में निर्मित दुशाले को स्वर्ण कुड्य कहा गया है जो सूर्य की भांति चमकीला होता था ।[1]

2–स्वर्णमय चरणपादुका :

विनयपिटक 'महावग्ग' एवं 'पराजिकपालि' से स्वर्णमय चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं । बौद्ध संघ के नियम-निर्देश के अनुसार बौद्ध-भिक्षुओं को बहुमूल्य धातु से निर्मित इस प्रकार के चरणपादुकाओं के उपयोग की मनाही थी । प्राप्त संदर्भ के अनुसार स्वर्णमय चरणपादुका को धारण करने वाला बौद्ध भिक्षु दुक्कुट का दोषी था । यथा–

'भिक्खवे न सोवण्णमया पादुका धारेतब्बा' अर्थात्
'भिक्षुओं, सुवर्णभय चरणपादुका धारण नहीं करना चाहिए' ।[2]

'दीघनिकाय' से 'चित्रुपाहन' अर्थात् चित्रित जूते का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] इस प्रकार के चरणपादुकाओं अथवा खड़ाऊं के अग्रभाग को संभवतः सुवर्ण तारों अथवा रत्न आदि से जटित करके अलंकृत बनाते होंगे ।

3– स्वर्ण दंड युक्त चंवर :

'सुत्तनिपात' के 'नालकसुत्त' से स्वर्णदंड युक्त चंवर का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका उपयोग राजघरानों में किया जाता था । प्राप्त संदर्भ के अनुसार शाक्य गणराज्य में उत्पन्न बुद्ध के जन्मोत्सव पर देवताओं द्वारा स्वर्ण दण्ड लगे चंवर को डुलाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णदण्डा वीतिपतन्ति चामरा न दिस्सरे चामर छत्तगाहका' । अर्थात् 'स्वर्णदण्ड लगे चंवर डुलाए, किन्तु चंवर व छत्र धारण करने वाले दिखाई नहीं दे रहे थे ।'[4]

3– स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित पशु :

पालि निकायों से स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित पशु के अन्तर्गत सहस्त्रों की संख्या में नागराजों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये राजप्रासाद की गरिमा को प्रदर्शित करने के साथ-साथ युद्ध–भूमि में निर्णायक भूमिका (हस्ति सेना) निभाते थे । पालिनिकाय में धनी गृहपति द्वारा सुवर्णमय अलंकरणों से विभूषित नागराजों (हस्तियों)

---

1. गैरोला, वाचस्पति; अर्थशास्त्र, 2.11. 108., पृ. 162.
2. महावग्ग, विनयपिटकपालि, पृ. 209-10; चुल्लवग्गपालि, पृ 258.
3. दीघनिकाय, जि. 1, पृ. 9.
4. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड–1, 376, हि. अनु., पृ. 183.

को महादान के अवसर पर दिये जाने का वर्णन भी प्राप्त होता है । हस्ति अलंकरण के रूप में इन्हें स्वर्णालंकारों, स्वर्णिम वस्त्रों एवं स्वर्णमय ध्वजाओं से अलंकृत किया जाता था जो उच्च वर्ग के समृद्धशाली होने का सूचक है ।

1– स्वर्णमय अलंकरण से विभूषित राजकीय पशु हस्ति (नागराज) :

'दीघनिकाय' के महासुदस्सनसुत्त' से कुसीनारा नरेश महासुदर्शन के राजप्रासाद में सहस्त्रों की संख्या में स्वर्णमय अलंकारों, जालों, एवं ध्वजाओं से अलंकृत नागों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'चतुरासीति नागसहस्सानि अहेसुं सोवण्णलंकाराभि सोवण्ण धजाभि हेमजालपटिच्छन्नानि उपोसथ नागराजप्प मुखानि ।' अर्थात्

'सोने के अलंकारों से विभूषित, सोने की ध्वाजाओं से विभूषित, स्वर्णजाली से आच्छादित उपोसथ नागराज (राजप्रासाद) में थे ।[1]

2–धनी गृहपति द्वारा पोषित स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित (नागराज) :

अंगुत्तरनिकाय के 'वेलामसुत्त' से वेलाम नामक ब्राहण गृहपति द्वारा किये गये महादान के अवसर पर स्वर्णमय अलंकारों, परिधानों एवं ध्वजाओं से विभूषित सहस्त्रों की संख्या में नागराजों को दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'चतुरासीति हत्थिसहस्सानिअदासं सोवण्णलंकाराभि सोवण्ण धजाभि हेमजाल-पटिच्छन्नानि उपोसथ नागराज'

सहस्रों की संख्या में स्वर्ण अलंकारों से विभूषित स्वर्णमय ध्वजाओं वाले तथा स्वर्णजाल से आछन्न हाथियों को दान में दिया ।'[2]

पिपरहवा एवं लौरिया से प्राप्त सुवर्णपत्र पर आभूषण एवं आवरण से आच्छादित हस्ति का अलंकरण प्राप्त होता है ।[3] पालि ग्रंथ से 'हत्थधर' नामक आवरण (वस्त्र) का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4] डा. मोतीचन्द्रा ने इसे हस्ति वस्त्रावरण कहा है ।[5]

---

1. दीघनिकायपालि, खंड–2, पृ. 138, हि. अनु., पृ. 157.
2. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड–4, पृ. 36, हि. अनु., भाग–4, पृ. 33.
3. जोशी, लालमणि; प्राचीन भारत की स्थापत्य एवं मूर्तिशिल्प, अध्याय–4.; शुक्ल, मारकण्डेय; भारतीय कलाओं एवं औद्योगिक शिल्पों का अध्ययन, पृ. 290.
4. दीघनिकाय, हि. अनु., पृ. 3; महावग्ग, विनय. पृ. 211.
5. डा. मोतीचंद्रा; प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ. 33; त्रिपाठी, प्रभा; प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 232.

इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों से प्रथम काल से विभिन्न प्रकार के स्वर्णमय अलंकरणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें सर्वाधिक उल्लेख स्वर्णाभरणों के प्राप्त होते हैं । ये उल्लेख परिगणना की दृष्टि से ही नहीं अपितु विविधता की दृष्टि से भी प्राप्त होते हैं विशेषकर सुवर्णमय कण्ठाहारों के संदर्भ- में । इसके कुल चार उल्लेखों में से चार प्रकार वर्णित हैं ।

द्वितीय काल : (चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक) :

द्वितीय काल से पालि ग्रंथों में विशेषकर खुद्दक निकाय के परवर्ती ग्रंथों से स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं के बढ़ते प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल तक आते-आते आर्थिक रूप से संपन्न महिलाओं, पुरुषों, राजकीय पशुओं तथा बौद्ध-श्रावकों में स्वर्णादि बहुमूल्य धातुओं से निर्मित अलंकरण की वस्तुओं का उपयोग विशद् रूप से किया जाने लगा था । ये उल्लेख उपयोग की दृष्टि से ही नहीं अपितु विविधता की दृष्टि से भी प्राप्त होते हैं, विशेषकर स्थापत्य आदि को सुवर्णमय झालर से अलंकृत किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । अलंकरण की अन्य वस्तुओं में स्वर्णाभरणों के नवीन प्रकारों यथा– स्वर्णमय चिमटी, लालाटिका, सोने की जंजीर, लॅकिट, गोल, चौकोर तथा अन्य स्वर्ण खंड अथवा आकारों के बने निष्क जंजीर (लॅकिट) हस्ताभरण एवं कटिआभूषण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । स्वर्णिम परिधानों के अन्तर्गत स्वर्णतारों से बुने एवं रत्नजटित दुशालों एवं काञ्चनपट्ट (पगड़ी) का प्रचलन स्त्री-पुरुषों में ज्ञात होता है । स्वर्णमय चरणपादुका एवं छत्र का विशेष उपयोग बौद्ध श्रावकों द्वारा किये जाने तथा विकसित हो रहे लोकधर्म (बौद्ध धर्म) के रूप में इनके द्वारा स्तूप आदि पर स्वर्णमय छत्र को स्थापित किये जाने का उल्लेख भी मिलता है ।

1– महिलाओं द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएँ :

द्वितीय काल से आर्थिक रूप से सम्पन्न सभी वर्ग की महिलाओं यथा देवी, राजमहिषी, राजकन्या, राजकीय परिचारिकाओं, गणिकाओं, नृत्यांगनाओं तथा विलासपूर्ण कार्यों में रत कन्याओं के द्वारा स्वर्णमय अलंकरणों विशेषकर आभरणों एवं परिधानों से अलंकृत होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । स्वर्णाभरणों के अन्तर्गत पालि ग्रंथों से प्रायः समस्त आभूषणों से आच्छादित होने के उल्लेख मिलते हैं । इसके लिये पालिग्रंथों में 'स्वर्णाछन्न' अर्थात् 'स्वर्णाभूषणों से आछन्न' शब्द प्राप्त होते हैं । स्वर्णमय आभूषणों के अन्तर्गत स्वर्णमय चिमटी, ललाटिका, ग्रीवाभरण, मुद्रिका एवं कटिआभूषणके उल्लेख प्राप्त हैं ।

क– स्वर्णाच्छादित महिलाएँ –

खुद्दक निकाय के परवर्ती ग्रंथों यथा थेरगाथा, जातकों, विमानवत्थु-पेतवत्थु से कुलीन वर्ग की महिलाओं, नृत्यांगनाओं, राजकीय दासी या परिचारिकाओं द्वारा सदैव समस्त स्वर्णाभूषणों को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके अन्तर्गत 'कम्बुपग्गयूयह', 'जातरूपस्सदेवी', 'सुवण्णेनपटिच्छन्ना', 'जातरूपेनसञ्छन्ना', 'सुवण्णाच्छन्न', 'कम्बुकायूरधरा' एवं 'सुवण्णसंकच्चधरा' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1–कम्बुपग्गयूयह–[1]

'संखजातक' से स्वर्णमय अलंकारों को धारण किए हुए मणिमेखला देवी का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'सब्भु सुभा सुप्पटिमुत्त कम्बू पग्गयूयहं ।' अर्थात्

'सुमुखी शुभ्रवर्णा स्वर्णालंकारा देवी थी ।'

2–जातरूपस्सदेवी–

'छद्दन्त जातक' से काशीनरेश की राजमहिषी हेतु राजकुल में बहुत से स्वर्णाभरणों के संग्रह किए जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'बहुं हिमे राजकुलम्हि सन्ति पिलक धना जातरूपस्स देवी ।' अर्थात्

'देवी (महिषी) तेरे लिए राजकुल में बहुत सारे स्वर्ण के गहने हैं ।'[2]

3– सुवण्णेनपटिच्छन्ना–

'महाउम्मग्गजातक' से काम्पिल्य राष्ट्र की राजकन्या द्वारा स्वर्णाभरणों से आच्छादित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भों के अनुसार काम्पिल्य नरेश अपनी कन्या को वैवाहिक संधि के अन्तर्गत विदेह नरेश को देने का वचन देते हैं जो स्वर्णालंकारों से विभूषित थी । यथा–

'नक्खत्तम्णोव परिपुच्छ अहं कञ्ञं ददामिते ।
सुवण्णेन पटिच्छन्नं दासीगण पुरक्खतं ।' अर्थात्

'नक्षत्रपूछ । मैं तुम्हें दासियों समेत अपनी स्वर्णाच्छादित कन्या दूंगा ।'[3]

---

1. जातकपालि, सं. 442, खुद्दकनिकाय, खंड-3, भाग-1, पृ. 195, हि. अनु., भाग–4, पृ. 217.
2. जातकपालि, सं. 514, खु. नि., खंड–3, भाग–1, पृ. 372, हि. अनु., भा.–4 पृ. 132.
3. जातकपालि, सं. 542, पृ. 217, हि. अनु. भा–6 (छः), पृ. 474.

4–जातरूपेन सञ्छन्ना

'थेरगाथा' से श्रावस्ती के श्रेष्ठि चंदन नामक थेर की भार्या का उल्लेख प्राप्त होता है जो स्वर्ण आभरणों से युक्त थी । यथा–

'जातरूपेन सञ्छन्ना दासीगण पुरक्खता।' अर्थात्
'सोने के गहने पहन कर दासियों समेत वह स्त्री थी ।'[1]

5– सुवण्णाच्छन्न–

'विमानवत्थु–पेतवत्थु' से देवलोक में स्वर्णाभरणों से अलंकृत आनंदित करने वाली नृत्यांगनाओं के उल्लेख मिलते हैं । यथा–

'नारियो च नच्चन्ति सुवण्णछन्ना ।' अर्थात्
'स्वर्णालंकारों से आच्छन्न नारियाँ नृत्य कर रही थीं ।'[2]

6– कम्बुकायूरधरा–

जातकों, विमानवत्थु एवं पेतवत्थु से राजभवनों एवं देवलोक में विशिष्ट व्यक्तियों अथवा आगन्तुकों (नरेश आदि) के स्वागतार्थ नियुक्त स्वर्णाभरणों को धारण की हुई राजकीय परिचारिकाओं एवं नागकन्याओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये कन्याएं थाल में विविध व्यञ्जनों एवं सुरा आदि को लेकर आगन्तुकों के स्वागत के लिए तत्पर रहती थीं । यथा–

'का कम्बुकायूरधरा पग्गय्यहपायेन्ति अनोमवण्णा ।' अर्थात्
'स्वर्णाच्छादित नागकन्याएं हाथ में सुरा ले-ले कर पिलाती हैं ।'[3]

7– सुवण्णकायूरधरा–

जातकपालि से कण्णपेण्णा नदी में अवस्थित नागराज की सेवा में रत राजकीय परिचारिकाओं (नागकन्याओं) के उल्लेख मिलते हैं जो स्वर्णमय अलंकारों से सुसज्जित थीं । यथा–

'कञ्ञाहि अलंकताहि, सुवण्णकायूरधराहिराज ।' अर्थात्
'सुवर्णमय अलंकारों से अलंकृत नागकन्याएं थीं ।'[4]

---

1. थेरगाधा, खु. नि. खंड–2, पृ. 289, हि. अनु., पृ. 98.
2. विमानवत्थु, खु. नि., खंड–2, पृ. 81, 84, 88.
3. विमानवत्थु, पृ. 56, पेतवत्थु, पृ. 188, 353. जातकपालि, सं. 506, पृ.–340, हि. अनु., भाग–5, पृ. 231.
4. जातकपालि, सं. 524, खु. नि., भाग–2,पृ. 21, हि. अनु., भा–5, पृ.252.

कायूर को कौसल्यायन जी ने वाजूवन्ध एवं कंठा दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया है ।[1] शुंगकालीन कोसम से प्राप्त ठीकरे पर आपानगोष्ठी अथवा गोष्ठीपान का दृश्य अंकित है । इसमें हाथों में मदिरापात्र धारण किए अलंकारों से सज्जित विलासरत् जोड़े का अंकन प्राप्त होता है ।[2]

8–सुवण्णसंकच्चधरा–

'सम्बुला जातक' से काशी के युवराज के विलासपूर्ण कार्यों में सहभागी क्षत्रिय कन्याओं के उल्लेख मिलते हैं जो विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषणों से अलंकृत थीं । प्राप्त संदर्भ में युवराज के कृत्यों से दुखित होकर पुत्रवधू अपने श्वसुर (काशी नरेश) के समक्ष मार्मिक शब्दों में कहती है–

'सुवण्णसंकच्चधरा सुविग्गहा, अलंकता आनुसियच्छ रूपमा-खत्तिय कञ्ञपटिलाभयन्ति च ।' अर्थात्

हे तात् 'स्वर्णमय अलंकारों वाली, सुन्दर शरीर वाली अप्सरा सदृश क्षत्रिय कन्याएं उससे मिलती हैं ।'[3]

ख–स्वर्णमय शिरोभूषण–

पालि ग्रंथों के द्वितीय चरण से स्वर्णमय शिरोभूषण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत केशराशि में प्रयुक्त स्वर्णमय चिमटी एवं मस्तक पर धारण किये जाने वाले ललाटिका (अलंकृत झालर, मांगटीका) के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'कनकब्या समोचितो' शब्द प्राप्त होता है । मस्तक आभूषण के लिए 'हेमञ्च कायूरं' का उल्लेख मिलता है ।

1– कनकब्यासमोयितो–

'अलम्बुसा जातक' से अलम्बुसा नामक अप्सरा के स्वर्णमय चिमटी से अलंकृत केशराशि का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'नातिदीघा सुसम्मट्ठा कनकब्या समोचितो ।' अर्थात्

'केशराशि बड़े नहीं हैं, सुसंस्थापित हैं । उसमें लगी सोने की चिमटी तैलसिंचित है ।'[4] द्वितीय-प्रथम शती. ई. पू. के सोंख उत्खनन से प्राप्त ठीकरे पर उत्कीर्ण मातृदेवी के सिर पर मस्तक के दोनों ओर मांगटीका प्रकार का आभूषण चित्रित है ।[5]

---

1. कौसल्यायन, आनन्द जातक, हि. अनु. भाग–5 पृ. 285.
2. भारतीय कला, पृ. 324
3. जातकपालि, सं. 519, खु. नि., भाग–1, पृ. 397, हि. अनु., भाग–5, पृ. 184.
4. जातकपालि, सं. 522, भाग–2, पृ. 16, हि. अनु., भाग–5, पृ.16.
5. एक्सकेवेशन्स एट सोंख पृ. 79 चित्र सं 14,5

भरहुत के दृश्यों में देवयोनि में नृत्यादि कार्यों में रत् अलम्बुसा अप्सरा का नाम एवं चित्रांकन प्राप्त होता है जिनके केश अलंकृत हैं ।[1]

2– हेमञ्च कायूरं–

'महावेस्सन्तर जातक' से सिवि राष्ट्र की राजपुत्रवधु माद्री के सुवर्ण कायूर से अलंकृत मस्तक का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'ततो हेमञ्च कायूरं, गीवेय्यंरतनमयं ....अंगदं मणिमेखलं, सस्सु सुण्हाय पाहेसि येहि मदी असोभथ ति । अर्थात्

'स्वर्ण के कायूर, विविध रत्नों वाले ग्रीवाभरण, बाजूबन्ध एवं मणिमेखला से अलंकृत माद्री सुशोभित हो रही थी ।'[2]

सांस्कृत्यायन जी ने कायूर को 'कण्ठा' एवं 'बाजूबन्ध' कहा है ।[3] किन्तु उपरोक्त उल्लेख में श्रृंगारपरक स्वर्णाभूषणों के क्रमबद्ध वर्णन में कायूर हार एवं वाजूबन्ध से अलग प्रकार का आभूषण कहा गया है जिसे मस्तक आभूषण (शिरोभाग पर धारण किया जाने वाला) मांगटीका, अथवा झालर से समीकृत करना समीचीन प्रतीत होता है ।

ग– स्वर्णनिर्मित ग्रीवाभरण–

जातकों से सम्पन्न वर्ग की महिलाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के स्वर्णमय कण्ठाभरणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'कञ्चनवेल', 'नेक्खंगीवं', 'सुवण्णकायूरं' तथा 'गीवेय्यं' शब्द प्राप्त होते हैं ।

1– काञ्चनवेल–

'पेतवत्थु' से अप्सराओं के ग्रीवा में सुवर्णहार होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कञ्चन वेलभूसिता' अर्थात् जिनकी ग्रीवा स्वर्ण-जंजीर से विभूषित है ।[4]

तक्षशिला के सिरकप टीले की खुदाई से मौर्य-शुंग-कालीन स्वर्णनिर्मित विभिन्न प्रकार के कण्ठाभूषण प्राप्त हुए हैं । इनमें जंजीर प्रकार की स्वर्णमाला भी प्राप्त हुई है ।[5] (देखें प्लेट नं. 1. चित्र–सं. 9)

---

1. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 33.
2. जातकपालि, सं. 547, खु.नि., भा–2, पृ. 394, हि. अनु., भा–6, पृ. 652.
3. जातक, हि. अनु., चतुर्थ खंड, पृ. 96.
4. पेतवत्थु, खु. नि, खंड–2, पृ, 188, 353.
5. मार्शल जान : तक्षशिला, ऐन इलस्ट्रटेड अकाउण्ट्स आव आर्केलाजिकल एक्सकेवेशनुस, खंड–2, पृ. 622, प्लेटे, 192, नं. 68,).

2– नेक्खं गीवं–

'कुसजातक' से कुसीनारा नरेश द्वारा मद्र देश की राजकीय परिचारिका हेतु निष्क नामक कण्ठाभरण को बनवाये जाने का वर्णन् प्राप्त होता है । यथा–

'नेक्खं गीवं ते कारस्सं' अर्थात् 'तुम्हारे लिए सोने का कंठा बनवाउंगा ।'[1]

अथर्ववेद में निष्क नामक गले के आभूषण का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे बांध कर पहना जाता था । यथा–'निष्कमिव प्रतिमुच्यते' अर्थात् 'निष्क की तरह बांध कर पहनो ।' इसमें निष्क धारण करने वाले पुरुष को 'निष्की' एवं स्त्री को 'निष्कनी' कहा गया है ।[2] भरहुत के अंकनों में त्रिलड़ी हार पहने स्त्री आकृति का अंकन है जिसके मध्य में चौकोर पत्र बने हैं ।[3] सिरकप टीले की खुदाई से थोड़े बड़े मनकों की माला मौर्य-शुंग काल से प्राप्त हुई है । इस प्रकार के कण्टाहार में गोल-गोल मनके लाकेट की भांति लटके हैं ।[4] डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार निष्क सम्भवतः गहने की तोल व आकृति व्यवहार में निश्चित की गई होगी एवं लेनदेन में अथवा अदला-बदली में गिरवी रखने के लिए निष्क का व्यवहार किया जाने लगा होगा ।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि कण्टाभूषण के रूप में निष्क का प्रयोग गोल एवं चौकोर स्वर्णपत्रों एवं मनकों को पिरोकर या बांध कर लौकेट के रूप में किया जाता रहा होगा जो एक ही कण्ठाहार में एक अथवा एक से अधिक संख्या में भी होता था ।

(देखें– प्लेट नं. I. चित्र–सं. 1. प्लेट नं. II चित्र सं. 1.2.)

सोख उत्खनन से प्राप्त मातृदेवी के गले में गोल चौकोर पदक पहने हुए चित्रित किया गया है[6]जो सम्भवतः निवद्ध प्रकार का कठाहार रहा होगा ।

3– गीवेय्यं–

'महावेस्सन्तर जातक' से सिवि राष्ट्र की राजपुत्र वधू माद्री के विभिन्न रत्नों वाले सुवर्णमय ग्रैवेयक हार से सुशोभित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. जातक, सं. 531, भा. 2, पृ. 72, हि. अनु. भा–5, पृ. 379.
2. पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृ. 250, अथर्ववेद,. 14.3.
3. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 31, फलक50., चित्र सं. 1 वं. 8.
4. तक्षशिला, ऐन इलस्ट्रेटेड अकाउन्ट आव आर्केलॉजिकल एक्सकेवेशन्स, खंड– 3, प्लेट–192, सी. नं. 55, पृ. 227.
5. पाणिनीकालीन भारतवर्ष पृ. 250,
6. एक्सकवेशन्स एट सोंख, 1977, पृ. 79, चित्र सं. 13

'हेमञ्च कायूरं गीवेय्यं रतनामयं' अर्थात् 'स्वर्णमय कायूर एवं रत्नों वाली ग्रैवेयक से वह सुसज्जित थी । '[1]

सिरकप टीले से चौड़े एवं चपटे (गले से चिपके हुए) आकृति के कण्ठाहार द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के प्राप्त हुए हैं ।[2] सांची के अर्द्धचित्रों में विभिन्न प्रकार के एक से अधिक लड़ियों वाले हार को धारण किये हुए स्त्री– आकृति अंकित है ।[3]

(देखें प्लेट नं. I. चित्र सं. 2. प्लेट- नं. II. चित्र सं. 3, प्लेट नं. III चित्र सं. 1, 2,3)

4– सुवण्णकायूरं–

'सुलसा जातक' से सुलसा नामक काशी की प्रसिद्ध गणिका द्वारा सुवर्णनिर्मित कण्ठाभरण के उपयोग का वर्णन प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भों के अनुसार अपने प्राणों की रक्षा के बदले चौरकर्म मे लिप्त व्यक्ति को सुवर्ण कण्ठा दिये जाने का संदर्भ प्राप्त होता है ।[4]

घ– स्वर्णमय मुद्रिका–

'जातकपालि' से स्वर्णनिर्मित मुद्रिका का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे धनी वर्ग की स्त्री द्वारा उपयोग में लाया जाता था । इसके लिये 'निक्खञ्चु' शब्द प्राप्त होता है ।

निक्खञ्चु

'कामविलापजातक' से निष्क की बनी अंगुली मुद्रिका का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार काशी के धनाढ्य गृहपति के विपदा में फंसे होने पर भी पत्नी को सन्तुष्ट करने के लिए स्वर्णमुद्रिका का पता बताए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'एस उप्पल निक्खञ्चु सीसं, तप्तेतु धनिका गहियाति ।' अर्थात्

'कमल सदृश पोषाक एवं स्वर्ण की अंगूठी मेरे सिरहाने रखी है, जिसे पाकर वह धनेच्छुका संतुष्ट होवेगी ।'[5]

---

1. जातक, सं. 547, खु, नि., भाग-2, पृ. 169, हि. अनु., भा-6, पृ.96.
2. तक्षशिला, ऐन इलस्ट्रटेड अकाउण्ट आव आर्केलॉजिकल एक्सकेवेशन्स, खंड–3, प्लेट–193 नं. 56, 57, 58, 61.
3. मार्शल, दि मान्युमेन्ट्स आफ सांची, जिल्द-2, प्लेट-37.
4. जातकपालि, सं. 419, खु. नि. भा. 1, पृ. 169, हि. अनु., भा-4, पृ. 96.
5. जातकपालि, सं. 297, खु. नि. भा. 1, पृ. 83, हि. अनु., भा-3, पृ. 164.

'क्ट्ठहारी जातक' से अंगूठी का उल्लेख मिलता है जिसे ई. बी. कावेल ने सिगनेट रिंग कहा है । आंगूल शब्द सिगनेट का तात्पर्य हिन्दी में मुहर अथवा छाप से है ।[1] सांची के अंकन में एक यक्षी को दायें हाथ के बीच वाली अंगुली में सम्भवतः अंगूठी पहने चित्रित किया गया है ।[2] निष्क का मुद्रिका के रूप में उपयोग सम्भवतः सिगनेट रिंग प्रकार का रहा होगा ।

च– कटि आभूषण–

जातकों से राजघरानों से संवंधित स्त्रियों द्वारा स्वर्णमय कटिआभूषण अथवा मेखला को उपयोग में लाने का संदर्भ प्राप्त होता है । इसके अन्तर्गत 'जातरूप सुमेखले', 'जातरूप मेखला' एवं 'सुवण्णमणिमेखला' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– जातरूप सुमेखले–

'कुसजातक' से मद्रदेश की राजकुमारी द्वारा स्वर्णनिर्मित मेखला से अलंकृत होने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'जातरूप सुमेखले ।' अर्थात्

'स्वर्ण की मेखला धारण करने वाली ।'[3]

2– जातरूपमेखला–

'महाउम्मग्ग जातक' से काम्पिल्य नरेश की कन्या के सुवर्ण मेखला धारण की हुई राजकन्या की प्रशंसा का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कोसेयूय वसना सामा, जातरूप मेखला ।' अर्थात्

'जो हंसों के समान मधुरभाषिणी है, जिसकी मेखला स्वर्ण की थी ।'[4]

3– सुवण्णमणिमेखला–

'महाउम्मग्गजातक' से ही काम्पिल्य राष्ट्र की राजमहिषी के सौन्दर्य की प्रशंसा विदेह सेनापति द्वारा की जाती है जो सुवर्ण के कटि-आभूषण से अलंकृत थी । यथा–

'सुरत्तपादा कल्याणी, सुवण्णमणिमेखला ।' अर्थात्

---

1. ई. बी. कावेल, जातक, भाग–1, पृ. 28.
2. मार्शल, दि मान्युमेण्ट्स आफ सांची, प्लेट 25.
3. जातकपालि, सं. 531, खु. नि., खं.-3, भा. 2, पृ. 71 हि. अनु., पृ. 375.
4. जातकपालि, सं. 542, खु. नि., खं.–3, भा.2, पृ. 227, हि. अनु., भा.6, पृ. 499.

'जिसके पांव रक्त वर्ण के हैं, जो कल्याणी है, जिसकी मणिमेखला स्वर्ण की बनी है ।'[1]

'चुल्लवग्ग' से 'कटिसुत्तक' नामक कटि आभूषण का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे श्री एम. पी. जोशी ने मोती-माणिक्य व लड़ियों से बना कटि-आभूषण कहा है ।[2] ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि शाक्यसिंह को प्रलोभित करने के लिये अप्सराओं ने स्वर्ण मेखलाओं को प्रदर्शित किया था । भरहुत एवं सांची के अर्द्धचित्रों में क्रमशः खरबुजिया मनकों एवं चौखूटी तख्तियों की बनी सतलड़ी करधनी को धारण किये हुए यक्षिणी, चौलड़ी करधनी, मौलसरी पुष्प के आकार वाले रत्नों से युक्त करधनी तथा गोल मनकों वाली कटिमेखला धारण किये हुए यक्षिणियां चित्रित हैं ।[3] सांची के अंकनों में दोलड़ी, चारलड़ी एवं सतलड़ी पहने स्त्रियों के अंकन प्राप्त होते हैं ।[4] दीदारगन्ज से प्राप्त यक्षी आकृति का कटिप्रदेश किंकणीयुक्त मेखला से अलंकृत है ।[5] बेसनगर से प्राप्त यक्षीप्रातिमा में चारलड़ों वाली मेखला का अंकन प्राप्त होता है ।[6] (देखें- प्लेट. नं. iv चित्र -सं. 1)

2– स्वर्णिम परिधान–

जातकपालि से उच्च घरानों की महिलाओं द्वारा स्वर्णिम पट्टों से सदैव आच्छादित रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये परिधान सम्भवतः सुवर्ण तारों से बुने एवं सुवर्ण रत्नों से जटित होते थे । इनके लिये पालिग्रन्थों में 'हेमजालपटिच्छन्ना' 'कञ्चनजालछन्ना' एवं 'सुवण्णचीरवसने' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– हेमजालपटिच्छन्ना–

'भूरिदत्त जातक' से राजकीय परिचारिकाओं (नागकन्याओं) के स्वर्णजाल से आच्छादित रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'हेमजालपटिच्छन्ना' अर्थात्
'स्वर्णजाल से आच्छादित थीं ।' [7]

---

1. जातकपालि, सं. 542, भा-2, पृ. 227, हि. अनु. पृ. 499.
2. चुल्लवग्ग, हि. अनु., पृ. 195, जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, विनयपिटक के आधार पर भारतीय भौतिक जीवन की झलक, जे. यू. पी. एच. एस, जि. 24-25, 1951-52.
3. भरहुत स्तूप, पृ. 36.
4. मार्शल, दि मान्यूमेण्ट्स आव सांची, प्लेट-22,23 ए, 26, 30, 35 ए.
5. भारतीय कला, पृ. 147, चित्र-160.
6. वही, चित्र-158.
7. जातकपालि, सं. 543, खु. नि., भाग-2, पृ. 236, हि. अनु., भाग-6, पृष्ठ-222.

2– कञ्चनजालछन्ना–

'महानारदकाश्यप जातक' से काञ्चनजाल से आच्छन्न अप्सराओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'अलंकता कञ्चनजालछन्ना ।' अर्थात्
'अलंकृत अप्सराएं कञ्चनजाल से आच्छादित थीं ।' [1]

2–सुवण्णचीरवसने–

'कुस जातक' से मद्रदेश की राजकुमारी के स्वर्णमय चीर को धारण करने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णचीरवसने ।' अर्थात् स्वर्णमय चीर को धारण करनेवाली । [2]

कौसल्यायन जी ने चीरवसन को स्वर्णपत्र कहा है ।[3] 'शतपथब्राह्मण' में 'हिरण्यमात्कान' अर्थात् सुनहरी जरी के काम वाले लंबे वस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4] भरहुत में स्त्री आकृतियों को दुशाला लपेटे हुए दिखाया है जो अलंकृत है । सर अलेक्जेण्डर कनिंघम के अनुसार यदि भरहुत में उत्कीर्ण स्त्री आकृतियों के वस्त्रों को सूक्ष्मता से देखा जाय तो ये सोने के तारों से बुने हुए वस्त्रों के नमूने प्रतीत होते हैं । [5]

(ब) पुरुष वर्ग द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुएँ–

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से उच्च कुलीन वर्ग के पुरुषों द्वारा स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं से विभूषित होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें प्रमुख रूप से युवराजों एवं बौद्ध श्रावकों के उल्लेख मिलते हैं । युवराजों द्वारा स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं में स्वर्णाभरणों, चरणपादुकाओं, स्वर्णमय छत्र एवं ध्वजा के धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । पालि ग्रंथों से बौद्ध श्रावकों के प्रायः स्वर्णमय (स्वर्णरत्नजटित) चरण-पादुकाओं एवं छत्रों को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । ये उल्लेख इनके द्वारा मार्ग में ग्रहण करने (इनके सेवकों द्वारा पीछे लेकर चलने), बौद्ध सभागारों में स्वर्णमय छत्रों को धारण करने तथा लोकधर्म के रूप में विकसित हो रहे बौद्ध-पूजा के अन्तर्गत श्रावकों द्वारा स्तूप के शिखर भाग पर स्वर्णमय छत्र को स्थापित करने के संदर्भ प्राप्त होते हैं ।

---

1. जातकपालि, सं. 545, खु. नि., भाग-2, पृ. 280, हि. अनु., भाग-6, पृष्ठ-279.
2. जातकपालि, सं. 531, पृ. 71, हि. अनु., पृ. 375.
3. वही:
4. प्राचीन भारत में रसायन का विकास, पृ. 30.
5. भरहुत स्तूप, पृ. 20.

(क) स्वर्णनिर्मित आभूषण–

पुरुषों द्वारा प्रयुक्त स्वर्णाभूषण में पालि ग्रंथों से सोने की जंजीर, विभिन्न रत्नों वाली सोने की माला, स्वर्णपरत चढ़े हुए कुण्डल, स्वर्णनिर्मित हस्ताभरण एवं स्वर्णमेखला के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिनका उपयोग युवराजों द्वारा किया जाता था ।

1– स्वर्णनिर्मित कण्ठाहार–

जातकों से स्वर्णनिर्मित कण्ठाहारों के लिए 'कञ्चनवेल' एवं 'सुवण्णमाल' शब्दों के उल्लेख मिलते हैं ।

कञ्चनवेल–

'महाजनक जातक' से मिथिला राज्य के युवराज के सभी अलंकारों से विभूषित सोने की जंजीर को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'राजपूत्ता सव्वालंकार भूसिता,
चित्रवम्मधरा सूरा कञ्चनवेलधारिनो ।' [1]

अर्थात् 'सभी अलंकारों से विभूषित, चित्रित कवचधारी शूरवीर, स्वर्णमालाएँ धारण करने वाले राजपुत्र थे ।'[2]

सुवण्णमालं–

'विधुर जातक' से कंवल लगे व हजार रतन जड़े सुवर्णमाला का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे कुरु राज्य के नरेश द्वारा राजपुरोहित विधुर को उनकी विद्वता से प्रभावित होकर धर्मपूजा के लिये दिया जाता है । यथा–

'सुवण्णमालं सतपलफुल्लं, सकेसरं रतन सहस्स मण्डितं । अर्थात् –

'सुवर्णमाला जिसमें कंवल लगे थे, जो केसर सहित है तथा जिसमें हजार रत्न जड़े हैं । [3]

भरहुत के अंकन में सिरिमा देवता की प्रतिमा में लंबे हार का प्रदर्शन किया गया है । इसमें लम्बे हारों में बुद्ध, धम्म एवं संघ का त्रिरत्न प्रतीकचिन्ह के रूप में प्रभावशाली ढंग से अलंकरण को दर्शाया गया है ।[4] बील महोदय ने इस मणि को सर्वोच्च बुद्ध प्रकट करने वाला त्रिरत्न का पवित्र प्रतीक माना है । [5]सांची के चित्रों

---

1. जातकपालि, सं. 599, खु. नि., खंड-3, भाग-2, पृ. 175.
2. जातक, हि. अनु., पृ. 609.
3. जातकपालि, सं. 546, हि. अनु. पृ. 299.
4. भरहुत स्तूप, पृ. 36.
5. वही.

में पुरुष आकृति के गले में मनकों वाले चौड़े या चपटे हार का अंकन प्राप्त होता है । महास्तूप के उत्तरी तोरण द्वार के स्तम्भ के बाहरी भाग पर अंकित सुवर्णमय यष्टि पर बने खूंटी पर मांगलिक माला लटकाए गए हैं जिसमें धर्मचक्ररत्न बना है ।[1]

2– स्वर्णपरत चढ़ा कुण्डल–

'महानिद्देसपालि' से स्वर्ण परत चड़े कुण्डल का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे नकली वेषधारी द्वारा प्रयोग किया जाता था । यथा–

'कुण्डलो लोहंनुमासो वा सुवण्णछन्नो ।' अर्थात्

'लोहे का बना अथवा उसपर स्वर्णपरत चढ़ा हुआ कुंडल ।'[2]

सांची के अर्द्धचित्रों में पुरुष आकृति को मोती-मणिक्यों वाला कुण्डल पहने चित्रित किया गया है ।[3] मथुरा जिले से प्राप्त परखम यक्ष की प्रतिमा के दोनों कानों में कुण्डल पहने दर्शाया गया है ।[4]

3– स्वर्णनिर्मित हस्ताभरण–

'खण्डहाल जातक' से काशी के युवराज के स्वर्णनिर्मित हस्ताभरणों से सुशोभित होकर राजपरिषद में उपस्थित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'मुत्तामणिकनक विभूसितानि, गण्हस्सु हत्था भरणानि सोभसि राजपरिसाय ।' अर्थात्

'मोती-माणिक्य एवं स्वर्णाभूसित हाथ के आभरणों को धारण कर तू राजपरिषद में शोभा देता है ।'[5]

भरहुत के अंकनों में पुरुषों द्वारा भुजबंध या कंगन पहने हुए चित्रित किया गया है । सर कनिघंम के अनुसार ये सभी नमूने सोने की पट्टियों के बने कंगन या भुजबन्द के रहे होंगे जिसमें कीमती रत्न लगे हैं ।[6] मौर्यकालीन लोककला में पवाया यक्ष की प्रतिमा के बांए हाथ की कलाई एवं बाजू आभूषणों (कंगन एवं भुजबंध) से अलंकृत हैं ।[7] सांची स्तूप के अर्द्धचित्रों में पुरुष आकृतियों की कलाइयां भुजबन्धों से अलंकृत दिखाई गई हैं ।[8] प्रथम शताब्दी ई. के रोमन लेखक कर्टियस ने श्रीमन्त

13617

---

1. भारतीय कला, पृ. 163.
2. महानिद्देसपालि, खु. नि., खंड-5, पृ. 399.
3. मार्शल, दि मान्युमेण्ट्स आव सांची, जि. 2, प्लेट-36.
4. भारतीय कला, पृ. 147, चित्र-156.
5. जातक, संख्या – 544 पृ. 264, हि. अनुवाद, भाग-6, पृष्ठ-180.
6. भरहुत स्तूप, पृ. 34.
7. भारतीय कला, पृ. 147.
8. दि मान्युमेण्ट्स आव सांची, जि. 2, प्लेट–36.

लोगों द्वारा कलाई एवं भुजा में सोने के कड़े एवं भुजबन्ध पहनने का उल्लेख किया है ।[1] भुजबन्ध आजकल बाजूबंध कहलाते हैं । ये सामान्यतया सोने या चांदी के मनकों के बने होते हैं ।[2]

4– स्वर्णमेखला–

'कुसजातक' से कुसीनारा के मल्ल क्षत्रिय युवराज के स्वर्णनिर्मित मेखला धारण करने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'कुसेन जातं खत्तियं, सुवण्णमणिमेखलं ।' अर्थात्

'वह क्षत्रिय कुसराज सुवर्ण मणिमेखला धारण किये हुए था ।[3]

भरहुत के चित्रों में यक्ष कुपीरो एवं नागराज चक्रवाको की प्रतिमा में पेटी को चित्रित किया गया है । कनिघंम ने इसे कमरबन्द कहा है क्योंकि कमर को ढकने के बाद नाभि के ठीक नीचे यह एक लंबी गांठ के रूप में बांधी जाती है तथा इसके दो सिरे घुटनों तक लटकते रहते हैं । इनके अनुसार ये कमरबन्द कपड़े से बनी तथा निःसन्देह रूप से उसपर सोने का काम किया हुआ पेटी है ।[4] स्ट्रैबो ने भारतीयों (पुरुषों) की रुचि के बारे में लिखा है कि अन्य वस्तुओं में कृपण होने के बावजूद भी वे आभूषणों के शौकीन हैं ।[5]

(ख) स्वर्णमय वेशभूषा–

पालि ग्रंथों के द्वितीय चरण से उच्च कुलीन वर्ग के पुरुषों में प्रचलित बहुमूल्य स्वर्णमय वेशभूषा के उपयोग के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसमें स्वर्णिम परिधानों एवं स्वर्ण-रत्न-जटित स्वर्णपादुकाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1- स्वर्णमय परिधान–

स्वर्णमय परिधानों के अन्तर्गत युवराज द्वारा प्रयुक्त 'काञ्चनपट्ट' का उल्लेख प्राप्त होता है । एक अन्य संदर्भ में 'हेमजाल' का संदर्भ प्राप्त होता है जिसकी सादृश्यता आभा में भगवान बुद्ध के त्वचा से की गयी है ।

काञ्चनपट्ट–

'सोणनन्दजातक' से काशी के युवराज नन्द का शिरोभाग काञ्चनपट्ट से सुशोभित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

---

1. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियण्ट इंडिया, पृ. 104, 105.
2. भरहुत स्तूप, पृ. 36.
3. जातक, सं. 531, खु. नि., खंड–3, भाग–2, पृ. 75, हि. अनु., भा.5, पृष्ठ–385.
4. भरहुत स्तूप, पृ. 34.
5. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट, इंडिया, पृ. 104-5.

'कस्स कञ्चनपट्टेन, पुथुना विज्जुवण्णिना ।' अर्थात्
'किस तरुण का तूणीर बिजली समान विशाल सुनहरी पट्टी से बंधा है ।'[1]

भरहुत स्तूप के फलक पर उत्कीर्ण जातक दृश्य में सिंहासन पर आसीन नरेश की प्रतिमा है जिसकी पहचान कनिंघम ने नंद राजा से की है, जिसके सिर एवं वक्षस्थल पट्ट (रेशमी) से आवृत्त हैं ।[2] स्ट्रैबो के अनुसार भारतीयों के वस्त्र सोने एवं बहुमूल्य जवाहरातों से जटित फूल-पत्तियों वाले होते थे ।[3]

हेमजाला–

'महावेस्सन्तर जातक' से भगवान बुद्ध के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं कान्तिमान देहयष्टि को सादृश्यता हेमजाल से की गयी है जो स्वर्णतारों से बुना अथवा सुनहरा वस्त्र था । यथा–

'हेमजालाच दिस्संति' अर्थात्
'हेमजाल की भांति दिखलाई पड़ते हैं ।'[4]

स्ट्रैबो ने स्वर्णखचित पैरों तक लटकते हुए राजकीय लिबास का उल्लेख किया है । [5]

स्वर्णमय चरणपादुका–

जातकों एवं अपदानपालि से सुवर्णमय तथा सुवर्णचित्रित चरणपादुकाओं (खड़ाऊ) के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका उपयोग बौद्ध श्रावकों द्वारा किया जाता था । इसके अन्तर्गत 'सुवण्णविकताचित्ता' एवं 'सोवण्णमयापादुका' के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– सुवण्णविकताचित्ता–

'भूरिदत्त जातक' से कुरुराष्ट्र के युवराज बोधिसत्व भूरिदत्त के सुवर्णखचित, चित्रित खड़ाऊं को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णविकताचित्ता सुकता चित्त सब्बदा ।' अर्थात्
'सुवर्ण खचित, सुकृत, चित्रित खड़ाऊं (को धारण किये हुए)' ।[6]

---

1. जातक, खु. नि., पृ. 82. भाग-2, हि. अनु. भाग- 5, पृ. 404.
2. भरहुत स्तूप, पृ. 28, फलक 25, चित्र- 3.
3. क्लासिक्ल एकाउण्ट्स आव एन्शियण्ट इंडिया, पृ 232.
4. जातक, संख्या – 547, पृ. 362, हि. अनु., भाग– 6, पृ. 589.
5. भरहुत स्तूप, पृ. 29, स्ट्रैबो, ज्योग्राफी, 15.1.71.
6. जातक, खु. नि., भाग– 2, पृ. 282, हि. अनु., भा–6, पृ. 254.

2– सोवण्णमयापादुका–

'अपदानपालि' से बौद्ध श्रावक के बुद्ध को पूर्वजन्म में पादपीठ दान में दिये जाने के सुकृत के फलस्वरूप वर्तमान समय में सुवर्णमय चरणपादुका का उपभोग किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

'सोवण्णमया रूपियमया फलिका वेलुरियमया ।

पादुका अभिरुहामि, पादपीठस्सीदं फलं ।'[1] अर्थात्

'पूर्वजन्म में मेरे पादपीठ के दान का फल है कि मैं इस जन्म में सुवर्णमय रजतमय, फलिकमय एवं वेलुरियमय चरणपादुकाओं का उपभोग कर रहा हूं ।' [2]

सांची के अर्द्धचित्रों में खड़ाऊं के नमूने प्राप्त होते हैं ।[3] कर्टियस ने स्वर्णखचित पदत्राण का उल्लेख किया है ।[4] स्वर्णपादुकाओं को ई. बी. कावेल ने अंग्रेजी में 'गोल्डेन स्लीपर' कहा है ।[5] ऐसा प्रतीत होता है स्वर्णमय तारों अथवा रत्न को जोड़कर चरणपादुकाओं को स्वर्णमय बनाया जाता था ।

(ग) स्वर्णमय अंलकरण की अन्य वस्तुएं –

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से स्वर्णमय अलंकरण के अन्य वस्तुओं में स्वर्णिम ध्वजाओं एवं छत्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्हें राजकीय वाहनों एवं बौद्ध श्रावकों द्वारा धारण किया जाता था ।

1– स्वर्णमय छत्र–

जातक एवं अपदानपांलि से तत्कालीन नरेशों एवं श्रावकों के सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुरुप सदैव स्वर्णमय छत्रों से सुशोभित होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'जम्बोनद सुवण्णं छत्तं', 'छत्ताकन्चनवेलपन्तिका' एवं 'छत्तम सोण्ण-लंकारभूसितं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

जम्बोनद सुवण्णं छत्तं–

'भूरिदत्त जातक' से कुरुराष्ट्र के युवराज को सिर पर सुनहरी छत्र को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार बोधिसत्व भूरिदत्त सुवर्ण छत्र का धारण करके काशी नरेश ब्रह्मदत्त के साथ कोरव्य राष्ट्र में आते हैं जिन्हें देखकर कोरव्य राज्यकर्मी कहते हैं –

---

1. अपदानपालि, खु. नि., खंड– 6, पृ. 64, बुद्धवंस, पृ. 374.
2. शर्मा, ब्रह्मदेव नारायण, हि. अनुवादक (अपदानपालि).
3. मार्शल दि मान्युमेण्ट्स आफ सांची, जि. 2, प्लेट– 36 सी, 48.
4. भरहुत स्तूप, पृ 28.
5. ई. बी. कावेल, जातक, भाग– 6, पृ. 185.

'कस्स जम्बोनद सुवण्णं छत्तं ससलाक मनोरम ।' अर्थात्
'यह सुनहरे खंभों वाला सुनहरी छत्र किसके सिर पर झूल रहा है ।' ।

छत्ताकाञ्चनवेलपन्तिका–

'अपदानपालि' से बौद्ध धर्म प्रसार (सभागार) के स्वर्णमय तोरणों एवं खंभों का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें सभी श्रावक स्वर्णमय पीठासन पर आसीन थे व जिनके शीर्षस्थ भाग पर स्वर्ण छत्र सुशोभित हो रहा था । यथा–

'छत्ता तिट्ठन्तु रतना कञ्चनावेलपन्तिका ।' अर्थात्

'सभी रत्नमय छत्र धारण किये हुए बैठे थे, जो स्वर्णजटित था । वो जालीदार थे । सभी उसे माथे पर धारण करते थे ।'[2]

छत्तम सोण्णलंकारभूसितं–

उपरोक्त संदर्भ में ही स्वर्णमय अलंकारों से विभूषित स्वर्णमय छत्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'यो सो छत्तम धारेसि, सोण्णलंकारभूसितं ।' अर्थात्

'वो जो छत्र धारण किये हुए थे, स्वर्ण के अलंकारो से विभूषित था । [3]

'अपदानपालि' से स्तूप के शिखरभाग पर स्वर्णछत्र स्थापित करने का उल्लेख है ।[4]

स्वर्णिम ध्वजा--

'जातकपालि' से युवराज के राजकीय वाहन पर सुशोभित स्वर्णिम ध्वजा (पताका) का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके लिये 'धजग्गानि कणिकारा व पुप्फिता' शब्द प्राप्त होता है । 'महावेस्सन्तर जातक' से सिविराष्ट्र के युवराज वेस्सन्तर के राजकीय वाहन पर स्वर्णमय ध्वजा सुशोभित होने का उल्लेख प्राप्त है । युवराज द्वारा प्रवजित होकर वनगमन के समय राजमहिषी कहती हैं–

'यस्स पुब्जे धजग्गनि, कणिकारा च पुप्फिता ।
चायन्तमनुयायन्ति स्वज्जेकी व गमिस्सति ॥' अर्थात्

'जिसकी ध्वजाएं पहले सुपुष्पित कर्णिकार की तरह स्वर्णमय थीं तथा जाते समय उसका अनुकरण करती थीं, वह आज अकेला ही जाएगा ।'[5]

---

1. जातक, सं. 543, खु. नि., भाग– 2, पृ. 251, हि. अनु., भा– 6, पृ. 254.
2. अपदानपालि, खु. नि., खंड 6, भाग–1, पृ. 4.
3. वही, पृ. 62.
4. वही, भाग- 2, पृ. 285.
5. जातक, सं. 547. पृ. 335

(स) स्वर्णमय अलंकरणों से सुसज्जित राजकीय पशु–

द्वितीय काल से स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित राजकीय पशु हस्ति, अश्व एवं गौ के उल्लेख मिलते हैं । इन अलंकरण की वस्तुओं में स्वर्णाभूषणों, सुनहरे आवरणों एवं सोने की जंजीर के उल्लेख मिलते हैं ।

1– स्वर्णमय अलंकरणों से विभूषित हस्ति–

जातकों एवं अपदानपालि से राजकीय पशु एवं मंगल का प्रतीक माने जाने वाले हस्ति के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो स्वर्णाभूषणों एवं सुनहरे जालों से आच्छादित रहने के संदर्भ में प्राप्त होते हैं । हस्ति के लिये पालि ग्रन्थों में 'नागराज' शब्द प्राप्त होता है । राजप्रासादों की शोभा होने के साथ-साथ यह समर भूमि में भी निर्णायक भूमिका निभाने में सक्षम होते थे । मंगल के प्रतीक हस्ति का निवास प्रायः हिमालय के समीप पर्वतीय प्रदेश के आसपास ज्ञात होता है जिनका राज्यकर्मियों द्वारा शिकार भी किया जाता था । हस्ति अलंकरण के रूप में मस्तक आभूषण, स्वर्णजालों (चादर) एवं स्वर्णकच्छ के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनके लिये पालि ग्रन्थों से 'सुवण्णकच्छ', 'हेमकप्पनवाससा', 'स्वर्णकायूर' एवं 'हेमजालाभिछन्नं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– सुवण्णकच्छ एवं हेमकप्पनवाससा–

जातकों एवं अपदानपालि से सभी अलंकारों से विभूषित, पृष्ठआकृति पर स्वर्णिम अथवा सुनहरे वस्त्र के आवरण से अलंकृत सहस्त्रों की संख्या में नागराजों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये नागराज तत्कालीन नरेशों की व्यक्तिगत सवारियों, युद्धभूमि में काम आने वाले तथा इन्हें दानादि के रूप में दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं । 'महाजनक जातक' से मिथिला राज्य के, 'सोणक जातक' से राजगृह में, 'महावेस्सन्तर जातक' से सिविराष्ट्र में तथा 'अपदानपालि से सभी अलंकारों से विभूषित एवं सुवर्णकच्छ धारण किये हुए व स्वर्णिम आवरण से आच्छादित राजकीय हस्ति-सेना के उल्लेख मिलते हैं जो राजप्रासादों की शोभा थे । यथा–

'सट्ठि नागसहस्सानि सव्वालंकारभूसिता,
सुवण्णकच्छा मातंगा, हेमकप्पनवाससा ।
आरूढहब्य गामणीयेहि तोमरं कुसपाणिहि ॥[1]

'सभी अलंकारों से विभूषित, जिनकी काछ में स्वर्ण भरा था तथा स्वर्णिम आवरण से कसे साठ हजार हाथी थे जिनपर तोमर तथा अंकुशों वाले ग्रामणी (हथवान) चढ़े थे ।'[2]

1. जातक, संख्या–455, भाग–2, पृष्ठ–218.
2. जातक, सं. 539, 520, 547; अपदानपालि, पृ. 442; हि. अनुवाद,

'महावेस्सन्तर जातक' से सिविराष्ट्र (जेतुत्तर नगर) के युवराज वोधिसत्व वेस्सन्तर द्वारा सभी अलंकारों से विभूषित सहस्त्रों की संख्या में हाथियों को दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1]

कौसल्यायन जी ने सुवर्णकच्छ से तात्पर्य स्वर्ण हूमेल एवं माला से ग्रहण किया है । हूमेल से तात्पर्य आधुनिक काल में घुण्डियों वाली माला से है । अर्थात् चांदी के सिक्कों में हर एक के किनारे पर अलग से एक घुण्डी बनी होती है जिसके बीच में धागा डालने के लिए छिद्र होता है । इसे धागे में पिरो कर तैयार किया जाता है ।[2] सांची महास्तूप के उत्तरी तोरण द्वार पर बने हस्ति अंकनों में मस्तक, कर्ण एवं उर के विभिन्न अलंकारों से अलंकृत चित्रण प्राप्त होते हैं ।[3] इनके पृष्ठ भाग पर बिछावन भी है । 'हत्थधर' नामक आवरण का उल्लेख विनयपिटक[4] से प्राप्त होता है जो विशेष रूप से हाथियों के ऊपर शोभा के लिये ढकने हेतु होता था ।[5] रोमन इतिहासकार स्ट्रैबो ने केश प्रक्षालन उत्सव पर तत्कालिक समाज में प्रचलित राजकीय जूलूस का वर्णन किया है । इसमें सोने, चांदी के झूलों से सजाए हुए हाथी तथा रथों को खींचते हुए अश्व होते थे । इन कतारों में बैलगाड़ियां भी होती थीं । राजसेवकों का समूह प्रक्षालन हेतु बहुमूल्य रत्नों से जटित सोने व चांदी के पात्र लिये रहते थे ।[6] ऐसा प्रतीत होता है सुवर्ण काछ आभरणों से भिन्न स्वर्णमय अलंकरण की वस्तु थी । सम्भवतः हस्ति के पृष्ठ आकृति के दोनों सिरों पर लटकते हुए झूलों अथवा पृष्ठ भाग पर नरेशों के बैठने का आसन होता था जो स्वर्णजटित होता था ।

2– हेमजालाभिछन्नं–

'कुरुधम्म जातक' से मंगल के प्रतीक स्वर्णजाल से आच्छादित हस्ति का वर्णन प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार अकाल आदि प्राकृतिक विपदाओं में तत्संबंधी राज्य में इनका आगमन शुभ माना जाता था, विशेषकर प्राकृतिक विपदाओं को टालने के लिए । कलिंग राज्य में अकाल पड़ने पर यहां के निवासियों की मांग पर कुरू राष्ट्र से मंगल का प्रतीक हस्ति को बुलवाया जाता है जो स्वर्णिम आवरण से सुसज्जित था । इसे कुरू नरेश स्वयं भेजते हैं । यथा–

जातक, 60, 61, पृ. 342, 542. 564.

1. जातक, 547, खु. नि., खंड–3, भाग–2, पृ. 338, हि. अनु., पृ. 542.
2. जातक, भाग–6, पृ. 342; शुक्ल, मारकण्डेय; भारतीय कलाओं तथा औद्योगिक शिल्पों का अध्ययन, पृ. 228.
3. भारतीय कला, पृ. 163
4. चुल्लवग्गपालि, विनयपिटक, पृ. 228.
5. डा. मोतीचन्द्रा, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ. 37.
6. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एंन्शियंट इडिया, पृ. 279

'ददामिं ते नागमेतं अलंकृत हेमजालाभिछन्नं,
ससारथिं गच्छत्थेण कामं ति ॥' अर्थात्

'अलंकृत तथा स्वर्णजाली से ढका हुआ हाथी व साथ में सारथी भी जाने के लिये दे रहा हूं ।'[1]

अर्थशास्त्र में असम के सुवर्ण कुड्य नामक स्थल पर बना स्वर्णकुड्य नामक सूर्य की भांति चमकीले वस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] हस्तिआवरण इसी प्रकार का सुनहरा पट्टा रहा होगा ।

3– सुवण्णकायुरा :

'मातुपोसक जातकं' से हिमालय प्रदेश में पाए जाए जाने वाले नागराजों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके मस्तक स्वर्णमय अलंकारों से विभूषित रहते थे । काशीराज के राज्यकर्मी द्वारा इनका शिकार किया जाता था । यथा–

'सुवण्णकायुरा नागराजं ।' अर्थात्
'सोने के केयूर धारण करने वाले नागराज ।'[3]

भरहुत के चित्रों में हस्ति के शिरोभाग पर झालरनुमा अलंकरण प्राप्त होता है जो गोलाई में मस्तक के चतुर्दिक बंधा हुआ अथवा धारण किये हुए कछुए की आकृति सदृश प्रतीत होते हैं ।[4] सांची महास्तूप के उत्तरी तोरण द्वार पर बने हस्ति आकृति का मस्तक भाग हारनुमा अलंकारों से अलंकृत है ।[5] संस्कृत में इसे ललांतिक अथवा पत्रपश्या कहते हैं । यह आभूषण कभी-कभी सोने के पत्र से बनता था तथा माथे पर बांधा जाता था ।[6] (देंखे-प्लेट नं. IV चित्र सं.२)

(ख) स्वर्णमय अलंकरणों से सुसज्जित अश्व :

जातकों से राजसी गौरव के अनुरूप स्वर्णमय अलंकरणों वाले राजकीय अश्वों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके कर्ण एवं उर स्वर्णमय आभरणों से विभूषित रहते थे । प्रायः राजकीय सवारियों के लिये इनका उपयोग रथ आदि खींचने के लिए किया जाता था । स्वर्णमय अलंकरणों के अन्तर्गत सोने की माला एवं स्वर्णाभूषित कर्णाभरण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'सोवण्ण मालिनो', 'जातरूपमयाकण्णा–सुवण्णस्सउरच्छयो' के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

---

1. जातक, सं. 276, खु. नि. भाग–1, पृ. 75, हि. अनु., भाग–3, पृ. 98.
2. अर्थशास्त्र, 2.13. पृ. 163,
3. जातक, सं. 455 खु. नि., भाग-218, हि अनु., भाग- 5, पृ. 253.
4. भारतीय कला, पृ. 143 चित्र-197.
5. वही, चित्र-246, उत्तरी तोरण द्वार, पृ. भाग.
6. भरहुत स्तूप. हि. अनु., पृ. 32, कोलब्रुक का अमरकोष.

1. सोवण्ण मालिनो :

'महानारदकाश्यपजातक' से विदेह नरेश हेतु कुमुदनी उत्सव में जाने के लिए सुवर्ण माला के अलंकृत श्वेत अश्वों को जोते जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'तत्रासुं कुमुदायुत्ता चत्तारो सिन्धवाह्यया ।
अनिलूपसमुत्पाता, सुदन्ता सोवण्णमालिनो ।।' अर्थात्

'चार कुमुद वर्ण सैन्धव घोड़े जुते थे जो वेग में वायु के सामान थे तथा जिनके गले में सुनहरी माला थी ।'[1]

2. जातरूपमयाकण्णा–सुवण्णस्सउरच्छयो :

'विधुरजातक' से कुरूराज्य की राजधानी इन्द्रप्रस्थनगरी में (राजप्रासाद में) स्वर्ण के कर्णाभरण एवं उर आभरण से अलंकृत अश्व का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

जातरूपमयाकण्ण, कायम्हि खुरा ।
जम्वोनदस्स पाकस्स, सुवण्णस्स उरच्छयो ।।'[2] अर्थात्

'स्वर्णमय कान वाले, स्फटिकमय खुर वाले, लाल जम्बूनद स्वर्ण के आवरण से आच्छादित अश्व थे ।'[3]

सांची के महास्तूप के अंकनों में अलंकारों एवं आवरण से सुसज्जित अश्व का अंकन प्राप्त होता है जिसपर बैठे हुए मनुष्य आकृति चित्रित है[4] । स्ट्रैबों ने उत्सव के अवसर पर राजाओं द्वारा प्रयुक्त व्यक्तिगत राजकीय सवारी के लिए अलंकृत अश्वों द्वारा खीचे गये रथ का उल्लेख किया है ।[5]

(ग) स्वर्णमय अलंकरण से अलंकृत गौ :

'महावेस्सन्तरजातक' से शिवि राष्ट्र के युवराज दानी वेस्सन्तर राजा के वनगमन के पूर्व स्वर्णिम रज्जुओं (सीकड़) से बंधी हुयी तथा स्वर्णिम अलंकारों से सुसज्जित सात सौ गोवें दान में देने का सन्दर्भ प्राप्त होता है । यथा–'सन्नद्धा निक्खरज्जूहि, सुवण्णेहि अलंकता ।' अर्थात्

---

1. जातक, सं. 545, खु. नि. भाग–2पृ. 267-70, हि. अनु., भा–6, पृ.261.
2. जातक, सं.546, खु. नि., भाग–2, पृ. 290.
3. जातक, हि. अनु., भाग-6, पृ. 306.
4. भारतीय कला, पृ. 163.
5. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 232.

'स्वर्णमय रज्जू से बंधी हुयी, स्वर्ण से अलंकृत[1] (सात सौ गायों को दान देकर प्रस्थान किया) ।'

इस प्रकार द्वितीय काल से ज्ञात सुवर्णमय अलंकरण की वस्तुओं में सर्वाधिक विवरण स्वर्णाभरणों के प्राप्त होते हैं । यह उल्लेख परिगणना की दृष्टि से ही नहीं अपितु विभिन्न उपयोगों एवं विविधता की दृष्टि से भी ज्ञात होते हैं । इस काल तक आते-आते नवीन प्रकार के स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं में स्वर्णाभरणों के अन्तर्गत चिमटी, कायूर (शिरोभूषण), निष्क, सोने की जंजीर, कायूर (कण्ठाभरण), कटिआभूषण, परिधानों में काञ्चनपट्ट (पगड़ी) तथा पुरुषों द्वारा प्रयुक्त स्वर्णमय छत्र के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन उल्लेखों के अतिरिक्त पालि ग्रंथ के द्वितीय चरण से स्वर्णमय झालर से बौद्ध स्थापत्य (तोरण द्वार) को अलंकृत किये जाने का संदर्भ भी प्राप्त होता है । यथा–

'हेमजालेन सन्छन्नां सोण्णकिंकिणिकायुता ।'
वातवेगेन पूजन्ति सोण्णमाला मनोरमा ।।'[2] अर्थात्

'सुवर्ण जाल से आच्छन्न एवं स्वर्ण किंकिणी युक्त वह (खम्भा) था । हवा के झोकों से वह लड़ियों वाली सुवर्णमय माला आवाज करती थी ।'

इन विवरणों के अतिरिक्त पालि ग्रंथों के दोनों चरणों से विशिष्ट व्यक्तियों के तेजस्वी व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने के लिये, उच्च कुलीन वर्ग के स्त्री पुरुषों के कान्तिमान देहयष्टि को प्रदर्शित करने के लिये, पशु-पक्षियों के सुनहरे आभा के होने तथा सौन्दर्य प्रसाधन में प्रयुक्त लेप आदि को वर्ण सादृश्यता के संदर्भ में सुवर्ण शब्द के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

पालि ग्रंथों के दोनों चरणों से प्राप्त सुवर्णमय अलंकरण की वस्तुओं का परिगणना की दृष्टि से प्राप्त उल्लेखों की तालिका दी गयी है जो इस प्रकार है–

1. जातक, सं. 547, खु. नि. भाग-2 पृ. 338, हि. अनु., भाग-6, पृ. 542.
2. अपदानपालि, खुद्दकनिकाय, खंड–6, पृष्ठ–2;

स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं की तालिका

		स्त्री	पुरुष	पशु	अन्य	प्रथम काल	द्वितीय काल
(क)	**स्वर्णाभूषण**						
1–	केशराशि में प्रयुक्त अलंकार						
	वेणी	1	–	–	–	1	–
	चिमटी	1	–	–	–	–	1
2–	मस्तक आभूषण						
	ललाटिका	1	–	–	–	–	2
	संकच्च (कच्छ)	–	–	6	–	2	4
	कायूर	1	–	1	–	–	2
3–	कण्ठाहार						
	माला	2	1	2	2	4	3
	ग्रैवेयक	–	–	–	2	1	2
	कम्बुसदृश हार	1	–	–	–	1	–
	निष्कनुमा हार (लॉकेट)	1	–	–	–	–	1
	कायूर	1	–	–	–	–	1
	जंजीर	1	1	–	–	–	2

		स्त्री	पुरुष	पशु	अन्य	प्रथम काल	द्वितीय काल
4–	कर्णाभरण						
	कुण्डल	–	2	–	1	2	1
5–	अंगूठी						
	मुद्रिका	1	–	–	1	2	–
	पट्टिका	–	–	–	1	1	–
	मुहरनुमा मुद्रिका (निष्क)	1	–	–	–	–	1
6–	हस्ताभरण						
	बाजूबंद	1	–	–	–	–	1
	चूड़ी या कंगन	–	1	–	–	–	1
7–	कटि आभूषण						
	मेखला	3	1	–	–	–	4
8–	पाजेब	1	–	–	–	1	–
(ख)	**वेशभूषा :**						
1–	पगड़ी	–	1	–	–	–	1
2–	दुःशाला	–	1	–	–	1	–
3–	स्वर्णजाल	3	1	6	–	4	5
4–	चरणपादुका	–	4	–	–	2	2

		स्त्री	पुरुष	पशु	अन्य	प्रथम काल	द्वितीय काल
(ग)	**अन्य अंलकरण की वस्तुएं :**						
1–	छत्र	–	5	–	–	–	5
2–	चंवर	–	1	–	–	1	–
3–	ध्वजा	–	–	6	–	2	4
4–	हौदा	–	–	–	1	–	1

उपरोक्त तालिका को देखने से स्पष्ट रूप से द्वितीय काल तक आते-आते स्वर्णाभूषणों विशेषकर कंठाहारों के नवीन प्रकारों के साथ-साथ अलंकरण की अन्य वस्तुओं का प्रचलन बढ़ता हुआ परिलसित होता है ।

PLATE-1

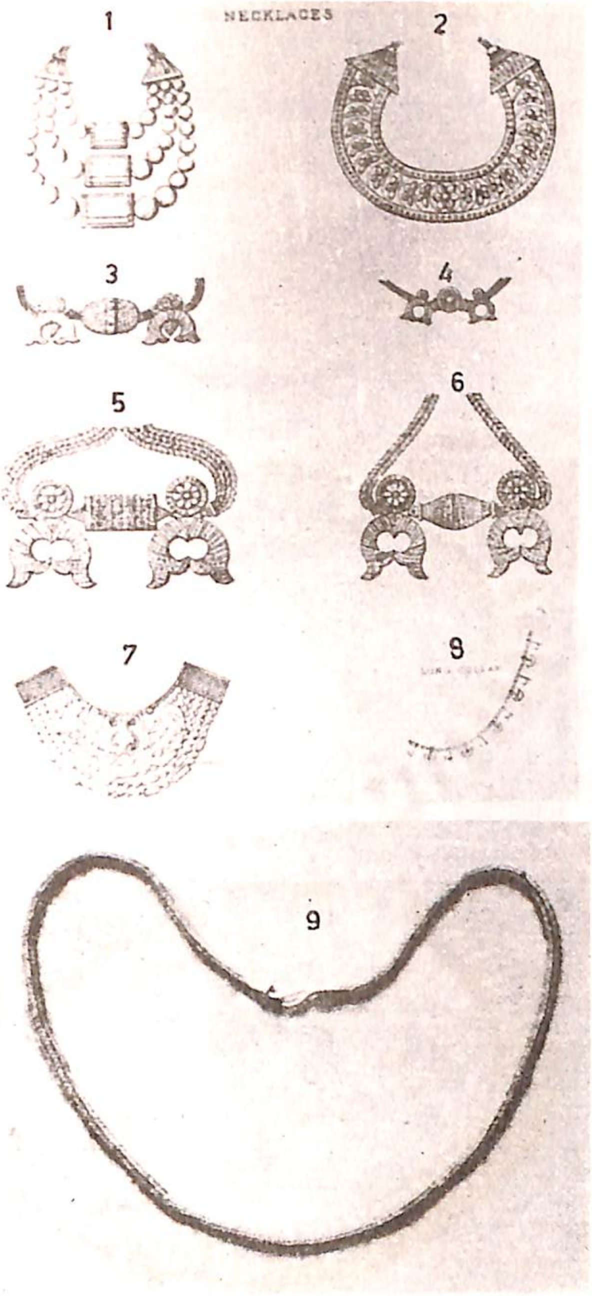

ग्रैवेयक 2,7 ; कम्बुस दृश्यहार 3,4,5,6 ; निष्क कंठा 1; जंजीर प्रकार

PLATE-2

1

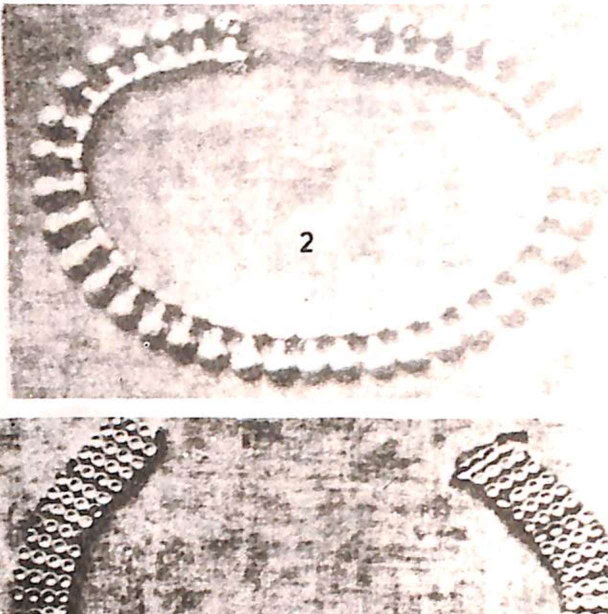

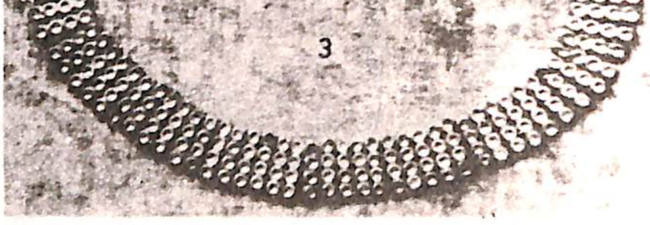

ग्रैवेयक 3 ; निष्ककंठा एवं सुवर्णमाला 1,2

PLATE-3

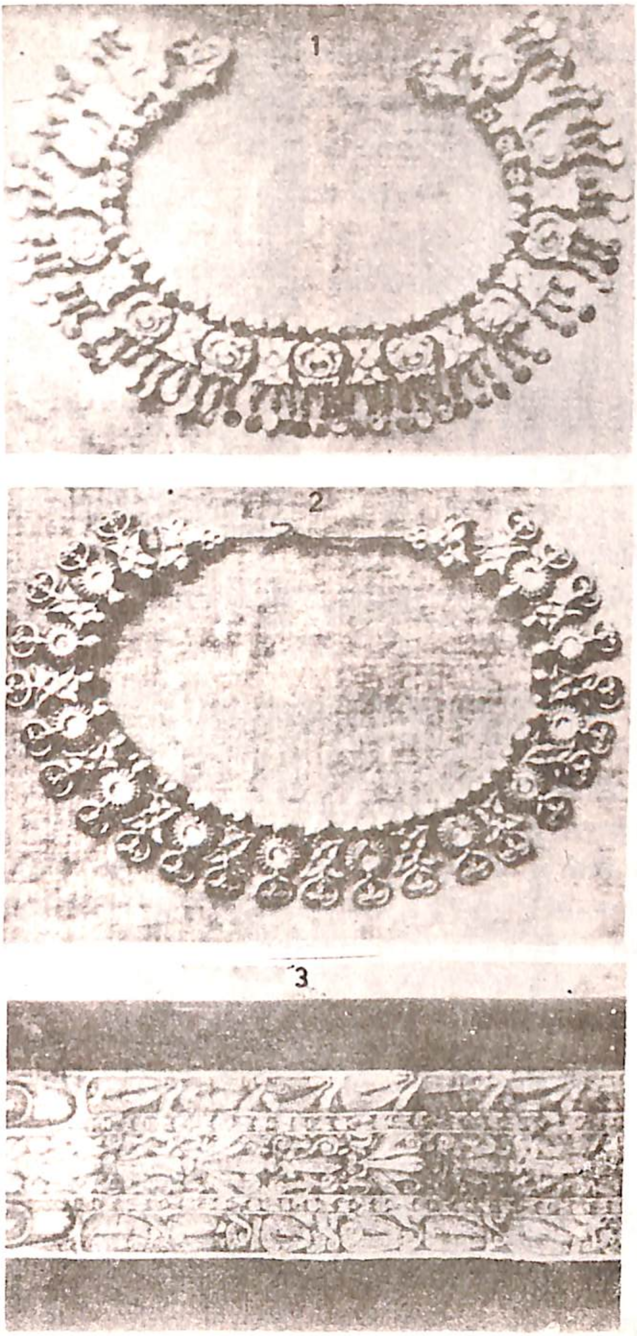

ग्रैवेयक 1,2,3

PLATE-4

1

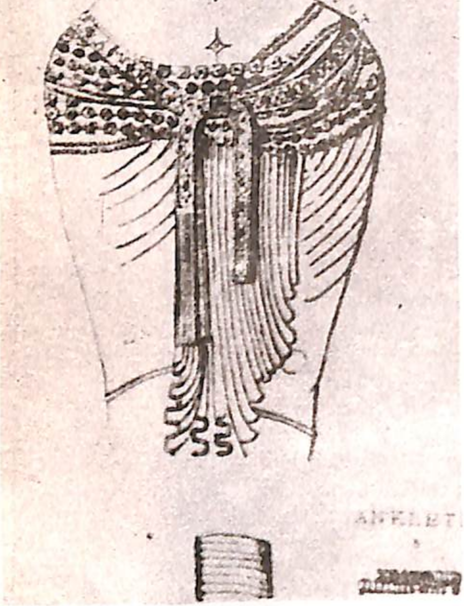

2

3

कटिआभूषण 1; हस्तिआभूषण 1,2 ; (कच्छ व कायूर) ; जेतवन दृश्य 3

सुवर्ण धनराशि :

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों से धनाढ्य वर्ग के संचित कोषागारों, भिक्षादि में प्रयुक्त दान-दक्षिणा एवं क्रय-विक्रय के रूप में प्रचलित सुवर्ण धनराशि के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । उपयोग की दृष्टि से इन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बांटा गया है । यथा – संपत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि एवं मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि । संपत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि के अन्तर्गत संपन्न वर्ग के अथाह रूप से संगृहीत अथवा परिपूर्ण कोष्ठागारों, इनके द्वारा भिक्षादि कार्यों तथा दानादि में प्रयुक्त प्रभूत मात्रा में सुवर्ण धनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अंतर्गत 'सुवर्ण-चूर्ण; 'हिरण्य-सुवर्ण', 'हिरण्यपूरानि'; 'सुवर्ण-पूरानि' एवं 'जातरूप' शब्द व्यवहृत हुए हैं । सुवर्ण चूर्ण को धनराशि के रूप में व्यवहृत करना तत्कालीन समाज में प्रभूत मात्रा में सुवर्ण कणों की प्राप्ति का संकेत देता है । मुद्रा सूचक धनराशि के अन्तर्गत क्रय-विक्रय एवं भिक्षादि के संदर्भ में सहस्त्रों की संख्या में स्वर्ण धनराशि के उपयोग पर प्रकाश पड़ता है जो तात्कालिक समाज में आर्थिक मानदण्ड के रूप में प्रचलित सुवर्ण के मुद्रासूचक धनराशि के रूप में नियत भार की वस्तु होने का स्पष्ट साक्षी है । मुद्रासूचक अर्थों में पालि ग्रन्थों से 'सतहस्र निष्क', 'सतहस्र हिरण्य' एवं 'कोटिक-हिरण्य' के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

प्रथम काल :

प्रथम काल के पालि ग्रंथों से सुवर्ण धनराशि के अन्तर्गत संपत्तिमूलक धनराशि के बहुधा एवं मुद्रा सूचक धनराशि के सीमित रूप से उल्लेख प्राप्त होते हैं । संपत्ति मूलक धनराशि में भिक्षादि के संदर्भ में, तत्कालीन नरेशों एवं श्रेष्ठि वर्ग के संचित कोषागारों तथा इनके द्वारा प्रदत्त दानादि कार्यों के संदर्भ में स्वर्णधनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । मुद्रा सूचक धनराशि के अन्तर्गत क्रय-विक्रय के रूप में व्यवहृत सहस्त्रों की संख्या वाले सुवर्ण धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है ।

1. संपत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि :

संपत्तिमूलक धनराशि के लिए पालि ग्रंथों से 'सुवर्णचूर्ण', 'सुवर्णपुरानि, 'हिरण्यपूरानि' एवं 'जातरूप' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) सुवर्ण चूर्ण :

'संयुक्तनिकाय' के 'रूपियपाति सूक्त' से बौद्ध भिक्षु के बहुमूल्य वस्तु के प्रलोभन से विरत रहने के संदर्भ सुवर्णचूर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार यदि भिक्षु को सुवर्ण चूर्ण से परिपूर्ण चांदी की थाली दी जाय तो भी वह झूठ नहीं बोलेगा । यथा–

'न चायमायस्सा रूपिय पातिया पि सुवण्ण चुण्ण परिपूराय हेतु सम्पजान-मुसा.....सिक्खितब्बं ति ।' अर्थात्

'वह भिक्षु सुवर्ण चुर्ण से परिपूर्ण रजत की थाली के लिए भी जानबूझकर झूठ नहीं बोलेगा ।'[1]

पांचवी शताब्दी ई.पू. के यूनानी लेखक हेरोडोट्स ने सिधुं-उपत्यका से (विशेषकर सिंध एवं काबुल की नदियों के तटवर्ती भाग से) सुवर्णकणों की प्राप्ति का उल्लेख करते हुए भारतीय कर के रूप में 360 टेलेन्ट स्वर्ण 'धूलि' के रूप में दिये जाने का उल्लेख किया है । ये कर सिंधु उपत्यका के एक भाग का था जिसे भारतीय नरेश (तक्षशिला) द्वारा ईरानी नरेश को प्रतिवर्ष दिया जाता था । हेरोडोटस के अनुसार भारत में सुवर्ण एवं रजत का अनुपात 1 : 8 तथा ईरान में 1:13 था ।[2] मैकडोनाल्ड के अनुसार यहाँ सुवर्ण इतना सस्ता था कि भारत में सोने के सिक्कों का ढाला जाना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं था । सिकंदर के डेरिक (स्वर्णमुद्रा) की उत्खननों में अनुपलब्धि (अत्यल्प संख्या में प्राप्त) तथा सिग्लोई (चाँदी की मुद्रा) की प्राप्ति का भी यही कारण था ।[3] कनिंघम ने सुवर्ण के सस्ते होने का उल्लेख किया है ।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि हेरोडोट्स का अभिप्राय भी यहां पर प्रभूत मात्रा में स्वर्ण कणों की प्राप्ति के आधार पर रहा होगा । बौद्ध कालीन भारत में भारतीय नदियों के तटवर्ती भागों से स्वर्णकण अधिकता से प्राप्त किये जाते थे (इसका विस्तृत विवरण इस अध्याय के अंत में सुवर्ण प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोतों के अन्तर्गत दिया गया है) । प्रभूत मात्रा में सुवर्ण कणों की प्राप्ति के कारण इसे धनराशि के रूप में व्यवहृत करना संभवतः आर्थिक दृष्टि से अलाभप्रद नहीं रहा होगा, विशेषकर ऐसे भूभागों में जहाँ की नदियों से (सिंधु आदि) सुवर्ण कण अधिकता से प्राप्त किये जाते थे ।

(ख) सुवर्णपूरानि :

अंगुत्तरनिकाय' के 'वेलामसुत्त' से श्रावस्ती के धनी ब्राह्मण गृहपति के अथाह सुवर्ण धनराशि का वर्णन मिलता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार गृहपति महादान के अवसर पर सुवर्ण से परिपूर्ण चौरासी हजार रजत की थाली दान में देते हैं । यथा–

'चतुरासीति रूपियपाति सहस्सानि अदासि सुवण्णपूरानि ।'

अर्थात् 'सुवर्ण से परिपूर्ण चौरासी हजार रजत की थाली महादान में दिये ।'[5]

---

1. संयुक्तनिकायपालि, खंड-2-3, पृ. 195; काश्यप जगदीश एवं भिक्षु धर्मरक्षित, (हि. अनु.), भाग-1पृ. 291.
2. डा. सत्यप्रकाश, काएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 85-86, हेरोडोटस, पृ.94, 102.
3. ए. न. मौ., पृ. 124.
4. कनिघंम, काएन्स आफ एन्शियंट इंडिया फ्राम दि अर्लिएस्ट टाइम्स टू द सेवेन्थ सेन्चुरी, पब्लिश्ड पत्र, 1891, लंदन.
5. अंगुत्तरनिकायपालि, खं.4, पृ. 36, हि. अनु. भा-4, पृ. 33.

(ग) हिरण्यपूरानि :

उपरोक्त संदर्भ में ही गृहपति द्वारा कांस्य थाली में रखकर अपार हिरण्य धनराशि के दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

चतुरासीति कंसपाति सहस्सानि अदासि हिरण्यपूरानि ।'

अर्थात् 'हिरण्य से परिपूर्ण चौरासी हजार कांसे की थाली दान में दिये ।'[1]

(घ) हिरण्य-सुवण्णस्स :

'मज्झिमनिकाय' के 'रट्ठपालसुत्त' से श्रावस्ती के प्रवजित राष्ट्रपाल नामक श्रेष्ठि के संचित अपार हिरण्य सुवर्ण धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसकी बड़ी राशि करवाकर परिवार जनों में बँटवाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'हिरण्य-सुवण्णस्स पुञ्जं विवरापेत्वा ।' अर्थात्

'हिरण्य-सुवर्ण की बड़ी राशि करवाया ।'[2]

(च) हिरण्यसुवर्णे :

'दीघनिकाय' के 'महासुदस्सनसुत्त' से कुसीनारा के धनी श्रेष्ठि के पास अथाह हिरण्यसुवर्ण धनराशि होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यह धनराशि श्रेष्ठि द्वारा कलश में भरकर जलधारा में रखा गया था । नगर श्रेष्ठि कलश में भरे इस धनराशि को कुसीनारा नरेश के मांगने पर जलधारा से निकाल कर उन्हें प्रदान करते हैं । यथा–

'उभोहि हत्थेहि उदकं ओभासित्वा पूरं हिरण्यसुवण्णस्स ।' अर्थात्

उसने दोनों हाथों से जल के अंदर रखे हिरण्य-सुवर्ण से परिपूर्ण कलश को बाहर निकाला ।'[3]

'प्रथम शताब्दी ई. के तमिल संगम साहित्य 'मामूल्नार' में नन्द राजा के अपार सुवर्ण धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे उसने गंगा नदी में छिपाकर रखा था ।[4] ऐसा प्रतीत होता है अपार सुवर्ण धनराशि को सुरक्षा की दृष्टि से नदी की जलधारा में एक निश्चित जगह में रखने की प्रथा थी ।

(छ) जातरूप :

सम्पत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि के अन्तर्गत जातरूप के विभिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसे प्रायः बौद्ध श्रमणों के नियम-निर्देश के अन्तर्गत ग्रहण करने व ना करने के अन्तर्गत उद्धृत किया गया है । जातरूप का उल्लेख प्रायः रजत के साथ प्राप्त होता

---

1. वही.
2. मज्झिमनिकायपालि, खंड-2, पृ. 288, हि. अनु. पृ. 333.
3. दीघनिकायपालि, खंड-2, पृ. 135, हि. अनु., पृ. 159.
4. रायचौधरी, हेमचंद्र; 'पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियंट इंडिया', पृष्ठ - 20, 31.

है । इसके लिए 'जातरूप रजतो', 'रजतजातरूप' एवं 'जातरूपरजत' आदि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

छ–1 : जातरूपरजतो :

'दीघनिकाय' के 'कूटदन्तसुत्त', 'संयुक्तनिकाय' के 'जरामरणसुत्त' एवं 'दीघनिकाय' के 'लक्खणसुत्त' से क्रमशः धनी गृहपति वर्ग के अथाह जातरूप सुवर्णधनराशि वाला होने तथा चक्रवर्ती नरेश होने के लक्षणों में से एक जातरूप धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'महाद्धनो महाभोगो पहूत जातरूपरजतो पहूत वित्तूपकरणो पहूत धन्धञ्ञो परिपुण्णं कोस कोट्ठागारो ।' अर्थात्

'महाधनी, महाभोगवान के बहुत से सोने-चाँदी, बहुत से वित्त उपकरण व धनधान्य से परिपूर्ण कोषागार वाले होते हैं ।'[1]

छ 2 : जातरूपरजत :

निकायों एवं विनयपिटक से जातरूप धनराशि के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग भिक्षुओं के लिए विहित नहीं था । प्राप्त संन्दर्भ के अनुसार भिक्षुओं का एक बड़ा समूह (वैशाली के) भिक्षा में सोना चांदी ग्रहण करता था । ऐसे भिक्षुओं की पालि ग्रंथों में भर्त्सना की गई है यथा–

'समणा सक्य पुत्तिया अपेत जातरूप रजत निक्खित मणि-सुवण्णा जातरूप रजता'' ति । 'सक्य पुत्तियान जातरूपरजतं सादियन्ति अविद्दसु ।' अर्थात्

'शाक्य पुत्रों को सोना-चाँदी ग्रहण करना विहित नहीं है । श्रमण शाक्यपुत्र सोना-चाँदी ग्रहण करते हैं । सुवर्ण-रजत ग्रहण करने वाले शाक्यपुत्र अज्ञानी होते हैं ।'[2]

(2) मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों में तत्कालीन समाज के श्रेष्ठि वर्ग द्वारा सहस्त्रों की संख्या में क्रय-विक्रय में स्वर्ण धनराशि के प्रयुक्त किये जाने तथा भिक्षादि के संदर्भ में स्वर्ण धनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'सक्टेहि हिरञ्ञं', 'सतसहस्स हिरण्य' एवं 'सतहसस्सानि निक्खस्स' शब्द प्राप्त होते हैं ।

---

1. दीघनिकायपालि, खंड-1,पृ. 155, संयुत्तनिकाय, खंड-1, पृ. 70, दी. नि. पा., 3/7, हि. अनु., पृ. 50 (दी. नी.) सं. नि., पृ. 69.
2. चुल्लवग्गपालि, पृ. 549, संयुत्तनिकाय, खंड-4, पृ. 287,-89, अंगुत्तरनिकायपा., खंड-2, पृ. 55-56, हि. अनु., पृ. 586-89 (संयुक्तनिकाय).

(क) सक्टेहि हिरञ्ञं :

'विनयपिटक' के 'चुल्लवग्ग' से क्रयविक्रय के संदर्भ में कोटिशः हिरण्य के उल्लेख प्राप्त होते हैं । चुल्लवग्ग से प्राप्त संदर्भ के अनुसार श्रावस्ती के धनी श्रेष्ठि अनाथपिण्डक सहस्त्रों कोटि के हिरण्यों से जेतवन को क्रय करते हैं । ये धनराशि जेतवन के क्षेत्रफल के बराबर था । यथा–

'अनाथपिंडिको गहपति सक्टेहिहिरञ्ञं निब्बाहपेत्वा जेतवनं कोटि संथारं संथरापेति ।' अर्थात्

'अनाथपिंडक गृहपति ने गाड़ियों में हिरण्यों को लदवाकर कोटि-कोटि मुद्राओं की भांति भूमि पर बिछा दिया ।'[1]

'चुल्लवग्ग' में जेत कुमार के पास सहस्त्रों की संख्या में हिरण्य होने तथा वैशाली के भिक्षुओं द्वारा हिरण्य को व्यवहार में लाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] भरहुत स्तूप के अंकन में उपरोक्त उल्लेख का दृश्य चित्रित किया गया है जहाँ निश्चित आकृति की वस्तु को असंख्य संख्या में भूमि पर बिछाने एवं तत्सम्बन्धी लेख भी प्राप्त होता है । यथा - 'अनाथपिंडको देति कोटि समुव्ययेन केता ।'[3] (देखें-प्लेट नं. iv , चित्र सं. 3, पृ. सं. 68)

(ख) सतसहस्रहिरण्य :

'अंगुत्तरनिकाय' से श्रावस्ती के गृहस्थ भिक्षु के पास सहस्रों की संख्या में हिरण्य धनराशि होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

'सतसहस्सानं हिरञ्ञस्स, को पान·वादो रूपियस्साति' । अर्थात्

'उसके पास शतसहस्र हिरण्य हैं, रूपियों का तो कहना ही क्या।[4]

पाणिनी ने परिमाणवाची हिरण्य धन एवं द्विसुवर्ण धन अर्थात् दो सुवर्ण सिक्कों की पूंजी का उल्लेख किया है ।[5] कौटिल्य ने हिरण्य-सुवर्ण का उल्लेख किया है जिसे सामशास्त्री ने 'हिरण्यसुवर्ण'पद के अर्थ में माना है । इनके अनुसार हिरण्य का अर्थ पासा (बार गोल्ड) तथा सुवर्ण को मुद्रा के अर्थ में गृहीत किया है ।[6] डा. भण्डारकर के अनुसार अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी । उसी को जब सिक्के के रूप में ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे ।[7]

---

1. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 78, चुल्लवग्गपालि, पृ. 253
2. चुल्लवग्गपालि, पृ. 253,222, 234, 416.
3. भरहुत स्तूप, हि. अनु., पृ. 78. फलक-55, चित्र सं.1
4. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-3, पृ. 155, हि. अनु. भाग-3, पृ. 141.
5. अष्टाध्यायी, 6. 2. 55.
6. अर्थशास्त्र, 11.19.1-8, 11, 19,10 (103); पाणिनीकालीन भारत, पृष्ठ-253.
7. भण्डारकर, डी. आर.; प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ. 51.

(ग) सतसहस्सानिनिक्खस्सा :

'संयुक्तनिकाय' के 'लाभसत्कारसुत्त' से बौद्धभिक्षु के प्रलोभन आदि से विरत रहने के संदर्भ में सहस्रों की संख्या में सुवर्ण निष्कों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'सतसहस्सानि सुवण्णनिक्खस्स पि हेतु सिक्तिब्वं" ति ।' अर्थात्

'शतसहस्र सुवर्ण निष्क के लिंये भी वह झूठ नहीं बोलेगा ।'[1]

अथर्ववेद में एक ऋषि को किसी राजा द्वारा आचार्य शुल्क के रूप में 100 निष्कों, 1000 गायों व 300 अश्वों को देने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] ब्राह्मण साहित्य में विद्वान उद्दालक आरूणि द्वारा अपनी ध्वजा में निष्क धारण करने तथा शास्त्रार्थ में विजित विद्वान को निष्क देने की घोषणा किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] पाणिनी ने 'नैष्किक' अर्थात् निष्क से मोल ली हुई, 'द्विनैष्किकम' या 'द्विनिष्कम्' एवं त्रिनिष्कम' का उल्लेख वस्तु के लेनदेन के अर्थ में किया है ।[4] डा. वी. एस. अग्रवाल के अनुसार निष्क सम्भवतः गहने की तोल व आकृति व्यवहार में निश्चित मान की हो गई हो और लेनदेन या अदला-बदली अथवा गिरवी रखने में निष्क का व्यवहार होने लगा हो । बाद में ये नियत भार की सुवर्ण मुद्रा बन गयी होगी ।[5] डा. सत्यप्रकाश ने लेनदेन के रूप में व्यवहृत होने के कारण निष्क को निश्चित भार वाली स्वर्ण मुद्रा कहा है ।[6] डा. विशुद्धानन्द पाठक महोदय ने निष्क को सुवर्ण वस्तु में मुद्रा व आभरण से समीकृत किया है । पाठक महोदय ने प्राचीन आहत मुद्राओं पर अंकित सूर्य की रश्मियों व गोलाकार चिन्हों (तश्तरीनुमा) की पहचान निष्क मुद्रा से की है ।[7]

(घ) जातरूप :

'विनयपिटक' से सुवर्ण की प्रचलित मुद्रा के अर्थ में जातरूप का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका वर्ण शास्ता की भांति था । प्राप्त संदर्भ के अनुसार जातरूप, रजत के कहापण एवं ताम्र-लोह के मासा की भांति व्यवहार में प्रचलित थी । यथा–

'जातरूप नाम सत्थुवण्णो, रजतं नाम कहापणो,
लोह मासो जतुमासो दारूमासो ... यो वोहारं वुच्चति ।' अर्थात्

1. संयुक्तनिकायपालि, खंड-2, पृ. 195, हि. अनु., भाग-1, पृ. 291.
2. अर्थववेद, 127.3; काएन एज़ आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 247.
3. काएन एज़ आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 247; गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग ।।. 6.
4. अष्टाध्यायी, खंड-1.20, 30; खंड-2, 119.
5. पाणिनीकालीन भारत, पृ. 250.
6. काएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 244.
7. पाठक, विशुद्धानन्द; आहत, एंसैमान्तिक स्टडी वा. 54, पृ. 7-8.

'सत्थुवर्ण जातरूप, रजत का नाम कहापण, लोहे के मासा (ताम्र-लौह), लाख एवं लकड़ी के मासे होते थे जो व्यवहार में व्यवहृत किये जाते थे ।'[1]

पाणिनी ने परिमाणवाची जातरूप का उल्लेख किया है ।[2]

द्वितीय काल :

प्रथम काल की भाँति द्वितीय काल के बौद्ध पालि ग्रन्थों से भी विभिन्न संदर्भों में सुवर्ण धनराशि के दोनों प्रकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इस काल तक आते-आते सम्पत्तिमूलक सुवर्ण धनराशि के साथ-साथ मुद्रा सूचक धनराशि का प्रचलन उच्च वर्ग में बढ़ गया था । सम्पत्तिमूलक धनराशि में जहाँ तत्कालीन नरेश के पास ढेरियों सुवर्ण राशि (धूलि) के संग्रह के नवीन संदर्भ प्राप्त होते हैं वहीं मुद्रासूचक अर्थों में सहस्रों की संख्या में स्वर्ण निष्कों के आर्थिक मानदण्ड के रूप में बढ़ते प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । इस काल में सहस्रों निष्कों को आचार्य शुल्क, (प्रायश्चित स्वरूप निष्क को दिये जाने), मार्गव्यय (किराया) तथा विपदा आदि परिस्थितिविशेष में उपयोग में लाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जातकपालि से ज्ञात होता है कि आचार्य शुल्क देने के लिए सामान्य वर्ग के विद्यार्थियों द्वारा भिक्षादि में निष्क को प्राप्त करना पड़ता था । विशेषकर तक्षशिला के शिक्षा केन्द्र से शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थी को किसी प्रकार एक निश्चित संख्या में निष्क की आचार्य शुल्क के रूप में व्यवस्था करनी होती थी ।

सम्पत्तिमूलक सवर्ण धनराशि :

जातकों, निद्देसपालि एवं मिलिन्दप्रश्नपालि से तात्कालिक नरेशों व धनी क्षत्रिय वर्ग के अपार धनसंपदा के संचयन के संदर्भ में सुवर्णधनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'रासीसुवण्णस्स', 'धञ्ञंजातरूप', 'रजतंजातरूपं' एवं 'हिरण्यसुवर्ण' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) रासीसुवण्णस्स :

'चपेय्य जातक' से वैभवशाली चंपानगरी में चम्पा नरेश के राजभवन में ढेरियों सुवर्ण राशि (धूलि) होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो चंपानदी से प्रभूत मात्रा में धूलि के रूप में स्वर्णकण प्राप्त किये जाने का संकेत देता है । यथा–

'इदं च मे जातरूपं पहूत, रासी सुवण्णस्स च तालमत्ता ।' अर्थात्

'यहां बहुत सा सोना है । ताड़वृक्ष जितनी सोने की ढेरियां लगी हैं ।'[3]

1. चुल्लवग्गपालि, पृ. 333, हि. अनु., पृ. 19
2. अष्टाध्यायी, 4.3.153.
3. जातक, सं. 506, पृ. 341, हि. अनु. पृ. 56.

(ख) धञ्ञं जातरूपं : जातरूपञ्ञ च

जातकों एवं मिलिन्दप्रश्नपालि से राजाओं एवं धनी गृहपति के संचित कोष के संदर्भ में जातरूप धनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । 'महाजनक जातक', 'महाहंस जातक', निमि जातक', 'छद्दन्त जातक' से जातरूप धनराशि से परिपूर्ण राजाओं के कोष तथा 'कुम्भ जातक', 'भिस जातक', एवं 'मिलिन्दप्रश्नपालि' में धनी गृहपति वर्ग द्वारा संचित जातरूप धनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[1] यथा–

'धञ्ञं जातरूपं । कोसागच्छति रजतं जातरूपञ्ञ च ।'

जातरूपं च ।'

(ग) हिरण्य-सुवर्ण :

जातकों एवं निद्वेसपालि से नरेशों एवं नी क्षत्रिय वर्ग के पास प्रभूत मात्रा में हिरण्य धनराशि के संचयन के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

यथा–

'बहु हिरञ्ञं परिच्चजन्ता ।' अर्थात्

'बहुत सा हिरण्य प्राप्त करके ।' [2]

'हिरण्य सुवण्णं वा ।' [3]'गावो दासो हिरञ्ञं च ।'[4]

डा. सत्यप्रकाश जी ने हिरण्य सुवर्ण को सोना-चांदी (बुलियन) कहा है ।[5]

मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि :

मुद्रासूचक धनराशि के अन्तर्गत सहस्त्रों की संख्या में वर्णित निष्क, हिरण्य, सुवर्ण एवं जातरूप के उपयोग में लाये जाने के संदर्भ प्राप्त होते हैं । इन्हें (निष्क) प्रायः आचार्य शुल्क, मार्ग-व्यय, प्रायश्चित स्वरूप नरेश द्वारा दिये जाने तथा विपदा आदि परिस्थिति में प्रयुक्त किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिये 'परोसहस्स सुवण्णनिक्खे', 'सतनिक्खानिसुवण्णस', 'जातरूपमयेनिक्खेसुवण्णस्स', 'निक्खंइमंसुवण्णस्स', 'निक्खसहस्स' एवं 'जातरूपमयंवस्सं' तथा 'हिरण्यं-सुवण्णं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

---

1. जातक, सं. 539, पृ. 177; हि. अनु., 462; जातकपालि, सं. 534, 541, 512, 488, पृ. सं. क्रमशः– 104, 199, 123, 279,
   मिलिन्दप्रश्नपालि, पृष्ठ–86.
   नोटः हि. अनुवाद, 'धनधान्य जातरूप', 'रजत जातरूप' से सम्पन्न कोषागार वाले' एवं जातरूप वाले थे. पृ. लं.--(जातिकपालि), 462, 104 एवं 123.
2. जातक, सं. 547, भाग-2, पृ. 101, सं. 512, पृ. 363, 527, पृ. 50.
3. जातक, सं. 534, भाग-2, पृ. 109.
4. महानिद्देसपालि, पृ. 10-11, चुल्ल निद्देसपालि, पृ. 39-47, 273.
5. काएन एज इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 251.

(क) परोसहस्स-सुवण्णनिक्खे :

'जुण्ह जातक' से काशी के युवराज जुण्ह कुमार द्वारा ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु को प्रायश्चित स्वरूप सहस्र निष्क दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार तक्षशिला से शिक्षा ग्रहण कर लौट रहे जुण्ह कुमार दिवस के अन्त में शीघ्रगामी होने के कारण ब्राह्मण भिक्षु से टकरा जाते हैं जिससे उनका भिक्षा पात्र गिर कर टूट जाता है । अतः ब्राह्मण भिक्षु उनसे प्रायश्चित स्वरूप हजार निष्क मांगते हैं । राजा बनने पर जुण्ह कुमार उसे निष्क प्रदान करते हैं । यथा –

'ददामि मे परोसहस्स च सुवण्णनिक्खे ।
ददामि ते परोसहस्स च सुवण्ण निक्खे ।।' अर्थात्

'मुझे हजार से भी अधिक सुवर्ण निष्क दें । 'मैं (जुण्ह कुमार) तुम्हें सहस्र से भी अधिक सुवर्ण निष्क देता हूँ । [1]

(ख) निक्खानि एवं निक्खे सुवण्णस्स :

'दूत जातक' से काशी के बोधिसत्व ब्राह्मण द्वारा तक्षशिला से शिक्षा ग्रहण कर काशी लोटने पर आचार्य को 'आचार्य धन' लौटाने को कह कर जनपद में घूम-घूम कर भिक्षा के माध्यम से निष्क प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । निष्क को प्राप्त कर तक्षशिला जाते समय मार्ग में नौका उलटने से विद्यार्थी बोधिसत्व के निष्क गंगा नदी में गिर जाते हैं । इससे दुखित होकर वे दिन-रात तट के किनारे सोच में बैठे रहते हैं । अन्त में काशी नरेश के वहां पहुंचने पर उन्हें अपनी आप बीती सुनाते हुए कहते हैं । यथा–

'गहपति राजपुरिसे महासाले च ब्राह्मणे अत्तत्थ सत्त
निक्खानि सुवण्णस्सजनाधिप ।' अर्थात्

'काशी जनपद में घूम-घूम कर मैंने गृहपति, राजपुरुष एवं महासाल ब्राह्मण से सात निष्क प्राप्त किये थे ।' [2]

काशी नरेश विद्यार्थी बोधिसत्व ब्राह्मण को उससे भी अधिक दुगुने अर्थात् चौदह सुवर्ण निष्क आचार्य धन के रूप में देने हेतु देते हैं । यथा

'जातरूपमये निक्खे सुवण्णस्स चतुद्दस ।' अर्थात्
'जातरूप के चौदह निष्क दिये ।' [3]

---

1. जातक, सं. 456, भाग-2 पृ. 219, हि. अनु., पृ. 298.
2. जातक, सं. 478, भाग-2, पृ. 256, हि. अनु., पृ. 428.
3. जातक, सं. 478,पृ. 256, भाग-2, हि. अनु., पृ. 428.

(ग) निक्खं इमं सुवण्णस्स :

'सम्भव जातक' से कुस नरेश द्वारा विदेह राज्य के विद्वान पंडित विदुर को लिवा लाने हेतु मार्ग-व्यय के लिये राज्यकर्मी को स्वर्णनिष्क दिये जाने का संदर्भ प्राप्त होता है। यथा–

'गच्छ विधुरस्स उपन्तिकं निक्खंइमं सुवण्णस्स ।' अर्थात्

'यह सुवर्ण निष्क ले कर विदुर के पास जा (उसे लिवा लाना) ।[1]

(घ) निक्खसहस्स :

मिलिन्दप्रश्नपालि से विपदा में फंसी कृष्णार्जिन को छुड़ाने हेतु ब्राह्मण को सहस्त्र निष्क दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–

'ब्राह्मणस्स धनं दत्वा निक्किणातु, कण्हाजिनं निक्किणन्तो दाससतं दासि सतं हत्थिसतं अस्ससतं धेनुसतं उसभसतं निक्खसतं ति सब्बसतं दत्वा निक्किणातु ।'[2] अर्थात्

'ब्राह्मण को धन दोकर छुड़ावे, कृष्णार्जिन को लाने हेतु, सौ,-दस सौ दासी, सौ हाथी, सौ अश्व, सौ धेनु, सौ बैल, सौ निष्क इत्यादि सबकुछ शतकों में देकर छुड़ावें।

पतञ्जलि ने निष्क के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए 'पादनिष्क' एवं 'पणनिष्क' का उल्लेख किया है।[3] मनु के अनुसार एक निष्क चार सुवर्ण (320 रत्ती) के बराबर था।[4] डा. भण्डाकर के अनुसार सुवर्ण निष्क विभिन्न भारों के बनते रहे होंगे।[5] डा. बलराम श्रीवास्तव के अनुसार निष्क वस्तुतः काल्पनिक सुवर्ण धनराशि थी जिसका दैनिक व्यवहार में प्रचलन नहीं था। इन्होंने निष्क को मुद्रा की अपेक्षा उपहार धनराशि कहा है जो राजाओं द्वारा यजमान को दिये जाते थे।[6] प्रो. आर. एस. शर्मा के अनुसार निष्क स्वर्ण खंड से अधिक और कुछ नहीं था। समारोहों के अवसर पर उपहारों में यह 'प्रतिष्ठा' की वस्तु के रूप में प्रयोग किया जाता था (रहा होगा)। उत्पादन एवं वस्तुओं के प्रसार में इसका कोई योगदान नहीं था।[7]

---

1. जातक, सं. 515 पृ., 377, हि. अनु. पृ. 146
2. मिलिन्दप्रश्नपालि,पृ. 203, हि. अनु., पृ. 348.
3. काएन एज इन एन्शियंट इंडिया,,. 251.
4. वही.
5. प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ. 51.
6. शास्त्री, अजयमित्र; काएन एण्ड अर्ली इंडियन इकानामी सेमिनार आन काएन्स, 2 अक्टूबर, 1969, पटना वि. वि.; सिन्हा, के. के., एण्ड शर्मा, पी. पी.; इन्ट्रोडक्शन आव काएन एज़ इन इंडिया एन इकोनामिक व्यू, पृ. 34;.
7. शर्मा, आर. एसं.; प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृष्ठ सं. - 127, 130.

(च) जातरूपमयंवस्सं :

'महावेस्सन्तर जातक' से बनवास से लौटने पर दानी राजा वेस्सन्तर के नगर प्रवेश के शुभ अवसर पर देवताओं द्वारा उनपर जातरूप कीं वर्षा किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'जातरूपमयं वस्सं, देवो पावस्सि तावदे ।' अर्थात्

'उसी समय देवताओं ने उनपर जातरूप की वर्षा की ।' [1]

(छ) हिरञ्ञं-सुवण्णंः

'थेरगाथा' से एक ही संदर्भ में हिरण्य एवं सुवण्ण दो भिन्न-भिन्न मुद्रासूचक सुवर्ण धनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । श्रमणों द्वारा इसका उपयोग विहित नहीं था । यथा–

'न ते हिरञ्ञं गण्हन्ति, स सुवण्णं न रूपियं ।'

अर्थात् 'न तो वे हिरण्य ग्रहण करते हैं, न सुवर्ण और न ही रजत ।[2]

(ज) हिरञ्ञेन कयक्कयं :

पेतवत्थु से हिरण्य मुद्राराशि को क्रय-विक्रय हेतु प्रयुक्त किये जाने के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं । प्राप्त संदर्भ के अनुसार प्रेतलोक में किसी भी प्रकार का कृषि, पशुपालन, वाणिज्य-व्यापार एवं क्रय-विक्रय नहीं होता था, यथा–

'न हि तत्थ कसी अत्थि गोरक्ख एत्त न विज्जति ।

वणिज्जा तादिसी नत्थि हिरञ्ञेन कयक्कयं ।' अर्थात्

'वहाँ प्रेतलोक में न तो कृषि है, न ही गो-रक्षा, न वहां इस लोक जैसा वाणिज्य-व्यापार है, न ही हिरण्य के द्वारा क्रय-विक्रय ।'[3]

इस प्रकार परवर्ती काल तक आते-आते मुद्राराशि के रूप में सुवर्ण, निष्क एवं हिरण्य का प्रचलन ब़ढ़ गया था । सुवर्ण मुद्राराशि संबंधी उपरोक्त विवरण को देखने पर कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं । यथा निष्क एवं हिरण्य दोनों ही धनाढ्य वर्ग द्वारा व्यवहृत किये जाते थे किन्तु जहाँ हिरण्य मुद्राराशि को क्रय-विक्रय के रूप में उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं वहीं निष्क धनाढ्य वर्ग द्वारा उनकी इच्छानुसार विभिन्न रूपों में (क्रय-विक्रय से भिन्न) प्रयुक्त किये जाते थे । ऐसा प्रतीत होता है कि निष्क संभवतः शुद्ध स्वर्ण से निर्मित मुद्राराशि रही होगी जिससे व्यापार-वाणिज्य अथवा क्रय-विक्रय अलाभकर रहा होगा जबकि हिरण्य संभवतः सुवर्णपरत चढ़ी हुई अथवा मिश्रित सुवर्ण (सुवर्ण-रजत) से निर्मित

---

1. जातक, 547, पृ. 397, हि. अनु., पृ. 656.
2. थेरगाथा, खु. नि., खंड-2, पृ.
3. पेतवत्थु, खु. नि., खंड-2, पृ. 5; हि. अनु., बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ.–351.

इलेक्ट्रम प्रकार की मुद्राराशि रही होगी । डा. बुद्धदत्तमहाथेर के अनुसार सबसे बड़ा सोने का सिक्का निष्क कहलाता था जिसका वजन प्रायः 25 धरण या करीब 10 औंस होता था ।[1]

दैनिक जीवन में प्रयुक्त सुवर्णमय वस्तुएं

पालि ग्रन्थों से उच्च कुलीन वर्ग के दैनिक व्यवहार में व्यवहृत विभिन्न प्रकार की सुवर्णमय वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें पात्रों, आसनों, वाहनों, सुवर्णदण्ड वाली कैंची तथा सुवर्णमय पिंजरा विशेषरूप से ज्ञात होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है इन वस्तुओं को स्वर्णमय बनाने के लिए इनपर सोने के द्रव अथवा सुनहरे चमकदार पालिश, रत्नों एवं धातुखण्ड (पत्र) के रूप में धातु को उपयोग में लाया जाता रहा होगा । स्वर्णमय पात्रों के अन्तर्गत पाती या तश्तरी, कलश, धूमनेत्र (एक प्रकार की औषधि पात्र), आसनों के अन्तर्गत स्वर्णरतन से जटित पायों वाले शयनासन एवं पीठासन तथा वाहनों में स्वर्णमय चित्रों से अलंकृत नौका व स्वर्णमय रथ के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

प्रथम काल :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से उच्च कुलीन वर्ग में व्यवहृत होने वाले स्वर्णमय पात्र आसन (शयनासन) एवं स्वर्ण की मूठ वाली कैंची के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) स्वर्णपात्र :

स्वर्णमय पात्रों के अन्तर्गत प्रथम काल से पाती या तश्तरी, राज्याभिषेक में प्रयोग में लाये जाने वाले स्वर्णमय कलश तथा धूम्रनेत्र के उल्लेख मिलते हैं । धूम्रनेत्र एक विशेष प्रकार का औषधि पात्र था जिसे सिरदर्द में धुआं आदि ग्रहण करने के लिये उपयोग में लाया जाता था । इनके लिये 'सोवण्ण पत्तं', 'सोवण्ण पाति', 'सुवण्णपातिया', 'सोवण्णमया धूमनेत्तं' एवं 'सुवण्णभिंकार' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1. सोवण्ण पत्तं :

'चुल्लवग्ग' से बौद्ध भिक्षुओं के बहुमूल्य धातु से बने पात्रों से विरत रहने के संदर्भ में सुवर्णमय पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'न सोवण्णमयो पत्तो धारेतब्बो' अर्थात् 'सुवर्णमय पात्र को धारण नहीं करना चाहिए ।'[2]

---

1. महाथेरबुद्धदत्त; कंसाइज़ पालि-इंग्लिश डिक्श., पृ. 131, 126.
2. चुल्लवग्गपालि, पृ. 225-26.

2. सोवण्ण पाति :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'नवक निपात' से धनी ब्राह्मण गृहपति द्वारा महादान के अवसर पर रूपिय से परिपूर्ण सहस्रों की संख्या में सुवर्ण पाति दान में दिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'चतुरासीति सुवण्णपाति सहस्साणि अदासि रूपियपूरानि' अर्थात् 'रजत से परिपूर्ण चौरासी हजार थाल दान में दिये ।'[1]

3. सुवण्णपांतिया :

'संयुक्तनिकाय' के 'पठमपाती सुत्त' से बौद्ध भिक्षु के बहुमूल्य वस्तुओं के प्रलोभन से विरत रहने के संदर्भ में सुवर्ण पाती का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णपातिया पि रूपिय चुण्णं परिपूराय सिक्खितब्बं ति ।' अर्थात् 'रूपिय चूर्ण से परिपूर्ण सुवण्ण पाति के लिए भी वह झूठ नहीं बोलेगा ।'[2]

चाइल्डर्स ने पाति को तश्तरी व थाल दोनों अर्थों में गृहीत किया है ।[3] पुरातात्विक उत्खननों में उत्तरी भारत के विभिन्न स्थलों से अत्यन्त चमकदार उत्तरी कृष्णमार्जित संस्कृति के पात्र (तश्तरी के आकार के) प्राप्त हुए हैं जिनकी तिथि छठीं शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई. पू. तक की मानी गयी है[4] । सम्भवत: अत्यधिक चमक एवं आकर्षकयुक्त अपनी कांति के कारण ये पात्र धातुमय प्रतीत होते थे ।

4. सुवण्णभिङ्कार :

'दीघनिकाय' के 'महासुदस्सनसुत्त' एवं 'मज्झिमनिकाय' के 'बालपंडित सुत्तंत' से कुसीनारा नरेश के राज्याभिषेक के समय प्रयुक्त किये जाने वाले सुवर्णमय कलश के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसमें पवित्र जल भरा होता था । ये जल अभिषेक के समय छिड़का जाता था । यथा–

'वामेन हत्थेन सुवण्णभिंकार गहेत्वा, दक्खिणेन हत्थेन चक्करतनंतब्बं' अर्थात् 'बायें हाथ से सुवर्ण कलश को पकड़ कर तथा दायें हाथ से चक्रवर्ती नरेश का अभिषेक किया ।'[5]

---

1. अंगुत्तरनिकाय, खंड-4, पृ. 201, 202.
2. संयुक्तनिकाय, खंड-2, पृ. 194, हि. अनु., भाग-2, पृ. 291.
3. चाइल्डर्स, आर. सी.; डिक्शनरी आफ पालि लैंग्वेज़, पृ. 358.
4. राय, त्रिभुवन नारायण; दि गैन्जेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 195-96.
5. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 132, हि. अनु., पृ. 153; मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 576.

(ख) स्वर्णमय शयनासन :

'दीघनिकाय' के 'महासुद्दस्सन सुत्त' एवं 'संयुक्तनिकाय' के 'गोमयपिण्डसुत्त' से कुसीनारा नरेश के राजभवन में स्वर्णरत्न से जटित पायों वाले सहस्रों की संख्या में पलंग होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'चतुरासीति पलंक सहस्सानि अहेसुं सोवण्णमयाभि गोनकत्थतानि' अर्थात् 'चौरासी हजार पलंग थे जिनमें सुवर्ण के पाए लगे थे ।'[1]

(ग) स्वर्ण की मूठ वाली कैंची :

'चुल्लवग्ग' से सोने व चांदी के मूठ वाले सत्थक दंड (कैंची) का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार वैशाली का भिक्षु वर्ग सोने व चांदी के दण्ड वाले कैंची को व्यवहार में लाते थे जिनसे विरत रहने के लिए उन्हें निर्देश दिया गया था । यथा–

'छब्बगिया भिक्खू उच्चावचे सत्थकदण्डे धारेन्ति सोवण्णमयं रूपियमयं । न भिक्खवे उच्चावचा सत्थकदण्डा धारेतव्वा ।' अर्थात् 'षडवर्गीय भिक्षु बहुमूल्य सुवर्णमय, रूपियमय मूठ वाली कैंची धारण करते थे । भिक्षुओं, बहुमूल्य सत्थक दंड को नहीं ग्रहण करना चाहिए ।'[2]

राहुल सांकृत्यायन जी ने सत्थक दंड को भुजाली कहा है ।[3]

(घ) सोवण्णमयं धूमनेत्तं :

'महावग्ग' से सुवर्णमय धूम्रनेत्र का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसका उपयोग भिक्षुओं के लिये विहित नहीं था । यथा–

'न धारेतब्बा सोवण्णमयं धूमनेत्तं ।' अर्थात् 'सुवर्णमय धूम्रनेत्र को नहीं धारण करना चाहिए ।'[4]

महावग्ग से ज्ञात होता है कि इसे सिरदर्द के समय एक विशेष प्रकार का धुआं ग्रहण करने के काम में लाया जाता था ।[5] राहुल जी ने इसे फोफी या खोखली नलिका कहा है ।[6] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है यह एक प्रकार का औषधि पात्र था ।

---

1. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 138, हि. अनु., पृ. 157; संयुक्तनिकाय, खंड-2-3, पृ. 362-63, हि. अनु. पृ. 383.
2. चुल्लवग्गपालि, पृ. 204, हि. अनु., पृ. 426.
3. वही, हि. अनु., पृ. 426.
4. महावग्ग, पृष्ठ-223, हि. अनु., पृ. 218-19.
5. वही, हि. अनु., पृ. 219.
6. वही, पृ. 219.

इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों में प्रथम काल से सामान्य जीवन में प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं में सर्वाधिक विवरण विभिन्न प्रकार के पात्रों के प्राप्त होते हैं एवं क्रमशः धनाढ्य वर्ग के ऐश्वर्यपूर्ण वस्तुओं के अन्तर्गत स्वर्णरत्न संबंधित पायों वाले शयनासनों तथा प्रसंगवशात स्वर्ण की मूठ वाली कैंची के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

द्वितीय काल :

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले सुवर्णमय वस्तुओं के बढ़ते प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । इस काल तक आते-आते धनाढ्य वर्ग के साथ-साथ बौद्ध श्रावकों में सुवर्णमय वस्तुओं को उपयोग में लाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली स्वर्णमय वस्तुओं के अन्तर्गत स्वर्णमय पात्रों, नवीन प्रकार के आसनों यथा–पीठासन, शयनासन, सुवर्णमय चित्रों से अलंकृत यानों, सोने का पटड़ा, स्वर्णमय हौदा एवं पिंजरा इत्यादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) सुवर्णमय पात्र :

इस काल से स्वर्णमय पात्रों के अन्तर्गत पाती या थाली एवं कलश के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन पात्रों का उपभोग राजघराने में एवं बौद्ध श्रावकों द्वारा किया जाता था । इसके अन्तर्गत 'सुवण्णमया पातिया', 'सुवर्णमय थाल', 'सोवण्ण सतराजिक' व 'सोवण्ण भिंकार' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1. सोवण्णमया पातिया :

'विमानवत्थु' एवं 'जातकपालि' से व्यञ्जन आदि से भरे हुए उच्चकुलीन वर्ग के सत्कार में प्रयुक्त किये गये सोने की थाली के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसे राजकीय परिचारिकाएं हाथों में पकड़े रहती थीं । यथा–

'पग्गय्हं सोवण्णमया पातिया, अनेक सूप विविध व्यञ्जनं ।' अर्थात् 'विविध व्यन्जन एवं अनेक सूप से युक्त सोने की थाली पकड़ी हुयी थी ।'[1]

2. सोवण्णमय थाल :

'अपदानपालि' से बौद्ध श्रावकों द्वारा बहुमूल्य पात्रों के उपयोग के संदर्भ में सुवर्णमय थाल का उल्लेख प्राप्त होता है । यह थाल उन्हें पूर्वजन्म में पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त था । यथा–

1. विमानवत्थु, पृ. 22; जातक, संख्या-539.

'सोवण्ण मये...थालके अहं' अर्थात् 'मुझे सुवर्णमय थाल प्राप्त था ।'[1]

3. सोवण्णं सतराजिकं :

'थेरगाथा' एवं 'जातक' से सतराजिक भार के बहुमूल्य स्वर्ण पात्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'सोवण्णं सतराजिकं अग्गहिं ।' अर्थात् 'स्वर्ण के सुन्दर व बहुमूल्य पात्र थे ।'[2]

कौसल्यायन जी ने 'सुजाता जातक' में वर्णित 'कंसमल्लके' की पहचान सोने के कटोरे से की है ।[3]

4. सुवण्णभिंकार :

'मिलिन्दप्रश्न' से क्षत्रिय राजा के अभिषेक कार्य में प्रयुक्त होने वाली पवित्र जल से भरी सुवर्णमय कलश का उल्लेख प्राप्त होता है ।

यथा–'राजाखत्तियो मुद्धावसित्तो वामेन हत्थेन सुवण्णभिंकारं गहेत्वा दक्खिणेन हत्थेन चक्करतनं अभिसिक्तंति ।' अर्थात्

'उस क्षत्रिय राजा ने बायें हाथ में सोने की गगरी ले, दाहिने हाथ से चक्ररत्न का अभिषेक किया ।'[4]

प्रथम शताब्दी ई. के रोमन इतिहासकार स्ट्रेबो ने तत्कालीन नरेश के केश प्रक्षालन उत्सव के अवसर पर निकाले गये राजकीय जुलूस का वर्णन करते हुए लिखा है कि इसमें राजसेवक सोने व चांदी के प्याले व प्रक्षालन पात्र लिये रहते थे । उन पात्रों में बहुमूल्य रत्न जटित होते थे ।[5] डा. काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार ये सम्भवतः राज्यारोहण के पश्चात् होने वाले अभिषेक समारोह का संदर्भ है ।[6]

(ख) स्वर्णमय पायों वाले आसन :

जातकों एवं अपदानपालि से राजघराने में एवं बौद्ध श्रावकों द्वारा स्वर्णमय पाए वाले आसनों के उपयोग में लाए जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं । इनके दो प्रकार बताए गए हैं । अर्थात् पीठासन एवं शयनासन । पीठासन को प्रायः स्वर्णखचित एवं स्वर्ण रत्न से मंडित्त कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि इनके पाए को स्वर्णपत्र अथवा रत्न से मंडित करने तथा स्वर्णमय द्रव से आसन के ऊपरी भाग को चित्रों से अलंकृत

---

1. अपदानपालि, भाग-2, पृ. 391.
2. थेरगाथा, खु. नि., खंड-2, पृ. 256, हि. अनु., पृ. 41-42, जातक, सं. 547, पृ. 343.
3. जातक, सं. 547, पृ. 343.
4. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 66.
5. क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 279; स्ट्रैबो, ज्योग्राफी, 15, 1. 169; पृ. 75-76.
6. जर्नल आफ दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, 2, पृ. 99.

किया जाता रहा होगा । इसके अन्तर्गत 'सोवण्णये पीठे', 'सुवण्ण खचिते पीठे' एवं आसनं सोवण्ण रतनामयं' के उल्लेख प्राप्त होते हैं । शयनासन के लिये ' सोवण्ण-मयानि गोनकत्थानि' अर्थात् 'स्वर्णमय पाए वाली' शब्द के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– सोवण्णये पीठे :

'महानारदकाश्यपजातक' से राजघराने में प्रयुक्त होने वाले तथा 'अपदानपालि' से बौद्ध श्रावक द्वारा सुवर्ण खचित पीठासन पर विराजमान होने के संदर्भ प्रप्त होते है । यथा -

'तञ्च सोवणणये पीठे निसिन्नं' अर्थात्
'उस स्वर्णमय पीढ़े पर आसीन थे ।'[1]

2– सुवण्ण खचिते पीठे :

जातकों से राजमहिषी एवं राजकन्या के सुवर्ण खचित पीढ़े पर आसीन होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'उपसंकमित्वा वेदेहं, वन्दित्वा विनयेरतं ।
सुवण्णखचितेपीठे, एकमन्तं उपाविसि ।'

अर्थात् विदेह राजमहिषी नरेश के पास पहुंच कर उस विनयी राजा को प्रणाम कर वह सुवर्ण खचित पीढ़े पर एक ओर बैठीं ।'[2]

3– आसनं सोवण्ण रतनामयं :

'अपदानपालि' से स्वर्ण रत्न जटित शिलामय आसन का वर्णन प्राप्त होता है । जिस पर बौद्ध श्रावक आसीन थे । यथा–

'येनिदं आसनं दिन्नं सोवण्ण रतनामयं ।' अर्थात् 'सुवर्ण रत्न से जटित आसन को ग्रहण किया ।'[3]

4– सोवण्णमयानि गोनकत्थानि :

जातक एवं अपदानपालि से सुवर्ण के पाए वाले सहस्त्रों की संख्या में पलंग के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनका उपयोग राजघराने एवं दिव्य व्यक्तित्व वाले पुरुषों (श्रावक) द्वारा किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं यथा–

---

1. जातक, सं. 545, पृ. 274, हि. अनु., भाग–6, पृ. 268; अपदानपालि, भा. I , पृ. 3, भाग-2, पृ. 419.
2. जातक, सं. 506 पृ. 339, हि. अनु. भाग-5, पृ. 53, जातक, सं. 545, पृ. 274, हि. अनु., पृ. 268.
3. अपदानपालि, भाग-1, पृ. 3, 29, भाग-2, पृ. 11 4, 165, 363.

'पलंक सहस्सानि सोवण्णमयानि गोनकत्थानि ।' अर्थात्
'सहस्रों सुवर्ण के पाए वाले पलंग थे ।'[1]

(ग) स्वर्णमय वाहन :

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से तत्कालीन नरेशों एवं बौद्ध श्रावक के प्रायः स्वर्णमय वाहनों के उपयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं . इनमें स्वर्णमय चित्रों से अलंकृत नौका एवं रथ के उल्लेख विशेष रूप से ज्ञात होते हैं । इसके लिये पालि ग्रन्थों से 'सुवण्णच्छदनंनावं', 'नावा च सोवण्णविक्ता', 'रथमारूह्य सुवण्णेन अलंकता', 'सोवण्णरथे', 'सोवण्णयो पभस्सरो रथपञ्जर', 'सुवण्णजालावततोरथ' एवं 'अलंकते काञ्चन चित्त सैतिकं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि इन यानों के किनारी वाले भाग को स्वर्णमय द्रव्य से चित्रित किया जाता रहा होगा तथा आसन के शीर्ष भाग को सम्भवतः सुवर्णपत्र अथवा रत्न से मंडित कर इन्हें स्वर्णिम बनाया जाता रहा होगा । स्वर्णमय चित्रों से अलंकृत यानों के उदाहरणों से तत्कालीन समाज में विकसित चित्रकला पर प्रकाश पड़ता है ।

1–सुवण्णच्छदनंनावं :

'विमानवत्थु' से स्वर्णमय छत वाली नाव का वर्णन प्राप्त होता है । यथा –

'सुवण्णच्छदनं नावं नारि आरूह्य तिट्ठसि ।' अर्थात्
'सोने के छत वाली नाव पर नारी (देवी) चढ़कर बैठी है ।'[2]
'अपदानपालि' से स्वर्णमय वितान का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3]

2– नावा च सोवण्णविकता :

'चन्द्रकुमारजातक' से वाराणसी नरेश चन्द्रकुमार के स्वर्णखचित नौका पर आसीन होने का वर्णन प्राप्त होता है । यह नौका विभिन्न पुष्पों से अलंकृत थी । यथा–

'नावा च सोवण्णविकता, पुप्फवहिलया चित्ता सुरमणीया निन्नीता' अर्थात्
'स्वर्ण खचित, पुष्पों से अलंकृत, सुन्दर तथा रमणीक नौकाएं थीं । '[4]

3– सुवण्णेन अलंकता :

'मूगपक्खजातक' से सुवर्ण वर्ण से अलंकृत रथ पर आरूढ होने (नरेश) का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–

---

1. जातक, सं. 523, पृ. 16, 17, 18, हि. अनु., भाग-5, पृ. 255, अपदानपालि, पृ. 5, भाग-2, पृ. 114.
2. विमानवत्थु, खु. नि. खंड–2, पृ. 93.
3. अपदानपालि, भाग-1, पृ. 175, 439.
4. जातक, सं. 344, पृ. 261, हि. अनु., भाग-3, पृ. 173.

'उपादिरथमारूह्य सुवण्णेन अलंकृता ।' अर्थात्
'सुवर्ण से अलंकृत रथ पर आरूढ़ होकर ।[1] '

4– सोवण्णरथे :

'महाजनकजातक' से विदेह नरेश के सुवर्णमय रथ का उल्लेख प्राप्त होता है । संभवतः स्वर्णमय द्रव्य से पालिश किया गया रहा होगा । यथा– 'सोवण्णरथे ।'[2]

5– सोवण्णयो पभस्सरो-रथपञ्जर :

'विमानवत्थु' से सुवर्णप्रभा वाले रथ का उल्लेख प्राप्त होता है । ये रथ स्वर्णमय पञ्जर वाला था । यथा–

'सोवण्णयो पभस्सरो, उत्पन्नौ रथपञ्जरो पम ।' अर्थात्
'सुवर्णमय प्रभा से युक्त मेरा रथ पञ्जर है ।'[3]

6– सुवण्णजालावततो रथौ :

'विमानवत्थु' से स्वर्णजाल से आच्छादित देवरथ का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा ।

'सुवण्ण जाला वततो रथो अथं, बहूम्हि नाना रतनेहि चितितो ।
अर्थात् 'वह रथ स्वर्णजाल से युक्त, विभिन्न रत्नों से चित्रित था । '[4]

'विमानवत्थु' से ही सुवर्णपट्ट लगे रथ के संदर्भ भी प्राप्त होते हैं ।[5]

7– रथं अलंकतं कञ्चनचित्त सन्तिकं :

'सुधाभोजनजातक' से सुवर्णमय द्रव्य से विभिन्न पशु-पक्षियों व चन्द्रमा इत्यादि के चित्रों से अलंकृत स्वर्णमय रथ के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'त सुप्लवत्थं उदतारयी रथं, दद्दल्लमानं उपकिरिय सादिसं । जम्बोनदी सं तपनेयूय सन्निभं अलंकतं कञ्चनचित्त संतिकं ।। सुवण्णचन्देत्थ बहू निपातिता, हत्थि गवस्सा किकिव्यग्घदीपिपो, अगेत्थ वेलुरियमया युधायुता ।'[6] अर्थात् ज्वाजल्यमान, आवश्यक सामग्री सहित, सुवर्ण ईषा वाले, स्वर्णमय चित्रों से अलंकृत रथ को तैयार किया । जम्बूनद सदृश तपनीय (अत्यधिक कान्तिमान), बहुत से स्वर्णिम चन्द्रमा से अलंकृत रथ था । हाथी, बैल, घोड़े, मुर्गियां, व्याध्र व नाना रत्नमय पक्षी थे तथा अपने-अपने जोड़े के साथ बिल्लौरमय मृग से अलंकृत रथ था ।[7]

---

1. जातक, सं. 538, भाग–2, पृ. 162, हि. अन., भाग–6, पृ. 25.
2. जातक, सं. 539, भाग–2, पृ. 174, हि. अनु., भा.6, पृ. 171.
3. विमानवत्थु, खु. नि. खं-२, पृ. 56.
4. वही, पृ. 61, 57
5. वही, पृ. 93.
6. जातक, सं. 535, पृ. 117-118.
7. जातक, हि. अनु., भाग-5, पृ. 454.

(घ) स्वर्णमय हौदा :

'विमानवत्थु' से देवलोक में उपस्थित सहस्त्रों हाथियों के पृष्ठभाग पर सोने का हौदा होने का वर्णन प्राप्त होता है । मानो चन्द्रमा की कलाए हों ।[1]

कर्टियस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के राजकीय वैभव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जब राजा जनसाधारण के बीच में जाता था (दर्शन हेतु) तो वह सोने की पालकी में बैठता था ।[2] स्ट्रैवो ने राजकीय उत्सव के अवसर पर सोने व चांदी के झूलों से अलंकृत हाथियों का उल्लेख किया है ।[3]

(च) सुवर्णमय पिञ्जरा :

'मिलिन्दप्रश्नपालि' से सोने के पिञ्जरे का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें सिंह को बन्द करके रखा जाता था । यह पिञ्जरा संभवतः लकड़ी या लोहे की छड़ से बना रहा होगा जिसपर स्वर्णमय पालिश करके स्वर्णिम बनाया गया था । यथा–

'सीहो मिगराजा सुवण्णपञ्जरे पक्खित्तो पि बहिमुखो चेव होति ।' अर्थात्

'सोने के पिञ्जरे में डाल दिये जाने पर भी मृगराज सिंह बाहर की ओर ताकता है ।'[4]

इस प्रकार द्वितीय काल से दैनन्दिन जीवन के सुवर्णमय वस्तुओं के अपेक्षाकृत कहीं अधिक उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें सर्वाधिक उल्लेख सुवर्णमय वाहनों के ज्ञात होते हैं । स्वर्णमय वस्तुओं का उपयोग एवं परिगणना की दृष्टि से क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है – स्वर्णमय वाहन,–९, (2 जलयान एवं 7 रथ के), पात्र – 5, आसन–5, (तीन पीठासन एवं दो शयनासन), व 1-1 पिंजरा व हौदे का उल्लेख प्राप्त होता है ।

स्वर्णमय मूर्तिकला :

पालि ग्रन्थों के दोनों चरणों से सुवर्णमय मूर्ति के अत्यन्त सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'सोवण्ण विग्गहो' एवं 'रूपपट्टपतिमट्ठीव' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– सोवण्ण विग्गहो :

'दीघनिकाय' के 'जनवसभसुत्त' से बुद्ध के तेजस्वी व्यक्तित्व की सादृश्यता के संदर्भ में सोने की मूर्ति का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

---

1. विमानवत्थु, पृ. 64.
2. क्लासिकल एकाउण्ट्स आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 94.
3. वही, पृ. 279.
4. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 71-72.

'सोवण्णो विग्गहो मानुसं विग्गहं अतिरोचति । अन्ये देव अतिरोचति वण्णेन चेव सम्माय ।' अर्थात्

'सोने की मूर्ति मनुष्य के विग्रह से अधिक तेजसी होती है, उसी तरह बुद्ध प्रकाशित होते हैं ।'[1]

2–**रूप्पट्टपतिमट्ठीव :**

'किंछन्द जातक' से नदी देवी के देहयष्टि को स्वर्णमूर्ति के सदृश अत्यधिक कान्तिमान व सौन्दर्यवती कहा गया है । यथा –

'रूप्पपट्टपतिमट्ठीव, व्यग्घीव गिरिसानुजा ।' अर्थात्

'सोने की मूर्ति सदृश, व्याघ्री के समान गिरिवन कुमारी थी ।'[2]

जातक अट्ठकथा में जम्बूनद स्वर्ण से सोने की मूर्ति बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यह मूर्ति इतनी सुन्दर बनायी गयी थी कि इसे वस्त्र धारण कराने के बाद बिना स्पर्श किये यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता था कि वह स्वर्णमूर्ति थी अथवा कोई अप्सरा ।[3]

स्वर्णमय शस्त्र :

बौद्ध पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से स्वर्णमय मूठ वाले शस्त्र (खड्ग) के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्हें प्रायः युवराज एवं राजकीय सैनिकों द्वारा धारण किया जाता था । जातक एवं अपदान पालि से स्वर्ण की मूठ वाली तलवार एवं सोने के कूट (गदा) के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

1– 'सुवण्ण रथ रू संम्पन्ना, लोहित कच्छुप धारिता ।' अर्थात्

'सोने की मूठवाली, लाल रंग की म्यान वाली तलवार को धारण किये हुए थे ।'[4]

'महाउमग्गजातक' में आए उपरोक्त संदर्भ में काम्पिल्य राष्ट्र के शूरवीरों द्वारा उत्कृष्ट कोटि के लौह से निर्मित तलवार को धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5]

2– 'भूरिदत्तजातक' से युवराज भूरिदत्त के सोने की मूठ वाली एवं मणियों से खचित तलवार को धारण करके परिषद में उपस्थित होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 258, हि. अनु., पृ. 163.
2. जातक,सं. 511, पृ. 357, हि. अनु., भाग-5, पृ. 92.
3. जातक, भाग–4, पृ. 307.
4. जातक, सं. 542, पृ. 224, हि. अनु., भाग-6, पृ. 490.
5. वही.

'सुवण्णापि काकिण्णं मणिदण्डं विचित्रितं कोसे परिसमोगयूह ईसो खग्गं व मुच्चति' अर्थात्

'सोने की मूठ वाली एवं मणियों से खचित तलवार को परिषद में लेकर आने वाला स्वामी की तरह यह कौन है ।'[1]

3– 'अपदानपालि' से सोने व चांदी के कूट के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[2]

सुवर्णमय स्थापत्य :

प्राचीन बौद्ध पालि गंथों से सुवर्णमय स्थापत्य कला के वहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें तात्कालीन समाज में ऐश्वर्यमय जीवनयापन करने वाले राजाओं के स्वर्णिम राजभवनों व उनके वास्तु अंगों यथा–सोपान, इष्टका एवं वेदिका, राजकीय पुष्कररिणी, लोकधर्म के रूप में विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के प्रतीक स्वरूप बने स्वर्णमय स्तूप व उसके वास्तु अंगों यथा- तोरण द्वार, प्रदक्षिणापथ, खम्भे, वेदिका, उण्हीस एवं फलक, यज्ञ आदि कार्यों को सम्पन्न करने के निमित्त निर्मित स्वर्णमय यज्ञीय यूप तथा देव-निवासों के रूप में उल्लिखित अन्तरिक्ष में स्थित एवं उच्च शिखर स्थित पर्वतीय भागों में स्वर्णमय दिव्य प्रासादों (देव विमानों) की परिकल्पना प्राप्त होती है । पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वास्तुकला के निर्माण में स्वर्णधूलि को उपयोग में लाया जाता था विशेषकर अति वैभव शाली राजप्रासाद के निर्माण हेतु । इस संबंध में जातकपालि से सुवर्ण धूलि से काशी नरेश द्वारा स्वर्णघर बनवाने का उल्लेख प्राप्त होता है । ये धूली (स्वर्णराशि) काशी नरेश को चम्पा नरेश द्वारा ढेरियों (प्रभूत मात्रा में) उपहार में प्रदान की जाती है । यथा– 'रासी. सुवण्णस्स च तालमंत्ता, इतो करित्वान सुवण्णघरानि ।' अर्थात् 'यहाँ ढेरियों सुवर्ण राशि ताड़वृक्ष जितनी ऊंची है इसे ले जाकर स्वर्णघर बनवा लेना ।'[3]

इसके अतिरिक्त स्वर्णमय राजप्रासाद के लिये सम्भवतः सुनहरे द्रव अथवा सुवर्ण परत को उपयोग में लाया जाता रहा होगा । वास्तु अंगों विशेषकर चंक्रमणपथ, वेदिका फलक एवं चैत्य आदि को सुवर्णमय रत्न से जटित कर उन्हें स्वर्णिम बनाया जाता रहा होगा । स्तूप के शिखर भाग पर अथवा छत्र आदि पर सुवर्ण पत्र से मंडित कर विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के प्रतीक स्वरूप अलंकृत किया जाता रहा होगा ।

---

1. जातक, सं. 543, पृ. 252, हि. अनु., भाग–6, पृ. 254.
2. अपदान, पृ. 79.
3. जातकपालि, संख्या – 506, खंड-3, पृ. 341.

प्रथम काल :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों यथा-विनयपिटक एवं दीघनिकाय से सुवर्णमय स्थापत्य कला के सीमित रूप से उल्लेख प्राप्त होते है । मुख्यतया भव्य स्वर्णिम राजप्रासादों, उनके वास्तु अवयवों यथा-सोपान, ईष्टका एवं वेदिका, राजकीय पुष्करणी इत्यादि के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) सुवर्णमय राजप्रासाद :

इसके अन्तर्गत राजगृह नरेश बिम्बिसार का सुवर्णमय राजप्रासाद, कुसीनारा नरेश के विभिन्न प्रकार के सुवर्णमय वास्तु अंगों से निर्मित राजप्रासाद एवं सुवर्णमय सोपान, वेदिकाओं, ईष्टका, उण्हीस एवं सूचियों से निर्मित राजकीय अभिषेक पुष्करिणी के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'पासादं-सोवण्णयो' तथा 'सोवण्णमया सोपानानि-इष्टकाहिसूचियो-वेदिकाहि' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1— पासादं -सोवण्णयो :

विनयपिटक 'महावग्ग' से राजगृह में मगध नरेश बिम्बिसार का सर्व सुवर्णमय राजप्रासाद होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'मागधस्स सेनियस्स बिम्बिसारस्स पासादं सव्ब सोवण्णयो ।'

अर्थात् 'मगध नरेश श्रेणिक बिम्बिसार का प्रासाद सर्वसुवर्णमय था ।'[1]

7वीं सदी के चीनी यात्री श्वागं-च्वांग ने बिम्बिसार द्वारा कुशाग्रपुर (पुराना राजगृह) के पास नया राजगृह बनवाने का उल्लेख किया है ।[2] मेगास्थनीज़ ने सुनहरे स्तंभों वाले चंद्रगुप्त के पाटलिपुत्र स्थित भव्य राजप्रासाद का उल्लेख किया है ।[3] एरियन के अनुसार भव्यता में यह सूसा व एकबटाना के राजप्रासादों को मात करते हैं ।[4] डी. बी. स्पूनर महोदय के नेतृत्व में सर्वप्रथम पटना के निकट कुम्रहार स्थल में उत्खनन कार्य हुआ था इसके परिणामस्वरूप सुनहरे पालिशदार पत्थर के 80 ढेर प्राप्त हुए थे । 10 ढेरों की 8 पंक्तियाँ जो कोयले व राख में पड़े मिले थे ।[5] हाल में हुए उत्खनन कार्य में पटना के निकट दक्षिण में छठीं शताब्दी

---

1. महावग्गपालि, पृष्ठ 229, हि. अनुवाद, पृष्ठ 224-25.
2. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ 171-72.
3. शास्त्री नीलकंठ, नंद मौर्य युगीन भारत, पृ. 14; मेगास्थनीज़, फ्रैगे, 516, पृ. 66-67; स्ट्रेबो, 15, 1.35-6, पृ. 42-44.
4. एरियन, इंडिका, 10, 4-204-6, पृ. 139,रैप्सन, दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, खंड-1, ई. जे., 1962, पृ. 369.
5. रिपोर्ट आन कुम्रहार एक्सकवेशन्स, 1951-55, काशी प्रसाद जायसवाल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पटना, 1959, पृ. 18.

ई. पू. के सुनहरे वर्ण वाले (पालिशयुक्त) राजकीय प्रासाद के अवशेष प्राप्त हुए हैं ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि मागध नरेश बिम्बिसार के काल में निर्मित ये सुवर्णमय राजप्रासाद रहा होगा जहाँ कालान्तर में नन्दों व मौर्य शासकों ने शासन किया ।

2-इट्ठकाहि सोवण्णमया सोपानानि सोवण्णमया :

'दीघनिकाय' के 'महासुद्दस्सनसुत्त' से कुसीनारा के नरेश महासुदर्शन के ऐश्वर्यशाली धर्मप्रासाद का वर्णन प्राप्त होता है जिसके निर्माण में विभिन्न धातुओं के वर्णों वाले इष्टकाओं, सोपानों एवं प्रस्तरखण्डों को उपयोग में लाया गया है । यथा–

'धम्मपासादं चतुण्णं वण्णानं इट्ठकाहि चिता अहेसुं..... चतुः वण्णानं सोपानानि अहेसुं, एका सोवण्णमया एका रूपियमया एका वेलुरियमया एका फलिकमया ।' अर्थात्

'धर्मप्रसाद चार वर्ण के ईटों व सोपानों वाली थी जिसमें एक सुवर्ण वर्ण की, एक रजतमय, एक वेलुरियमय एवं एक फलिकमय थी ।[2]

3– स्वर्णमय वास्तु अवयवों से निर्मित राजकीय पुष्करिणी :

'दीघनिकाय' से कुसीनारा नरेश के विशेष महत्व की राजकीय अभिषेक पुष्करिणी का वर्णन प्राप्त होता है जिसके निर्माण में सुवर्णमय इष्टका, सोपान, खम्भे, सूचि एवं उण्हीस को उपयोग में लाया गया था । यथा–

'चतुः वण्णानं इट्ठकाहि अहेसुं.... चतुःवण्णानं सोपानानि .. थम्भा... सूचियो च उण्हीसं च । एको सोवण्णमया एको रूपियमया एको वेलुरियमया एको फलिकमया अहेसुं ।' अर्थात्

'वह पुष्करिणी चारवर्ण के ईंटो, सोपानों, खंभो, सूचि व उण्हीस वाली थी, जिसमें एक सुवर्णमय, एक रजतमय, एक 'वेलुरियमय' व एक 'फलिकमय' थी ।'[3]

चुल्लवग्ग में भिक्षुओं के लिये निर्मित पुष्करिणी का विवरण प्राप्त होता है । इसके निर्माण में ईंट, पत्थर का प्रयोग होता था । इसमें जाने-आने के लिए सोपानसमूह होते थे ।[4]

इस प्रकार प्रथम काल से सुवर्णमय स्थापत्य कला के सीमित उल्लेखों में कुल तीन विवरण ज्ञात होते हैं । ये विवरण प्रमुख रूप से तात्कालिक नरेशों के भव्य राजप्रासादों व अन्य ऐश्वर्य साधनों के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं जो छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. में इनके वैभवशाली ढंग से रहन-सहन की संस्कृति के परिचायक हैं ।

---

1. आर्कियोलॉजिकल सर्वे, 1991 . (आर. एस. शर्मा के नेतृत्व में).
2. दीघनिकायपालि, 2.3, पृष्ठ 136; हि. अनु. पृ. 157, 58.
3. दीघनिकायपालि, 2.3, पृष्ठ–138.
4. चुल्लवग्ग, पृष्ठ 212.

द्वितीय काल :

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से सुवर्णमय स्थापत्य कला के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । इस काल तक आते-आते मूल धातु का उपयोग धूलि के रूप में भी स्वर्णिम भवनों के निर्माण के रूप में किया जाने लगा था । लोकधर्म के रूप में विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के अन्तर्गत इस काल से स्वर्णमय स्तूपों, प्रदक्षिणापथ, वेदिका, चैत्य एवं बौद्ध सभागार के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से अन्तरिक्ष स्थित एवं उच्च शिखर स्थित पर्वतीय भागों में सुवर्णमय देवविमानों की परिकल्पना प्राप्त होती है ।

(क) स्वर्णमय राजभवन :

जातकों से तात्कालिक समाज के नरेशों के ऐश्वर्यशाली राजभवनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिनके निर्माण में सुवर्णमय यूपों, सुवर्णधूलि इत्यादि का प्रयोग किया गया था । इस संबंध में जातकपालिसे ऐश्वर्यशाली चम्पानरेश के सुवर्णखचित अलंकृत भूमि वाले सुनहरे राजप्रासाद, सुवर्णधूलि से काशी नरेश द्वारा स्वर्णघर बनवाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिये 'सुवण्णचितकं भूमिं'-सोवण्णये पासादे' एवं 'सुवण्णघरानि' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– सुवण्णचितकंभूमि :

'चम्पेय्यजातक' से अंगराज्य की राजधानी अतिवैभवशाली चंपानगरी का वर्णन प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार चम्पानगरी में चंपा नरेश नागराज का स्वर्णिम महल जो सुवर्ण खचित भूमि वाला था, काशी नरेश के लिये आकर्षण का केन्द्र था । यथा–

'सुवण्णचितकं भूमि अद्दक्खि काशीवद्धनो,
सोवण्णये च पासादे वेलुरिय फलकत्थते ।' अर्थात्

'काशी राज ने सुवर्णखचित भूमि देखी तथा बिल्लौर के फर्श वाले सुवर्णमय प्रासाद देखे ।'[1]

2. सुवर्णघर

'चम्पेयजातक' के अनुसार चम्पानरेश नागराज बहुत सा स्वर्ण राशि उपहार स्वरूप काशी नरेश को सुवर्णघर बनवाने के लिये देते हैं । ये राशि उनके प्रासाद में ताड़वृक्ष जितनी ऊंची ढेरियों अथवा प्रभूत मात्रा में रखी हुई थी । यथा–

'रासी सुवण्णस्स च तालमत्ता, इतो करित्वान सुवण्ण घरानि'

---

1. जातक, सं. 506, भाग-2, पृ. 341, हि. अनु., पृ. 36.

अर्थात् 'ताड़वृक्ष जितनी सोने की राशि से भरी बोरियों के ढेर हैं, इन्हें लेकर इनसे सुवर्णघर बनवा लेना ।'[1]

3– 'महाउम्मग्गजातक' से गंगानदी के तट पर राजभवन निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसके लिए मिट्टी व बालुका गंगानदी के तटवर्ती भागों से लायी गयी थी ।[2] जातकपालि से पवित्र तैर्थिक नदियों द्वारा अपने साथ स्वर्ण बालुका को लेकर प्रवाहित होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] सम्भवतः नदियों द्वारा बहाकर लाये सुवर्ण कणों से व्याप्त बालू का उपयोग स्थापत्य विशेष (राजप्रासाद) के निर्माण करने में प्रयुक्त किया जाता रहा होगा । बोरियों भरे सुवर्णराशि से तात्पर्य स्वर्णधूलि से ही ज्ञात होता है ।

3. स्वर्णमय यूपों वाला राजप्रासाद :

'थेरगाथा' एवं 'महापनाद जातक' से भद्दिय नरेश का विशाल क्षेत्रफल में बना राजप्रासाद का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके खम्भे सुवर्णमय थे । ये प्रासाद कालान्तर में गंगानदी में डूब गया था । यथा–

'पनादो नाम सो राजा, यस्स यूपो सोवण्णयो ।' अर्थात्
'पनाद नामक वह राजा था, जिसका महल सोने के खंभों वाला था ।[4]

(ख) सुवर्णमय यूप :

'भूरिदत्त जातक' से धर्म आदि कार्यों के संदर्भ में स्वर्णमय यज्ञीय यूप का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे राजा सगर ने समस्त पृथ्वी को विजित करने के उपलक्ष्य में यज्ञ करने के लिये स्थापित करवाया था । यथा–

'यो सागरन्तं सागरो विजित्वा
यूप सुभं सोवण्णमयं उलारं उस्सेसि वेस्सनारमादहाना ।'

अथार्त 'जिस सागर राजा ने सागर पर्यन्त पथ्वी को विजित किया उसमें भी विश्वनार अग्नि की पूजा करते हुए स्वर्णमय यूप खड़ा किया ।[5]

---

1. जातक, सं. 506, पृ. 341, हि. अनु, पृ. 36.
2. जातक, भाग-6, पृ. 470-73.
3. जातक, पृ. 296, पृ. (हिन्दी अनु.), भाग-6, पृ. 315
4. थेरगाथा, खु. नि. खंड 1, पृ. 269, हि. अनु., पृ. 64,; जातक, सं. 265, पृ. 71, हि. अनु. पृ. ६0.
5. जातक् सं. 543, पृ. 242, हि. अनु., पृ. 239.

शतपथ ब्राह्मण में यज्ञीय यूप के निर्माण में हिरण्य ईष्टका को प्रयुक्त किये जाने का वर्णन मिलता है । यह ईष्टका हिरण्य शक्लों (स्वर्ण टुकड़ों) से तैयार की गयी थी ।[1]

(य) सुवर्णमय खंभो एवं तोरणों से निर्मित बौद्ध विहार ::

'अपदानपालि' से बौद्ध श्रावकों के ठहरने हेतु अनेक रत्नजटित उच्च शिखर वाले सुवर्णमय खम्भों व तोरणों से निर्मित बौद्ध विहार (सभागार) का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सोभन्ति एसिका थम्भा, सुभा कञ्चनतोरण
जम्बोनद सारमया अथो रजतमयाभि च
सत्था तिट्ठंतु रतना, कञ्चन वेलभूसिता ।' अर्थात्

'वहां पतले खम्भे स्वर्णमय तोरणों से सुसज्जित एवम् स्वर्णमय खम्भों व कुछ रजतमय थे । सभी (बौद्ध श्रावक) रतनमय छात्र, धारण करते हुए ठहरे थे ।'[2]

'अपदानपालि' एवं 'बुद्धवंश' से बौद्ध उपासकों द्वारा बनवाए गये सहस्त्रों की संख्या में छोटे-छोटे खम्भों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[3]

तृतीय शताब्दी ई. पू. के अशोककालीन स्थापत्य कला में स्वर्णमय एकाश्मक खम्भों के अवशेष प्राप्त होते हैं जिनपर सुनहरे वर्ण की चमकदार पालिश की गयी है ।[4]

(घ) स्वर्णमय कूटागार :

'अपदानपालि' से स्वर्णमय सहस्रों कूटागार के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'कूटागार सहस्सानि, सब्बसोवण्णमया बहूं ।' अर्थात्
'सहस्रों कूटागार थे जो सभी सुवर्णमय थे ।' [5]

'मज्झिमनिकाय' से एक प्रासाद के एक तल में 100 निर्यूह व प्रत्येक निर्यूह में 7 कूटागार होने के उल्लेख मिलते हैं ।[6] डा. वी. एस. अग्रवाल ने कूटागार को मण्डप पर स्तूपिका युक्त ऊंची छत माना है ।[7] डा. ए. कुमारस्वामी ने कूटागार को

---

1. प्राचीन भारत में रसायन का वि., पृ. 31-32, शतपथ ब्रा., 6.1.230.
2. अपदानपालि, भाग-1, पृ. 2-3; अनुवादक-ब्रह्मदेवनारायण शर्मा.
3. वही, पृ. 236; बुद्धवंश, पृ. 370.
4. भारतीय कला, पृ. 46.
5. अपदान, प्रथम भाग-, पृ. 74, द्वितीय भाग, पृ. 213.
6. मज्झिमनिकाय, जि. 1, पृ.312.
7. भारतीय कला, पृ. 84.

'ए हाउस विद ए फिनियल' कहा है अर्थात् यह एक ऐसा कक्ष था जिसकी दीवारें द्वार कोट्ठक के उत्तमागार की दीवारों की तरह और छत पहाड़ी की तरह नुकीली अथवा गुम्बदाकार होती थी ।[1] पी. के आचार्य ने इसे 'रूम एट द टाप' कहा है ।[2] पालि ग्रन्थों में कूट को प्रायः शस्त्र के अर्थ में उल्लिखित किया गया है । कूटागार सम्भवतः शस्त्रागार रहा होगा जो सुरक्षा की दृष्टि से उच्च भागों पर निर्मित किये जाते रहे होंगे । इन पर सुवर्णमय पालिश के कारण सम्भवतः ये स्वर्णिम कहे गये ।

(च) स्वर्णमय ईष्टिका से निर्मित चैत्य :

'अपदानपालि' से चैत्य के निर्माण में स्वर्ण ईट को दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा

'निधायन्तम्हि चेतिये सोवण्ण इट्ठकं वरं अदासि मुदिता अहं ।[3]

अर्थात् 'चैत्य में स्थापित करने हेतु मैंने प्रसन्न मन से सोने के श्रेष्ठ ईटों को दान में दिया ।'

(छ) स्वर्णरत्न से अलंकृत प्रदक्षिणापथ, फलक एवं वेदिका :

'बुद्धवंस' से भगवान बुद्ध के लिए चंक्रमणपथ बनवाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके पार्श्व भाग में सुवर्णरत्न को लगवा कर रत्नमय बनवाया गया था । इसके सभी फलक स्वर्णमय थे तथा उसके चारों ओर सुवर्ण वेदिका थी । यथा–

'सब्ब सोण्णमया पस्से, चऽकमे रतनामये, तुलासघाटानुवग्गा,
सोवण्ण फलकत्थता, वेदिका सव्व सोवण्णा ।'[4]

(ज) स्वर्णमय स्तूप :

अपदानपालि एवं बुद्धवंस से विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के प्रतीक स्वरूप स्वर्णिम स्तूपों को बनवाए जाने के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'सोवण्णमयं थूपं', 'सोण्णथूपं' एव 'सोवण्णमापयि अहं' (बड़े आकृति वाला थूप) के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[5]

---

1. आनन्द, के. कुमारस्वामी; इण्डियन आर्किटेक्चरल टर्मस, जर्नल आफ दि अमेरिकन ओरिएन्टल सोसाइटी, जि. 48, सं. 3, पृ. 262-63.
2. पी. के. आचार्य, ए डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर, पृ. 146.
3. अपदानपालि, द्वि. भाग, पृ. 257.
4. बुद्धवंस, पृ. 299
5. बुद्धवंस, पृ. 384; अपदान, भाग-1, पृ. 82-83.

पुरातात्विक साक्ष्यों से तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई.पू. के बने भरहुत, सांची एवं प्रथम शताब्दी ई.पू. के बोधगया स्तूप के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[1]

(झ) स्वर्णिम देवविमान :

'विमानवत्थु' एवं 'अपदानपालि' से अन्तरिक्ष में स्थित तथा उच्च शिखर स्थित पर्वतीय भागों में स्वर्णिम देवविमानों की परिकल्पना प्राप्त होती है । पालि ग्रन्थों में आए संदर्भों के अनुसार इन विमानों में देवताओं के अतिरिक्त ऐसे बौद्ध भिक्षु ऐश्वर्य आदि का भोग करते हुए उल्लिखित हैं जिन्होंने इस लोक में बौद्ध पूजा के निमित्त चैत्य, विहार एवं स्तूप आदि बनवाए थे । ऐसे पूर्णकर्मी बौद्ध भिक्षु को पुण्यकर्मों के विपाक स्वरूप देवलोक में नाना सुखों का उपभोग करते हुए उल्लिखित किया गया है । इसके अन्तर्गत 'सुभं कन्चनजालछन्नं' अर्थात् 'कान्चन जाल से आच्छादित सुवर्ण विमान', सोवण्णनानि विमानानि' अर्थात् 'सुवर्णमय विमान', सोवण्णमयं उलारं' अर्थात् 'स्वर्णिम विमान,' 'रतन्नरं कन्चनवेदिमिस्सं तपनेहि पट्टेहि' अर्थात् श्रेष्ठ रत्नों व सुवर्ण रत्न के वेदिका से युक्त सुशोभित पट्ट वाला विमान' तथा 'हेमजालपटिछन्नं, सुवर्णमय पर्वत में स्थित विमान' (सोवण्णमये पब्बतस्मिं विमान) के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[2] अपदानपालि से अन्तरिक्ष में स्थित जातरूपमय देवविमान का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका वर्ण घने बादलों के बीच चमकने वाली बिजली सदृश प्रतीत होता था । यथा–

'वेहायसा में बहुका जातरूपस्स निमित्ता,
ददूल्लमाना आमेन्ति, विज्जुवव्भघनन्तरे ।'[3]

अर्थात्' आकाश में स्थित स्वर्णमय देवविमान इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं जैसे घने बादलों के बीच विजली ।'

उपरोक्त संदर्भों में पर्वतों एवं अन्तरिक्ष में स्थित स्वर्णिम देवविमान की परिकल्पना के मूल में कुछ संभावनाएं ज्ञात होती हैं । पालि ग्रन्थों में अनेक बार सुवर्णमय पर्वत के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जो संभवतः सुवर्ण आदि खनिज पदार्थों की उपस्थिति के कारण एवं कठिन जलवायु के कारण विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं । स्वर्णमय देवविमान भी संभवतः स्वर्णिम् पर्वत में स्थित ऐसे खंड अथवा गुहा रहे होंगे जहाँ धातु की (सुवर्ण) उपस्थिति रही होगी ।[4] आकाश स्थित स्वर्णिम

1. उपाध्याय, वासुदेवशरण; प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मंदिर, पृ.- 60.61,62
2. विमानवत्थु, पृ. 35, 57, 123; जातक, सं. 541, भाग-2, पृ. 125.
3. जातक, संख्या 541, पृ. 125.
4. विस्तृत अध्ययन हेतु देखिये अध्याय-2, सुवर्ण धातु के अन्तर्गत स्वर्णप्राप्ति की संभावित प्राकृतिक संसाधनों के अन्तर्गत.

देवविमान संबंधी उल्लेख का अर्थ भी संभवतः सुवर्णमय पर्वत की भाँति अन्तरिक्ष में स्थित ऐसे ही भाग से रहा होगा । अंगुत्तरनिकाय में आकाश स्थित बहुत से प्रदेशों के उल्लेख मिलते हैं जहाँ सुवर्ण धातु विद्यमान था । यथा–

'ते पन अन्तलिक्खे नभे पभासन्ति दिसा विरोचना । एतस्मिं यं विज्जति अन्तरे घनं मुत्तमणि वेलुरिय च मुदकं । सिंगी सुवण्णं अत्थ वा पि कञ्चनं यं जातरूपं हटकं ति वुच्चति ।'[1]

इस प्रकार पालि ग्रन्थों से विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त उपरोक्त शब्दावलियों के वैज्ञानिक विश्लेषण से बौद्धकालीन भारत में पर्वतीय भागों एवं अन्तरिक्ष में सुवर्ण धातु के पाए जाने की संभावना पर प्रकाश पड़ता है ।

पालि ग्रन्थों से ज्ञात स्वर्णमय वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य संदर्भों में दृष्टान्त स्वरूप सुवर्ण शब्द व्यवहृत हुआ है । यथा – 'सुवर्ण वर्ण हल्दी,' वर्ण कदली', 'जाम्बूनद सुवर्ण सदृश चंदन लेप', 'स्वर्णमय वृक्ष' एवं 'सुवर्ण वर्ण पुष्पराशि' इत्यादि के उल्लेख धातु के वर्ण सादृश्यता के आधार पर प्राप्त होते हैं ।[2]

कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में सुवर्णमय वस्तुओं का तुलनात्मक विवेचन :

पालि ग्रन्थों के दोनों चरणों से सुवर्णमय वस्तुओं के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है । कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि परवर्ती काल में सुवर्णमय वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ गई थी । स्वर्णमय वस्तुओं की दी गई तालिका से स्पष्ट होता है । कि सर्वाधिक प्रचलन स्वर्णमय अलंकरण की वस्तुओं का था । इनमें स्वर्ण आभरणों एवं छत्र का उपयोग परवर्ती चरणों में पुरुष वर्ग में विशेष रूप से उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । इसके अतिरिक्त आर्थिक लेनदेन में जहाँ प्रथम काल से नियत भार की सुवर्ण वस्तु के सीमित उपयोग पर प्रकाश पड़ता है, वहीं द्वितीय काल तक आते-आते मुद्राराशि के रूप में निश्चित परिमाण वाली सुवर्णमय वस्तु का प्रचलन अधिक दिखायी पड़ता है । दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुओं में द्वितीय काल से कुछ नवीन प्रकार के स्वर्णमय वस्तु के उल्लेख मिलते हैं । यथा–स्वर्णमय चित्रों से अलंकृत यानों के हैं । प्रथम काल से यानों के उदाहरण प्राप्त नहीं होते हैं । द्वितीय काल में व्यक्तिगत राजकीय वाहन के रूप में तथा देवयानों के संदर्भ में सुवर्णमय वाहनों के बहुलता से उल्लेख प्राप्त होते हैं । स्थापत्य संबंधी विवरणों में भी प्रथम काल में स्वर्णमय राजभवनों के ही उल्लेख

---

1. अंगुत्तरनिकाय, सं.-3, पृ. 354-60; हि. अनु., हेतु देखें अध्याय-2, स्वर्णप्राप्ति की संभावनाएं अन्तरिक्ष में.
2. जातक, सं. 547, पृ. 395; जातक, सं. 523, पृ. 15; जातक, सं. 546, पृ. 302; थेरीगाथा, श्लोक नं. 396, पृ. 453; जातक, सं. 546, पृ. 291.

प्राप्त होते हैं । जबकि द्वितीय काल से राजकीय स्थापत्य एवं धर्मविशेष के संदर्भ में निर्मित स्वर्णमय स्तूप, चैत्य, विहार, यूप एवं देवविमानों के उल्लेख विशेष रूप से ज्ञात होते हैं । द्वितीय काल तक आते-आते स्वर्ण के नवीन प्रकारों में धातु के विभिन्न प्रकार से उपयोग में लाए जाने के भी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं अर्थात स्वर्णरत्न, स्वर्णपत्र, स्वर्णिम द्रव एवं स्वर्णधूलि को (स्थापत्य) उपयोग में लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं । दोनों की कालों से प्राप्त सुवर्णमय वस्तुओं के विवरणों में जो महत्वपूर्ण बात ज्ञात होती है उसमें इन वस्तुओं के धनाढ्य वर्ग में व्यवहार में लाये जाने के साथ-साथ प्रथम काल से बौद्धभिक्षुओं द्वारा सुवर्ण को व्यवहार में प्रयुक्त करने के निषेध संबंधी नियम-निर्देश प्राप्त होते हैं वहीं द्वितीय काल में बौद्ध श्रावकों में इस प्रकार की कोई बाध्यता दिखलाई नहीं देती । अपितु इसका कारण पूर्वजन्म के पुण्य कर्मों का विपाक कहा गया है । अतः कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में द्वितीय काल तक आते-आते सुवर्णमय वस्तुओं के व्यापक प्रचलन से क्रमशः विकसित या परिवर्द्धित अवस्था में प्रकाश पड़ता है । पालि ग्रन्थों से विशिष्ट अर्थों में (देवलोक) धातु के उल्लेख तथा उच्च वर्ग में सुवर्णमय वस्तुओं का उपयोग सुवर्ण के बहुमूल्यता एवं विशिष्टता का परिचायक है ।

स्वर्णमय वस्तुओं की तालिका

		प्रथम काल	द्वितीय काल
(क)	**स्वर्णाभूषण :**		
1–	शिरोभूषण	1	7
2–	कण्ठाहार	4	7
3–	कुण्डल	2	1
4–	मुद्रिका	1	1
5–	हस्ताभरण	–	1
6–	मेखला	–	4
7–	पाजेब	1	–
(ख)	**वेशभूषा :**		
1–	पगड़ी	–	1
2–	दुःशाला	1	–
3–	स्वर्णजाल	–	9
4–	चरणपादुका	2	2

(ग)	**अन्य अलंकरण की वस्तुएं :**		
1–	छत्र	–	5
2–	चंवर	1	–
3–	ध्वजा	2	4
(घ)	**स्वर्णमुद्राराशि :**		
1–	निष्क	2	41
2–	हिरण्य	2	2
3–	जातरूप	1	1
(च)	**दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुएं :**		
1–	पात्र	5	5
2–	आसन (शयनआसन एवं पीठासन)	2	4
3–	वाहन		
	नौका	–	2
	रथ	–	6
4–	पिजंरा	–	1
5–	हौदा	–	1
6–	रस्सी	–	1
(छ)	**स्वर्णमय स्थापत्य :**		
1–	राजप्रासाद	2	3
2–	पुष्करिणी	1	–
3–	यज्ञीय यूप	–	1
4–	स्तूप	–	4
5–	चैत्य	–	1
6–	सभागार	–	1
7–	प्रदक्षिणापथ, वेदिका, फलक	–	1
8–	कूटागार	–	1
9–	दैव विमान	–	8
(ज)	**स्वर्ण मूर्ति**	–	1
(झ)	**शस्त्र :**		
1–	सुवर्ण मूठ वाली तलवार	–	1
2–	कूट	–	1

उपरोक्त दी गई तालिका से ज्ञात होता है कि सुवर्णमय वस्तुओं का प्रचलन एवं परिवर्द्धन क्रमशः परवर्ती चरणों में बढ़ता गया । सर्वाधिक प्रचलन नवीन प्रकारों एवं परिमाण की दृष्टि से स्वर्णाभूषणों के ज्ञात होते हैं । जबकि अलंकरण की अन्य वस्तुएं परवर्ती काल से ही उल्लिखित ज्ञात होती हैं । मुद्राओं का उपयोग बढ़ गया था तथा दैनिक जीवन में प्रयुक्त घरेलू उपकरण नवीन रूप में दिखाई पड़ते हैं । इसी प्रकार स्वर्णमय स्थापत्य के अन्तर्गत राजप्रासाद एवं धार्मिक स्तूप-चैत्य यज्ञीय यूप आदि का निर्माण भी किया जाने लगा था । इस प्रकार बौद्ध काल में सुवर्णमय वस्तुएं क्रमशः धनाढ्य वर्ग में नवीन रूप में प्रचलित दिखलाई पड़ती हैं ।

सुवर्ण प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोत

पालि ग्रन्थों में सुवर्ण धातु संबंधी प्राप्त आख्यानों एवं उपाख्यानों के सूक्ष्म अध्ययन से बौद्धकालीन भारत में प्राकृतिक संसाधनों के माध्यम से सुवर्ण प्राप्ति की सम्भावनाओं पर यथेष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है । विवेच्य काल में पालि ग्रन्थों से क्रमशः विकसित एवं परिवर्धित स्वरूप में सुवर्ण धातु के विभिन्न उपयोगों पर प्रकाश पड़ता है जिससे ज्ञात होता है कि तात्कालीन समाज में सुवर्ण धातु को प्राकृतिक संसाधनों से प्रभूत मात्रा में प्राप्त किया जाता रहा होगा । पालि ग्रन्थों के अन्तर्गत प्राप्त विभिन्न संदर्भों में ऐसे शब्द प्राप्त होते हैं जिनके सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में सुवर्ण प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम नदियों केतटवर्ती भाग थे । इस संबंध में 'सुवर्ण बालुका', 'सुवर्ण सिकता', 'सुवर्ण चूर्ण', 'सुवर्ण राशि' एवं 'जम्बूनद सुवर्ण' के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त सामुद्रिक तटों एवं व्यापार-वाणिज्य के अन्तर्गत सुवर्ण-प्राप्ति की संभावना पर प्रकाश पड़ता है । इसके लिए पालि ग्रंथों में 'समुद्ररत्न जातरूप' एवं 'अग्निमाल समुद्र' शब्दों के उल्लेख मिलते हैं । पालि ग्रंथों में विभिन्न संदर्भों में देश के उत्तरी भागों में अवस्थित' स्वर्ण-पर्वत,' 'सर्वसुवण्णमयगिरि', 'मेरू पर्वत' एवं भारत के बाहर स्थित 'सुवर्णभूमि' (विकसित व्यापारिक स्थल) के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन भूभागों के आसपास बहुमूल्य खनिज पदार्थों (स्वर्ण आदि) की उपस्थिति के कारण संभवतः इन्हें उपरोक्त नामों से अभिहित किया जाता रहा है । स्वर्ण प्राप्ति के संबंध में पालिनिकाय से महत्वपूर्ण उल्लेख अन्तरिक्ष में सुवर्ण धातु की उपस्थिति के संदर्भ में प्राप्त होता है । मोटे तौर पर पालि ग्रंथों से सुवर्ण प्राप्ति के चार प्रकार के प्राकृतिक स्रोतों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा :–

(1) नदियों के तटवर्ती भागों से सुवर्ण कणों की प्राप्ति,
(2) सामुद्रिक तट एवं गर्त से प्राप्त सुवर्ण कण,
(3) खानों से सुवर्ण धातु को प्राप्त किया जाना एवं
(4) अन्तरिक्ष में स्वर्ण प्राप्ति की संभावना ।

(1) नदियों के तटों से प्राप्त सुवर्ण कण–

प्राचीन पालि ग्रन्थों में आए आख्यानों एवं उपाख्यानों के सूक्ष्म अध्ययन से नदियों द्वारा स्वर्ण-कणों के रूप में धातु को प्राप्त किये जाने की संभावना पर बृहद् रूप से प्रकाश पड़ता है । इसके अन्तर्गत विभिन्न संदर्भों में उल्लिखित "जम्बूनद सुवर्ण", "सुवर्णबालुका", "सुवर्णराशि", "सुवर्णसिकता" एवं "सुवर्णचूर्ण" इत्यादि

शब्दों के उल्लेख मिलते है । इनके सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाज में सुवर्ण प्राप्ति के प्रमुख प्राकृतिक स्रोत नदियों के तटवर्ती भाग थे ।

जम्बूनद स्वर्ण–[1]

प्राचीन पालि ग्रन्थों से जम्बूनद स्वर्ण के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिसका तात्पर्य सम्भवतः बौद्धकालीन वृहत्तर भारतवर्ष की उत्तरवर्ती पर्वतीय श्रेणी (कैलाश-मानसरोवर के आसपास की पर्वतीय श्रेणियां) के आसपास व्याप्त प्रमुख जम्बूनदी के तटवर्ती भाग से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण कणों की प्राप्ति से रहा होगा । यथा "सुवण्ण जम्बोनद", "निक्खं जम्बोनद", "जम्बोनद-सुवण्ण" एवं 'जम्बोनदस्स पाकस्स सुवण्णस्स" (लाल जम्बूनद स्वर्ण वाला) ।

अर्थशास्त्र में सुवर्णाध्यक्ष को दिये गये खनिज सम्पदाओं के संरक्षण सम्बन्धी निर्देश के अन्तर्गत विभिन्न प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त सुवर्ण प्रकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[2] इनमें जम्बूनद नामक सुवर्ण प्रकार को वस्तुतः इस धातु के प्राप्ति स्थल से सम्बद्ध वनस्पतिक वैशिष्ट्य (जम्बूवृक्ष वाला प्रदेश) के कारण अभिहित किया गया है । महाभारत के 'सभा पर्व' में अर्जुन के द्वारा उत्तरापथ दिग्विजय के सन्दर्भ में जम्बूनदी के तटवर्ती भाग तक जाने एवं वहां से प्रभूत मात्रा में जम्बूनद स्वर्ण को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] महाभारत के विभिन्न पर्वों एवं पौराणिक आख्यानों से भी पर्वत राज सुमेरु के दक्षिण में स्थित गन्धमादन (मेरु-मन्दार) पर्वत के पार्श्व में अवस्थित विशाल जम्बू वृक्ष के फलों के रस से निर्मित जम्बूरसवती नदी का उल्लेख प्राप्त होता है । इस मधु-मिश्रित जम्बूनदी के तटवर्ती भाग से प्राप्त सुवर्ण को इन्द्रगोपक (बरसाती कीड़ा) के वर्ण सदृश कहा गया है । इस सुवर्ण का देवताओं के आभूषण इत्यादि के निर्माण में बहुलता से प्रयोग किया गया था ।[4] जम्बूरसवती नदी के अतिरिक्त ब्राह्मण साहित्य में ब्रह्मलोक से अवतरित एवं कैलास के पार्श्व में स्थित बिन्दुसर में प्रतिष्ठित हुई दिव्य गंगा की सप्तधाराओं में विभाजित होकर विभिन्न दिशाओं में प्रवाहित होने का उल्लेख प्राप्त होता

1. जातक, सं. 546, पृ. 302 धम्मपद, खु. नि. खंड–1, पृ. 38; मज्झिमनिकाय, खंड–3, पृ. 165; अंगुत्तरनिकाय (हि. अनु.), पृ. 275; जातक, सं. 543, पृ. 70; जातक, सं. 546, पृ. 29.
2. अर्थशास्त्र, "जाम्बूनदं शातकुम्भं हाटकं वैणवं श्रृंगिसुक्तिज़ जातरुपं रसविद्ध माकरोत् गतं च सुवर्णम ।" –द्वितीय अधिकरण, अ.13.
3. पौराणिक कोष, राणा प्रसाद शर्मा, पृ. सं. 178-79.
4. महा. भीष्म पर्व, 6.48; वायु पु. 35. 29, 47. 66; ब्रह्म., 2. 17, 22; 3. 22. 37. 27, 17, 4. 43. 17.

है जिसमें एक धारा को "जम्बूधारा" भी कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है सम्भवतः दिव्य गंगा की यह धारा उस जम्बू-खण्ड प्रदेश से होकर प्रवाहित हुई जहां नद्य स्वरूप जम्बूरसवती नदी व्याप्त थी तथा ऐसे वानस्पतिक वैशिष्ट्य वाले पर्वतीय भाग से प्रवाहित होने वाली जम्बू धारा अपने प्रवाह मार्ग में सुवर्ण मिश्रित जम्बूरसवती नदी के सम्पर्क में आने के कारण स्वाद में मधु समान एवं वर्णसादृश्यता (गुठली रहित सुनहरे रक्त वर्ण वाला जम्बू फल) के आधार पर सम्भवतः जम्बू नदी कहलाई ।

पौराणिक आख्यानों की भांति प्रथम शती ईस्वी के बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश साहित्य' में स्पष्ट रूप से विशाल जम्बूवृक्ष के गन्धमार्दन पर्वत के दक्षिणी शैल पर अवस्थित होने का संदर्भ प्राप्त होता है । विभाषा साहित्य के अनुसार यह पर्वत अनवतप्त दह (सरोवर) के समीप स्थित था जहां से चार प्रधान नदियां यथा– गंगा, सीता, सिन्धु एवं चक्षु निकली हैं ।[1] इस सरोवर की पहचान आधुनिक इतिहासविदों एवं भूगोल विदों ने उत्तर पश्चिम तिव्वत में विहित मानसरोवर राक्षसताल से की है । जहां से आधुनिक काल में चार प्रमुख नदियां प्रवाहित होती हैं ।[2] इस तथ्य की पुष्टि कैलाश पुराण 'कांगड़ी कुच्वा' से भी होती है । इस कैलास पुराण के अनुसार विशाल जम्बूवृक्ष के फल जब टूट कर मानसरोवर झील एवं आसपास के तटवर्ती भाग में गिरते हैं तथा "जैम" नामक तीव्र ध्वनि उत्पन्न होता था जिसके कारण इस समूचे क्षेत्र को "जम्बू लिंग" (पुराणों में विहित जम्बूद्वीप) की संज्ञा दी गयी थी । जहां से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण प्राप्त किया जाता था ।[3] परवर्ती साहित्यिक साक्ष्यों में जम्बू नदी को मानसरोवर के उत्तरी दिशा में प्रवाहित होने के प्रमाण मिलते हैं ।[4] जातक पालि में जम्बूनदी को ऊष्ण प्रपात वाली नदी कहा गया है ।[5] भूगर्भीय स्रोतों से पता चलता है कि अतिप्राचीन काल से ही मानसरोवर से राक्षसताल के मध्य उत्तर में ऊष्ण प्रपात वाली गंगा चिउ (नदी) प्रवाहित होती रही है जहां से प्राचीन काल से आधुनिक काल (लग.1910 ई. तक) तक कणों एवं ढेले (नगेट्स) के रूप में अपार सुवर्ण को प्राप्त किया जाता

1. "तस्माहिमवतः परेणानवतप्तं नाम सरो गन्धमादनादनादर्वाक, यतश्चतस्तो नद्यः स्त्रवन्ति गंगा, सिंधु, सीता वक्षुश्च । तस्यैव चान्तिके जम्बूरभिनिर्वता मधुस्वादूनि यस्याः फलानि तदाधिकरणाय जम्बूद्वीप इति ख्यातः । "–स्वामी द्वारिका दास शास्त्री, अभिधर्मकोशस्थानम्, तृतीय कोशस्थानम्, पृ. सं. 513.
2. स्वामी प्रणवानन्द जी, कैलाश मानसरोवर, पृ. सं.– 9
3. वही.
4. मानस खण्ड स्कन्द पु., पृ. 205.
5. जातक पालि, सं. 535, खुद्दक निकाय, खंड–3, भा. 2, पृ.117-118.

OM

THE HOLY MĀNASARŌVAR AND RĀKSHAS TĀL

Map No. 4

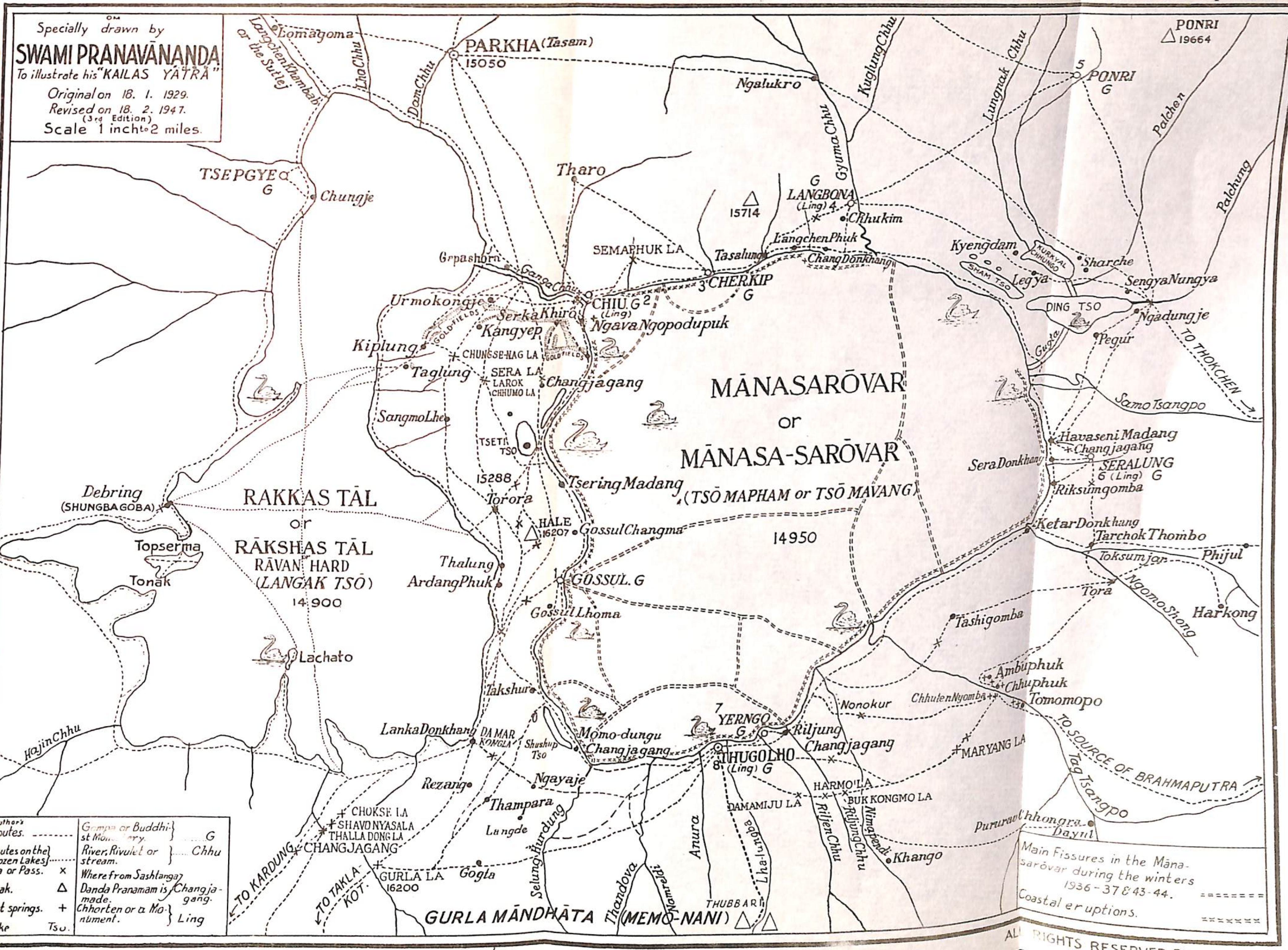

ALL RIGHTS RESERVED BY AUTHOR.

REG. NO. 2. 30 E'45— '46.
... SURVEY OF INDIA OFFICES. (P.L.O.)

रहा है ।[1] उपरोक्त साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर इस सुवर्ण प्राप्ति वाले क्षेत्र एवं स्वर्ण धातु को बौद्धकालीन भारतवर्ष में बहुलता से उपयोग में लाये जाने वाले जाम्बूनद नामक स्वर्ण प्रकार से समीकृत किया जा सकता है । (संलग्न मानचित्र देखें) ।

(2) स्वर्ण राशि–

"चंपेय्य जातक" में जलमग्न ऐश्वर्यशाली चंपानगरी (अंग एवं मगध की सीमा पर स्थित) ताड़वृक्ष जितनी ऊंची ढेरों बोरियों से भरे सुवर्ण राशि (धूलि) का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसे स्थापत्य आदि कार्यों में प्रयुक्त किया गया था । यथा– "सुवण्णरासि च तालमत्ता" ।[2]

(3) सुवर्ण बालुका–

खुद्दक निकाय से भिन्न-भिन्न संदर्भों में रेतीले कणों के रूप में प्राप्त सुवर्ण धातु के अन्तर्गत "सोण्णबालुका" एवं "सोवण्ण बालुका" जैसे शब्दों के उल्लेख मिलते हैं ।

(4) सोण्ण बालुका–

"विमानवत्थु" से देवताओं द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले उच्च शिखरस्थ स्वर्णिम देवालयों के समीप सुवर्ण बालुका विकीर्ण पुष्करिणी का उल्लेख मिलता है । यंथा– "पोक्खञ्ञो च मे एत्थ पुथुलोम, निसेविता ।
अच्छोदका विप्पसन्ना सोण्ण बालुका सन्थता ।"[3]

महाभारत के उद्योग पर्व एवं भीष्म पर्व में कैलास के समीप स्वर्ण शिखर वाले मैनाक पर्वत के पाद प्रान्त में स्वर्ण बालुका विकीर्ण दिव्य- बिन्दुसरोवर का वर्णन प्राप्त होता है ।[4] इस सम्पूर्ण पर्वतीय भाग को देवस्थली कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि बहुमूल्य खनिज पदार्थों (स्वर्ण आदि) से युक्त पर्वतीय भाग से निकलने वाली नदी के माध्यम से अथवा वर्षा के जल द्वारा आसपास के गढ्ढों में (पर्वतीय गर्त) एकत्रित किये जाते थे जिनसे व्याप्त हो ये स्वर्णिम-पुष्करणी सदृश प्रतीत होते

1. स्वामी प्रणवानन्द जी, कैलासमानसरोवर, पृ. 49.
2. जातक अट्ठकथा, सं. 506, पृ. 341.
3. विमानवत्थु, पृ. 65.
4. आच्युतरेण कैलासं पर्वतं प्रति । हिरण्य श्रृंगः सुमहान्दिव्यो मणिमयो गिरिः । तस्यपार्श्वे महद् दिव्यं शुभ्रकान्चबालुकम् । रम्यंबिन्दुसरोनाम यत्र राजा भगीरथो तत्र दिव्या त्रिपथगा प्रथमं तु प्रतिष्ठिता ।" –उद्योग पर्व,.

थे । धातु वैशिष्ट्य के कारण ऐसे पर्वतीय गर्त की परिकल्पना विशिष्ट अर्थों में (देवताओं के) स्वर्णिम पुष्करणी के रूप में की गयी प्रतीत होती है ।

(ख) सुवर्ण बालुका--

जातक पालि से नदियों द्वारा सुवर्ण बालुका बहाकर लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जो नदियों के तटवर्ती भाग से सुवर्ण कण की विद्यमानता का स्पष्ट साक्ष्य है । यथा–

"नज्जायो सुपतित्थायो सोवण्ण बालुका सन्थता ।"[1]

इसके अतिरिक्त पालि निकायों से तकनीकी ज्ञान एवं दान-दक्षिणा के संदर्भ में "सुवर्ण सिकता" एवं "सुवर्ण चूर्ण" शब्द के उल्लेख मिलते हैं ।[2] जिसका अभिप्राय संभवतः सुवर्ण कणों से ही है । वैदिक साहित्य में सिन्धु नदी से सुवर्ण कणों की प्राप्ति के कारण इसे "हिरण्यवर्तिनी" कहा गया है ।[3] 5वीं शताब्दी ई. पू. के यूनानी लेखक हेरोडोटस ने सिन्धु की उपत्यका के (विशेषकर पंजाब) सिंध व काबुल नदियों की रेत से सुवर्ण कणों की प्राप्ति का उल्लेख किया है । इसने 360 टैलेन्ट स्वर्ण धूलि के रूप में भारतीय कर को प्रतिवर्ष ईरानी नरेश को दिये जाने का उल्लेख भी किया है । "इण्डिका" के अनुसार बड़ी-बड़ी चीटियां जमीन खोदकर स्वर्ण धूलि एकत्र करती थीं ।[4] चतुर्थ शती ई. पू. के यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ ने "नद-सुवर्ण" का उल्लेख किया है । इसके अनुसार स्थानीय खनक अपने यहां खूंख्वार कुत्ते रखते थे जो सोना ले जाने वालों को खदेड़ देते थे ।[5] "मालविकाग्नि-मित्रम्" में "कनकसिकता" (नदियों के तट से प्राप्त स्वर्ण धूलि) का उल्लेख प्राप्त

---

1. जातक पालि, भाग–2, पृ. 296, हि. अनु., भा.6, पृ. 315.
2. अंगुत्तर निकाय पालि, पृ. 238; संयुक्त निकाय पालि, खंड–1, पृ. 63.
3. ऋग्वेद, 8.26.18.
4. क्लासिकल एकाउन्ट्स आव एन्शियंट इण्डिया, पृ. 2-3.
5. वही, पृ. 229;
   अर्थशास्त्र में परिचित पहाड़ों के गढ्ढों, गुफाओं, तराइयों, पथरीले स्थानों एवं शिलाओं से ढके हुए छेदों द्वारा बहने वाले जल से, जिसका रंग जामुन, आम, ताड़ का फल, पक्की-हल्दी, हरताल, मैनसिल, शहद, शिंगरफ, कमल, तोता, मोरपंख आदि के रंग का हो तथा अपने समान रंग के पानी एवं औषधि तक बहने वाले चिकने भारी जल को देखकर सोने की कान का अनुमान होने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार के जल को यदि दूसरे जल में मिलाया जाय तो वह तेल की तरह फैलने लगे या निरबिसी फल के समान पानी को साफ करता हुआ नीचे बैठ जाए अथवा सौ पल तांबा या चांदी उसके ऊपर डालकर यदि वह उसको एक पल जल सुनहरा बना दे तो उस जलस्रोत के नीचे सुवर्ण की खान अवश्य समझना चाहिए ।"
   –गैरोला, वाचस्पति, अर्थशास्त्र, पृ. 165.

होता है ।[1] द्वितीय शताब्दी ई. के रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उर्जयत पर्वत से निकलने वाली सुवर्णसिकता नदी का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] सम्भवतः सुवर्ण कणों की प्राप्ति के कारण इसे सुवर्ण सिकता नदी कहा गया है । सर अलेक्जेन्डर कनिंघम ने उर्जयत पर्वत श्रेणियों से निकलने वाली नदियों से सुवर्ण कणों की प्राप्ति का उल्लेख किया है ।[3]

पालि ग्रन्थों में आए उपरोक्त संदर्भों के सूक्ष्म अध्ययन एवं विश्लेषण से ज्ञात होता है कि बुद्धकालीन भारत में स्थानीय रूप से नदियों के तटवर्ती भाग से प्रभूत मात्रा में स्वर्ण कण प्राप्त किये जाते थे । आधुनिक आर्थिक भू-विज्ञान के अनुसार प्राचीन काल में सुवर्ण प्राप्ति का सर्वोत्तम माध्यम नदियों के तटवर्ती भू-भाग थे । इसे 'प्लेसर तकनीक' कहा जाता है । इनके अनुसार 'प्लेसर तकनीक' के अन्तर्गत 'जलोढ़ प्लेसर तकनीक' द्वारा स्वर्ण कण नदियों के तटवर्ती भाग से प्राप्त किये जाते हैं । इस तकनीक में स्वर्णमय स्फटिक की शिराओं में अपरदन अथवा अपक्षय के कारण सुवर्ण छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त हो जाते हैं जिन्हें वर्षा के जल द्वारा पर्वतीय भाग से समतल भू-भाग पर अथवा सहायक नदियों तक पहुँचाया जाता है । सहायक नदियों द्वारा सुवर्ण शैल मैट्रिक्स प्रमुख नदियों में पहुंचाये जाते हैं । दोनों नदियों के संगम स्थल से कुछ दूरी पर (लगभग 6 फीट की दूरी पर) सहायक नदी का प्रवाह कम होने पर यह खनिज पदार्थ तटों पर व्याप्त हो जाते हैं । कभी-कभी सुवर्ण कण अवरोधों के पास (चट्टानों के आसपास) भी प्राप्त होते हैं ।[4] प्राचीन काल में सिंध, सतलज, काश्मीर की नदियों, गंगा, स्वर्ण रेखा, स्वर्णसिरि (असम) नदियों इत्यादि से स्वर्ण कणों की प्राप्ति की जाती थी । आधुनिक काल में भी इन नदियों के तटवर्ती भाग से स्वर्ण कण अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होते हैं ।[5]

(2) समुद्र से प्राप्त सुवर्ण धातु :

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रंथों में वर्णित संदर्भों के सूक्ष्म अध्ययन से महासमुद्र में सुवर्ण कणों की विद्यमानता पर प्रकाश पड़ता है । यह सुवर्ण कण समुद्र के गर्त में

---

1. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 571; मालविकाग्निमित्रम, 1.17.
2. जूनागढ़ शिलालेख, प्रथम रुद्रदामन, सं. ई. पृ. 17.
3. प्रा. भा. का एतिहासिक भूगोल, कनिंघम, हिन्दी अनु., जगदीशचंद्र, पृ. 331.
4. आर्थिक भू-विज्ञान, कृष्ण गोपालव्यास, पृ. 65--114.
5. मेटल एण्ड मेटलर्जी, डॉ. भानु प्रकाश, पृ. 8-9; गोल्ड इन एन्शियंट साउथ इंडिया, जी. कुपुराम, सेमिनार आन एन्शियंट मेटल इण्डस्ट्रीज़ आफ साउथ इंडिया, थंजवुर, मार्च, 1983.

तथा उसकी मध्य धारा में पाए जाते थे । इसके लिए पालि ग्रंथों से 'समुद्री रत्न जातरूप' एवं 'अग्निमाल समुद्र' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) समुद्री रत्न जातरूप :

'विनयपिटक' एवं 'उदानपालि' से महासमुद्र में स्वर्ण आदि बहुमूल्य खनिज पदार्थों की उपस्थिति के संकेत प्राप्त होते हैं । यथा–

'महासमुद्दो बहुरतनयो अनेक रतनो तत्रिमानि मुत्ता मणि वेलुरिय संखो सिला पवालं रजतं जातरूपं लोहितांगो मसारगल्लं ।' अर्थात्

'महासमुद्र में बहुत से रत्न पाए जाते हैं । इनमें मुक्ता-माणिक्य, वैदूर्य, शंख, शिला, मूंगा, रजत, जातरूप, लोहितांक एवं मसारगल्ल आदि पाए जाते हैं ।'[1]

आधुनिक काल में दक्षिण भारत के समुद्र तटवर्ती भागों से बहुमूल्य खनिज पदार्थों में स्वर्ण कण भी प्राप्त किये जाते हैं । इनमें ट्रावनकोर, क्विलान (केरल) तथा रामेश्वरम (तमिलनाडु) से पुलिन प्लेसर निक्षेप द्वारा स्वर्णकणों की प्राप्ति की जाती है । इस तकनीक में नदियों द्वारा बहाकर लाए गए खनिज पदार्थों से व्याप्त महासमुद्र की उत्ताल तरंगों अथवा धाराओं द्वारा भारी व हल्के खनिज पदार्थ समुद्री तटों तक पहुंचाये जाते हैं । धाराओं का वेग समाप्त होने पर तटवर्ती भाग भारी व हल्के खनिज पदार्थ तटों पर व्याप्त हो जाते हैं जिन्हें तटवर्ती भाग से प्राप्त कर लिया जाता है ।[2]

(ख) अग्निमाल समुद्र :

'शूर्पारक जातक' से भृगुकच्छ के वणिक दल द्वारा पश्चिमी तट से वाणिज्य व्यापार हेतु सामुद्रिक अभियान किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । अपने सामुद्रिक अभियान में ये वणिक दल क्रमशः आगे बढ़ते हुए अग्निमाल समुद्र में पहुँचते हैं । इस समुद्र का जल प्रज्वलित अग्निस्कन्ध एवं मध्यान्ह सूर्य की भांति दिखलाई पड़ता था । जातक अट्ठकथा के अनुसार इस समुद्र की मध्य धारा से प्रभूत मात्रा में सुवर्ण कण प्राप्त किये जाते थे । यथा–

'यथाअग्गी व सुरियो व समुद्दोपटिस्सन्ति
कुरूकच्छा पयातानं वणिजानं धनेसिनं ।
नावाय विप्पट्ठानं अग्गिमाली ति वुच्चति ।।' अर्थात्

---

1. चुल्लवग्ग, विनयपिटक, हि. अनु. पृ. 510; उदानपालि, खु. नि., खंड–1, पृ. 128, हि. अनु. पृ. 73.
2. आर्थिक भू-विज्ञान, कृष्ण गोपाल व्यास, पृ. 65.

'धन की खोज में निकले वणिकदल भरूकच्छ से नाव में बैठकर अग्निमाल समुद्र में पहुँचते हैं, जिसकी जलधारा प्रज्ज्वलित अग्नि एवं सूर्य के सदृश प्रतीत होती थी ।'[1]

शूर्पारक जातक की अट्ठकथा के अनुसार सुवर्ण कणों की प्राप्ति के कारण इसे अग्निमाल समुद्र कहा गया । वणिक दल का नेतृत्व करने वाले बोधिसत्व स्वयं इस समुद्र की मध्य धारा में जाल फेंक कर बहुत सा सुवर्ण कण प्राप्त करते हैं । सामुद्रिक यात्रा के क्रम में क्रमशः 'खुरमाली समुद्र' अर्थात् हीरों की प्राप्ति वाला समुद्र (इस समुद्र में छूरे की नासिका जैसी मछलियां पायी जाती थीं), 'अग्निमालसमुद्र', 'दधिमालकसमुद्र' (चांदी प्राप्ति वाला समुद्र), 'नीलकृशमालसमुद्र' (नीलमणि की प्राप्ति वाला समुद्र), 'बालमालसमुद्र' (बांस के रंग के बिल्लौर की प्राप्ति वाला समुद्र), एवं 'बलमामुखसमुद्र' पहुँचते हैं । इस समुद्र में चारों और से पानी उछल-उछल कर आता था जैसे चारों ओर से तट टूटा हो (सम्भवतः भंवर वाले भाग का संकेत देता है) । यहाँ से कोई बच कर वापस नहीं जा सकता था ।[2] 'बावेरू जातक' से भारतीय व्यापारियों के जलयान द्वारा फारस की खाड़ी से होकर बेबीलोन की यात्रा किये जाने पर प्रकाश पड़ता है ।[3] डॉ. काशी प्रसाद जायसवाल अग्निमाल समुद्र की स्थिति अदन के समीप अरब के किनारे का समुद्र या सोमाली तट का कुछ भाग मानते हैं । उनके अनुसार खुरमाली समुद्र बेबीलोन के आसपास का समुद्र है क्योंकि बेबीलोन के एक प्राचीन देवता का नाम खुर था । बलमामुख समुद्र भूमध्यसागर है, जिसमें आजतक ज्वालामुखी की लपटें उठती हैं । नीलकृष्णमाल समुद्र प्राचीन काल की नहर थी जो लाल सागर को नील नदी से मिलाती है तथा कुसमाल समुद्र अफ्रीका के उत्तरी-पूर्वी किनारे के नुबिया नामक स्थल से पहचाना है ।[4] डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी ने समुद्री मार्ग के अन्तर्गत बेबीलोन, अरब, मिस्र, यूनान एवं भूमध्यसागर के कतिपय देशों से प्राचीन भारत के व्यापारिक संबंध का उल्लेख किया है ।[5] ऐसा प्रतीत होता है अपने सामुद्रिक अभियान के क्रम में ये वणिक दल अरब सागर से उत्तर की ओर अर्थात् फारस की खाड़ी से बेबीलोन होते हुए भूमध्यसागर तक गये थे । अग्निमाल समुद्र की स्थिति बेबीलोन (प्राचीन काल में बेबीलोनिया में मछलियाँ काफी पायी जाती थीं)[6] से आगे या उसके आसपास की संभवतः सामुद्रिक स्थिति रही होगी ।

---

1. जातक पालि, संख्या 463, खु. नि. खंड-3, भाग-1, हि. अनु. खंड-4, पृ. 339.
2. जातक पालि, भाग–1, पृ. 231; अट्ठकथा, हि. अनु., खंड-4, पृ. 339.
3. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 543.
4. वही, पृ. 155-56, जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जिल्द - 6, पृ. 195.
5. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ - 155-56.
6. गोयल, श्री राम ; विश्वकी प्राचीन सभ्यताएं, पृ. 27.

(3) खान से सुवर्ण प्राप्ति की संभावना :

प्राचीन पालि ग्रंथों में वर्णित आख्यानों एवं उपाख्यानों के विश्लेषण से पटारी सोना अर्थात् खान से सुवर्ण प्राप्ति की संभावना पर प्रकाश पड़ता है पालि ग्रंथों में सुवर्ण धातु को भू-खनिज तत्वों में से एक कहा गया है । इस संबंध में विशेष रूप से पालि ग्रन्थों से भौगोलिक संदर्भों में उत्तरीभारत में अवस्थित पर्वतीय शृंखलाओं के उल्लेख मिलते हैं जिनके लिये सुवर्णमय एवं सर्वसुवर्णमय विशेषण प्रयुक्त हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि बहुमूल्य खनिज सम्पदाओं से सम्पन्न होने के कारण ये पर्वत (पर्वतीय शृंखलाएं) सुवर्णमय कहे गये हैं किन्तु ऐसे पर्वतीय भाग में कठिन जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति के कारण इन खनिज सम्पदाओं को (स्वर्ण आदि) सामान्य रूप से प्राप्त करना सम्भव नहीं था । अतः ये विशिष्ट अर्थों में (देवालय) प्रयुक्त होकर रह गये ।[1] इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से विकसित वैदेशिक व्यापार-वाणिज्य के अन्तर्गत सुवर्ण भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है । एक विकसित व्यापारिक स्थल के रूप में ज्ञात सुवर्ण भूमि जैसा दूरस्थ पूर्वी देश कठिन प्राकृतिक अवरोधों के बाद भी भारतीय वणिक दल को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है । इसका कारण सम्भवतः यहां बहुमूल्य खनिज पदार्थ (स्वर्ण आदि) की प्राप्ति से रहा होगा जिस कारण से इसे सुवर्ण भूमि नाम से जाना जाता रहा होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वी एवं पश्चिमी तट के भारतीय वणिक दल इस भूभाग पर जाते थे तथा सुवर्ण आदि आयात करते थे ।

(क) भू-खनिज तत्व जातरूप :

'अभिधम्मपिटक' के 'विभंगपालि' ग्रन्थ से पृथ्वी के भू-खनिज तत्वों के अन्तर्गत स्वर्ण धातु का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'रजतं जातरूपं लोहितांगो मसारगल्लं तिणं कट्ठं सक्खर भूमि पाषाण पब्बतो ।' अर्थात्

'रजत, सुवर्ण, लोहितांक, मसारगल्ल, तृण, काष्ठ, भूमि, पाषाण इत्यादि के कारण पृथ्वी के ठोसपन, कठोरपन एवं रूखेपन आदि गुण देखे जा सकते हैं' ।[2]

दीघनिकाय एवं जातक से कान्तार नामक स्थल पर (वाराणसी के समीप स्थित) श्रावस्ती के वणिक दल द्वारा बहुत सी धातुओं के क्रम में सुवर्ण को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3]

---

1. कुणाल जातक में अञ्जन, हरिताल, हिंगुलक, सोना व चांदी इत्यादि सैकड़ों खनिज पदार्थों से मण्डित हिमालय पर्वत की शृंखलाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं यहाँ किन्नर, यक्ष, राक्षस इत्यादि निवास करते थे । जातक सं 536, हि., अनु., भाग-6 पृ. 503 (कृपया देखें पृ. 362 पर) ।
2. विभंगपालि, अभिधम्म पिटक, पृ. 102; हि. अनु.; शर्मा, बी. डी. एन.; विभज्यवाद, पृ. 42.
3. दीघनिकायपालि, खंड-2, पृ.60-61, जातकपालि, खु. नि., भा-1, पृ. 68, हि. अनु., भाग-2, पृ. 25.

(ख) स्वर्णमय पर्वतीय भाग से सुवर्ण प्राप्ति की संभावना :

पाली ग्रंथों से विभिन्न संदर्भों में सुवर्णमय पर्वतों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा नेरू पर्वत, सूवर्ण पर्वत, एवं सर्वसुवर्णमय गिरि ।

नेरू पर्वत :

"नेरु जातक" से नेरु नामक कांचन पर्वत का उल्लेख प्राप्त होता है । यहां बसने वाला हर प्राणी स्वर्ण सदृश प्रतीत होता था । यथा

"इमं नेरुन्ति जानन्ति मनुस्सा पव्बतूपम इध वण्णेन सम्पन्ना"

वसन्ति सव्बपाणिनो । '. अर्थात्

"इस उत्तम पर्वत को नेरु कहते हैं । यहाँ बसने वाला हरेक प्राणी स्वर्ण सदृश दिखलायी पड़ता है ।"[1]

कुणाल जातक में अन्जन, हरिताल, हिंगुलक, सोना व चांदी इत्यादि सैकड़ों खनिज पदार्थों से मण्डित हिमालय पर्वत की विभिन्न श्रृंखलाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[2] पौराणिक आख्यानों में हिमालय की विस्तीर्ण पर्वत श्रेणियों में से एक 'नमेरु' को पूर्णतः सुवर्ण से परिपूर्ण कहा गया है ।[3] स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपनी पुस्तक "कैलाशमानसरोवर" में उत्तर पश्चिमी तिब्बत के अन्तर्गत विहित हिमवान की विभिन्न शृंखलाओं में भू-गर्भीय स्रोतों के आधार पर स्वर्ण आदि खनिज सम्पदा का निर्धारण करते हुए थोक जालुंग, रुंगमार थोक, थोक दौरा कपा इत्यादि प्रमुख सुवर्ण युक्त पर्वतों का उल्लेख किया है ।[4]

सुवर्णपाश्र्व पर्वत :

"छद्दन्त जातक" से स्वर्णपाश्र्व पर्वत का उल्लेख प्राप्त होता है, जो काशी से उत्तर की ओर कहीं स्थित था । यथा–

"इतो उजुं उत्तरियं दिसायं, अतिक्कम, सोसत्तगिरि ब्रह्न्ते ।

सुपस्स सो सत्त गिरि, उकारो सुपुप्फित्तो किंपुरिस नुचिण्णो ।"

अर्थात्

"यहां से (काशी से) उत्तर की ओर सात बड़े पर्वत हैं जिनके चारों ओर स्थित सातवां पर्वत सुवर्ण पाश्र्व नामक सुपुष्पित पर्वत है । यहां किंपुरिस रहते हैं ।[5]

---

1. जातकपालि, सं. 379, भा.-1, पृ. 131; हि. अनु. तृ. खं., पृ. 132.
2. जातक सं. 536, हि. अनु., भा.-6, पृ. 503 (देखें पृ. 362).
3. काशी खण्ड, स्कंद पुराण, प्र. अध्याय-
   "नमेरु स्वर्णपूर्णत्वाद रत्न सानुदया अथवा ।'
4. स्वामी प्रणवानन्द जी, कैलाश्न मानसरोवर, मानचित्र सं. 5, 'तिब्बत एवं एडजेसेण्ट लेण्ड्स.'
5. जातकपालि, संख्या-514, खु. नि., खंड-3, भाग-1, पृ. 372, हि. अनु. खण्ड-5, पृ. 132.

'चंदकिन्नर जातक' से किन्नरों को हिमवन्त प्रदेश (गंधमार्दन पर्वत, कैलाश पर्वत) का निवासी बताया गया है । यह पर्वत हरे रंग की तथा वनस्पतिक औषधियों से युक्त था ।[1] नंदलाल डे ने इसे रुद्र हिमालय से समीकृत किया है ।[2] मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकाल फरिश्ता के अनुसार कुमायूं के राजा के पास विस्तृत प्रदेश है । उसके क्षेत्र में पर्याप्त सुवर्ण प्राप्त होता है । आधुनिक भूगोलविद् डॉ. विश्वम्भर शरण सहाय ने भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख पर्वतीय शृंखलाओं में उत्तर प्रदेश के गढ़वाल एवं कुमायूं की पहाड़ियों को प्रमुख मानते हुए यहां से स्वर्ण आदि खनिज सम्पदा की प्राप्ति का उल्लेख किया है ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर-पूर्वी भारत की ओर विस्तृत पर्वत शृंगों में से एक गन्धमार्दन पर्वत भी था जो भौगोलिक दृष्टि से आधुनिक हिमाचल प्रदेश के पूर्वी भाग को घेरे हुए है । यह पर्वत भारत-तिब्बत सीमा (विशेषकर किन्नौर प्रदेश जहां आधुनिक काल में किन्नर प्रजाति के लोग रहते हैं) तक विस्तृत था । गंधमार्दन पर्वत की दक्षिण-पूर्वी दिशा (पार्श्वभाग) तक फैली शृंखला सम्भवतः स्वर्ण आदि खनिज सम्पदाओं से सम्पन्न होने के कारण सुवर्ण पार्श्व पर्वत कहलायी । नवीं सदी के अरब यात्री ने भारत व चीन के पहाड़ों में रत्नों एवं सोने की खान होने का उल्लेख किया है ।[4] स्वामी प्रणवानन्द जी ने 'हिमालय में भारतीय संस्कृति' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मानसरोवर के समीप किसी समय सुवर्ण की खानें थीं ।[5] तिब्बती लोग इस सोने को ल्हासा के बाजार में 10 रु. प्रति तोले के भाव से बेच देते थे । मानसरोवर के समीप सुवर्ण खानें 1900 ई. तक विद्यमान थीं ।[6]

सर्वसुवर्णमयगिरि :

'भूरिदत्त जातक' से कुरू राष्ट्र के समीप बहने वाली यमुना नदी के समीप अवस्थित सर्वसुवर्णमयगिरि का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. जातकपालि, सं. 484, पृ. 271, हि. अनु., खंड-4, पृ. 490.
2. डे, नन्दलाल; ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आव एन्शियंट एण्ड मेडिवल इंडिया, पृ. 60.
   "चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के यूनानी इतिहासकार आनेसिक्रिटस ने पश्चिमी भारत के सिंध प्रांत में स्वर्ण की खान होने का उल्लेख किया है जिसका उपयोग स्थानीय लोग नहीं करते थे । प्रथम शती ईस्वी के रोमन इतिहासकार प्लिनी आबू पर्वत के पार रहने वालों को स्वर्ण एवं रजत की विस्तृत खानों का स्वामी कहा है ।"--क्लासिकल एकाउण्टस आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 2-3
3. सहाय, विश्वम्भर शरण; हिमालय में भारतीय संस्कृति, पृ. 258.
4. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 600 पर उद्धृत अबूजैद सराफी, पृष्ठ- 135.
5. हिमालय में भारतीय संस्कृति, पृ. 258.
6. जातकपालि, सं. 543, भाग-1, पृ. 241, हि. अनु., भा-6, पृ. 236.

'जोतते सब्बसोवण्णये गिरिमाहच्च यामुनं' अर्थात् यहाँ यमुना के समीप ही सर्वसुवर्णमय गिरि है ।

'अम्बजातक से यामुन पर्वत का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] इसे नंदलाल डे ने यमनोत्री कहा है ।[2] सम्भवतः आधुनिक उत्तर प्रदेश में उत्तरी भाग में अवस्थित (यमुनोत्री के आसपास) हिमालय की पर्वतीय शृंखला रही होगी । अर्थशास्त्र में पर्वतीय भाग से स्वर्ण प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं । यथा- 'शातकुम्भ' नामक सुवर्ण कमल के किंजल्क सदृश वर्ण वाला शातकुम्भ पर्वत से प्राप्त होता था । वेणुपर्वत से उत्पन्न कर्णिकार के पुष्प सदृश 'वैणव' नामक सुवर्ण की प्राप्ति के उल्लेख मिलते हैं ।[3]

(4) अन्तरिक्ष में सुवर्णधातु की विद्यमानता :

'अंगुत्तरनिकायपालि' से बौद्ध धर्म के व्यवहारिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अन्तरिक्ष में सुवर्ण धातु की उपस्थिति के संदर्भ में महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'आकाश स्थित जितने भी प्रदेश हैं उस प्रदेश में जितना भी हटक (सोना) है जो सुवर्ण, कान्चन अथवा जातरूप कहलाता है । उनकी चमक उपोसथ व्रत करने वाले की चमक (दिव्य व्यक्तित्व) के एक अंश के बराबर भी नहीं है ।'[4] (पालि हेतु देखें पृ. 98 पर)

अर्थशास्त्र में 'हाटक' नामक सुवर्ण, जो कटसरैया के पीले फूल के सदृश रंग वाला था, हाटक नामक सुवर्ण की खान से प्राप्त होता था । 'जातरूप' स्वतः शुद्ध अर्थात् खान से शुद्ध रूप में निकला स्वर्ण था । शृंगीशुक्तिज नामक सुवर्ण स्वर्णभूमि से, रसविद्ध अर्थात् पारे द्वारा शुद्ध किया हुआ सुवर्ण तथा आकरोद्गत अर्थात् अशुद्ध रूप में खान से निकला हुआ सुवर्ण उल्लिखित है ।[5] चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के यूनानी इतिहासकार मेगस्थनीज के अनुसार श्रीलंका में भारत से अधिक सुवर्ण प्राप्त होता था, जिसका आशय सम्भवतः यहां की प्रसिद्ध सुवर्ण खानों से स्वर्ण प्राप्ति से रहा होगा ।[6] चतुर्थ शताब्दी ई. की पालिअट्ठकथा 'पपंचसूदनी' के अनुसार सम्पूर्ण जंबूद्वीप से सुवर्ण प्राप्त किया जाता था ।[7] सर जान मार्शल ने दक्षिण की

---

1. पालिजातक एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 71.
2. ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आव एन्यियंट एंड मेडिवल इंडिया, पृ. 215.
3. गैरोला, वाचस्पति; अर्थशास्त्र 2.13, द्वि. अधि., पृ. 174.
4. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-3, पृ. 252-54-60, हि. अनु., तृ. भाग, पृ. 329-31; खंड-1, पृ. 199.
5. अर्थशास्त्र, 2.13, द्वि. अधि., पृ. 174.
6. मजुमदार, रमेश चन्द्र; क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ.- 261.
7. पपंचसूदनी, खंड-2, पृ. 126.

प्रसिद्ध खान कोलार से 2500 वर्षों से सुवर्ण निकाले जाने का उल्लेख किया है ।[1] प्राचीन भारत में दक्षिण भारत की कोलार (मैसूर), हुट्टी (आन्ध्र) एवं नीलगिरि की पहाड़ी (तामिलनाडु) से सुवर्ण प्राप्त किया जाता था, जो आधुनिक काल की प्रसिद्ध सुवर्ण खाने हैं ।[2]

सुवर्ण भूमि :

बौद्ध पालि ग्रंथों से भारत के बाहर पूर्वी देशों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संबंधों के अन्तर्गत सुवर्ण भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है । जहां भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तटों से सामुद्रिक व्यापार अत्यन्त समुन्नत दशा में था । पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विभिन्न प्राकृतिक अवरोधों के बाद भी ये क्षेत्रविशेष बौद्ध काल में भारतीय वणिक दल को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है । ऐसा प्रतीत होता है कि भौतिक सम्पदाओं से समृद्ध इस क्षेत्रविशेष में सुवर्ण जैसे बहुमूल्य खनिज पदार्थों की प्राप्ति के कारण इसे सुवर्णभूमि नाम की संज्ञा दी गई होगी । यहां से भारतीय वणिक दल द्वारा स्वर्ण आदि का आयात किया जाता रहा होगा ।

'मिलिन्दप्रश्नपालि' से भारत के पूर्वी देशों से व्यापारिक संबंधों के अन्तर्गत सुवर्ण भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

> 'सम्पन्नो नाविको. वडगो तक्कोलं चीनं सोवीरं सुरट्ठं
> अलसन्दं कालपट्टनं सुवण्णभूमिं गच्छंति ।'[3]

'महानिदेसपालि' में भारत के पूर्वी देशों से व्यापारिक संबंधों के अन्तर्गत कालमुख, सुवर्णभूमि, बेसुंग, वेरापथ, तक्कोल, तमलि, ताम्रपर्णि एवं जव देशों के नाम मिलते हैं ।[4] अर्थशास्त्र के अनुसार शृंगिसुक्तजि नामक सुवर्ण (मैनसिल के रंग का) सुवर्णभूमि से प्राप्त किया जाता था ।[5] जातक अट्ठकथा के अनुसार भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी तट से वणिक दल धन कमाने की इच्छा से सुवर्ण भूमि तक जाते थे ।[6] अट्ठकथा के अनुसार निर्वासित विदेह नरेश नौका पर सवार होकर धंन कमाने की इच्छा से सुवर्ण भूमि को जाते हैं । सात दिन में सात सौ मील की यात्रा करके यह दल सुवर्ण भूमि पहुंचा।[7] सिंघली परम्परा के अनुसार तृतीय

---

1. प्राचीन भारत में रसायन शास्त्र, पृ. 746.
2. डा. भानुप्रकाश, मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 899
3. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 351.
4. महानिदेसपालि, खु. नि., खंड-4, पृ. 154-55.
5. अर्थशास्त्र, 2.13, पृ. 174.
6. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 544-45.
7. डा. सिंघल दामोदर : एशिया में बौद्धधर्म, पृ. 143.

शताब्दी ई. पू. में भारत से बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु सोण व उत्तर नामक बौद्ध भिक्षुओं के सुवर्ण भूमि गमन का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1]

पालि ग्रन्थों में अनेक ऐसे संदर्भ प्राप्त होते हैं जिसमें पूर्वी एवं पश्चिमी देश में धन कमाने की इच्छा रखने वाले वणिक दलों का एक प्रमुख लक्ष्य सुवर्ण की प्राप्ति भी रहा है । साथ ही समुद्र एवं पर्वतीय भाग से सुवर्ण प्राप्ति के संदर्भ में आए विवरण से ज्ञात होता है कि ऐसे सामुद्रिक भाग को 'अग्निमालसमुद्र' की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इसके मध्यवर्ती जलधारा में अग्निवर्ण के सदृश कान्तिमान सुवर्ण धातु कणों के रूप में प्रभूत मात्रा में अग्निवर्ण के सदृश कान्तिमान सुवर्ण धातु कणों के रूप में प्रभूत मात्रा में प्राप्त किये जाते थे । इसी प्रकार पर्वतीय भाग के लिए सुवर्णमय शब्द का उल्लेख भी यहां पर सुवर्ण आदि खनिज पदार्थों की उपस्थिति के कारण कहे जाने की संभावना पर प्रकाश डाला गया है ।[2] सुवर्णभूमि शब्द की सार्थकता भी संभवतः उपरोक्त तथ्यों में अन्तर्निहित प्रतीत होता है । पालि ग्रन्थ में वर्णित सुवर्णभूमि पूर्वी देशों के भू-भागों से भिन्न स्वतन्त्र क्षेत्र के रूप में उल्लिखित है । इस क्षेत्र की भौगोलिक पहचान अत्यधिक विवादास्पद है तथापि आधुनिक विद्वान दक्षिणी म्यानमार (लोअर बर्मा), इण्डोनेशिया एवं इण्डोचीन प्रायद्वीप से मोटे तौर पर करते हैं । उनकी पहचान का आधार इन भू-भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार तथा सुवर्णमय बौद्धस्थापत्य संबंधी प्रमाणों का होना है ।[3]

जैसा कि उपरोक्त सन्दर्भ में इस बात की संभावना व्यक्त की गई है कि सुवर्ण धातु की बाहुल्यता के कारण सुवर्णभूमि का नाम पड़ा । आधुनिक काल में दक्षिणी-पूर्वी एशिया के पेनिनसुला क्षेत्र (चारों ओर से समुद्र से घिरा हुआ द्वीप) में आने वाले थाइलैण्ड, वियतनाम, कम्बोडिया एवं लाओस की सीमा मीकांग नदी द्वारा दक्षिणी चीन सागर तक फैले हुए हैं । यहां के पर्वतों की सीमा दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पूर्व तक फैली हुई है जिसके ठीक नीचे वियतनाम स्थित है । इनके पश्चिम में आग्नेय पर्वत है जो 5,000 फीट की ऊँचाई पर है ।[4] सुवर्ण धातु आग्नेय चट्टानों के पास से प्राप्त किये जाते हैं ।[5] संभवतः वियतनाम का उत्तर-पश्चिमी

---

1. दीपवंस, परिच्छेद 8, महावंस, 5.280, 12.1-8, सामन्तपासादिका, (विनयपिटक की अट्ठकथा), पृ. 63-64.
2. देखिये, सुवर्ण-प्राप्ति-समुद्रिक एवं पर्वतीय भाग से प्राप्त सुवर्ण संदर्भ.
3. एशिया में बौद्ध धर्म, पृ. 138-45.
4. डा. सेंगर, जे. एस. : भारत-कम्बुज संबंध : भारतीय संस्कृति के एशियायीकरण का ऐतिहासिक विश्लेषण, पृ. 3.
5. आर्थिक भू-विज्ञान, पृ. 114 एवं गोल्ड बुलेटिन एण्ड गोल्ड पेटेन्ट डाइजेस्ट, खंड-24, नं. 4, पृ. 127.

भाग, थाईलैण्ड एवं लाओस का उत्तरी भाग तथा म्यानमार का उत्तर-पूर्वी भाग ही बौद्ध कालीन सुवर्ण भूमि रहा होगा । जातकट्ठकथा में हिमालय के पूर्व में स्वर्णतल होने का उल्लेख है ।[1] बौद्ध काल में संभवतः ये क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से एक थे किन्तु बाद में राजनैतिक शक्ति के विस्तार स्वरूप ये अलग-अलग देशों के रूप में विभक्त हो गये । आधुनिक काल में बर्मा एवं थाइलैण्ड से सुवर्ण खान से धातु को प्राप्त किया जाता रहा है ।[2] उत्तरी बर्मा की प्रमुख नदी इरावदी से प्रभूत मात्रा में सुवर्ण कणों को प्राचीन काल से आधुनिक काल में प्राप्त किया जाता रहा है । ये सुवर्ण कण संभवतः उपरोक्त क्षेत्रों के सुवर्ण आग्नेय चट्टानों से प्लेसर निक्षेप के माध्यम से यहां तक पहुंचाये जाते रहे होंगे ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुवर्ण भूमि तक पहुंचने वाले जलयानों द्वारा इस भू-भाग का बौद्ध काल में कोई न कोई तटवर्ती बन्दरगाह अत्यन्त समृद्ध एवं विकसित अवस्था में ज्ञात था । द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. (14 80 ई. पू.) के चीनी स्रोत 'एनाल्स आव द फारमर हान डायनेस्टी' से भारत व चीन के सामुद्रिक यात्रा का विवरण प्राप्त होता है । इसमें उत्तरी वियतनाम के 'तोनकिन' नामक विकसित बन्दरगाह का उल्लेख प्राप्त होता है जहां से भारत का सीधा सामुद्रिक संबंध था तथा यहीं से बौद्ध धर्म चीन पहुँचा । लगभग द्वितीय शताब्दी ई. पू. में यहां चीनी आधिपत्य के कारण दुर्भाग्यवश यहां की संस्कृति विनष्ट हो गई । पी. सी. बागची के अनुसार गंगा की घाटी से तोनकिन तक का जलमार्ग द्वितीय-प्रथम शता. ई. पू. से प्रथम शताब्दी तक निरन्तर चालू था ।[3] सुवर्ण भूमि तक पहुँचने वाले वणिक दल संभवतः इसी विकसित बन्दरगाह से आवागमन करते रहे होगे ।

सुवर्ण धातुकर्म :

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रंथों से सुवर्ण धातुकर्म अथवा तकनीकी ज्ञान के अंतर्गत विकसित प्रक्रियाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये उल्लेख बौद्धधर्म के व्यावहारिक ज्ञान को स्पष्ट करने के लिए उपमा के रूप में प्राप्त होते हैं । इन प्रक्रियाओं के अंतर्गत प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त स्वर्ण को प्रथमतः जलभरे द्रोणी में डालकर धोने, तत्पश्चात् उसे तपाकर मूलधातु के रूप में प्राप्त करने अर्थात् प्रगलन प्रक्रिया, शोधन प्रक्रिया, शोधित सुवर्ण को सामग्री निर्माण से पूर्व सुदृढ़ कमनीय एवं प्रभास्वर बनाने, तैयार सुवर्ण को अच्छी प्रकार से ठोक-पीट कर स्वरूप प्रदान करने एवं

1. जातक अट्ठकथा, सं. 536, भाग-6, पृ. 502
2. वाडिया, डी. एन. : जियोलाजी आव इंडिया, चतुर्थ संस्क., पृ. 115.
3. एशिया में बौद्ध धर्म, पृ. 143-45.

अतिकमनीय ढंग से उसके रखरखाव संबंधी निर्देश भी प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त मिश्रित सुवर्ण तैयार करने एवं स्वर्णपरत चढ़ाये जाने के उल्लेख भी पालिग्रंथों से प्राप्त होते हैं । पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुवर्ण धातु-कर्म में रत सुवर्णकार एक विकसित व्यावसायिक श्रेणी के रूप में स्थापित हो चुके थे । सुवर्णकार को 'सुवण्णकार', 'कम्मार'[1] एवं 'सोवण्णकारा'[2] कहा जाता था । 'दीघनिकाय' एवं 'उदानपालि' से पावा के चुन्द नामक कर्मार अथवा सोनार के उल्लेख मिलते हैं । यथा-

'चुन्दस्स कम्मार पुतस्स' -अर्थात्

'चुन्द कर्मार (सोनार) का पुत्र ।'

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यद्यपि सुवर्ण धातुकर्म में मुख्यतः सुवर्णकार या उसके शिष्य लगे रहते थे किन्तु प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त मिट्टी एवं धूलादि कणों से युक्त सुवर्ण को "पंसुधोवक' (मिट्टी आदि धोने वाला) द्वारा साफ किया जाता था । इस प्रकार सुवर्ण धातुकर्म में रत पंसुधोवक एवं सुवर्णकार जैसे दो व्यावसायिक श्रेणियों पर प्रकाश पड़ता है ।

(1) अयस्क के माध्यम से सुवर्ण की प्राप्ति :

'अंगुतरनिकाय'[3] के 'उपोसथ सुत' से प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त मिट्टी, धूलादि कणों से युक्त सुवर्ण कण प्रारम्भिक रूप में दो अवस्थाओं में शुद्ध किये जाने का विस्तार से उल्लेख प्राप्त होता है । प्रथम अवस्था में प्राप्त सुवर्ण को जल भरे द्रोणी में डालकर ऊपरी सतह पर व्याप्त मिट्टी आदि को धोया जाता है । तत्पश्चात् दूसरी अवस्था में उसे मूसा आदि में रखकर तपाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा

'जातरूपस्स ओलारिका उपक्किलेसा पंसुवालुक सक्खर कठला । तमेनं पंसुधोवक वा पंसुधोवकन्तेवासी वा दोणिय अभिरत्वा धोवति सन्धोवति निद्धोवति । तस्मिं व्यन्ती कते अथापरं सिकता वसिस्सन्ति । तमेनं सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा जातरूपं मूलायं पक्खिपित्वा धमति निद्धमति । तं होति जातरूपं धन्तं सन्धन्तं अनिद्धन्तं न चैव मृदुहोति न चेव कम्मानियं न च पमस्सर पभङ्गु च ।'

अर्थात् 'सुवर्ण पर बड़े-बड़े धव्बे होते हैं मिट्टी के, बालू के । उन्हें मिट्टी धोने वाला या उसका शिष्य द्रोणी में डालकर अच्छी प्रकार से धोता है, मलकर धोता है,

---

1. दीघनिकायपालि, भाग-2, पृ. 98; उदानपालि, 8.5 खु. नि., वा. , पृ. 164, हिन्दी अनुवाद, पृ. 111.
2. अपदानपालि, प्रथम भाग, पृ. 450; महानिद्देसपालि, पृ. 419.
3. काश्यप, जगदीश; अंगुतरिनिकायपालि, भाग-1, पृ. 234.

ताकि उसका मैल प्रहाण हो जाए। तब उसमें बालुका आदि स्थूल कण शेष रह जाते हैं, जिसे सुनार तया उसका शिष्य मूसा में डालकर तपाता है, अच्छी प्रकार तपाता है, किंतु साफ नहीं करता है। वह स्वर्ण अच्छी प्रकार से तपा हुआ होता है, किंतु न तो साफ होता है, न मृदु एवं न ही प्रभास्वर।'[1]

'महानिद्देसपालि' से भी आग में तपाकर मूल धातु स्वर्ण को प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–

'सुवण्णकारो जातरूपस्स ओलारिकं पि मलं धमति सन्धमति निद्धमति।'[2]

उपरोक्त प्रक्रिया में प्रारंभिक अवस्था में सुवर्ण को शुद्ध किये जाने की दो अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। आधुनिक काल में भी इन प्रक्रियाओं का उपयोग सुवर्ण कणों को शुद्ध किये जाने के लिए किया जाता है। अर्थात् नदियों के तटवर्ती भागों से रेतीले कणों के रूप में प्राप्त सुवर्ण को सर्वप्रथम जलभरे पात्र में डालकर धोया जाता है। इसमें स्वर्ण के ऊपर चिपके मिट्टी आदि के कण पानी में धुल जाते हैं तथा स्वर्ण के कण नीचे पैठ जाते हैं। इस प्रक्रिया को 'गुरुत्वपृथक्कीकरण का सिद्धांत' कहा जाता है। इसके बाद प्रगलन प्रक्रिया के माध्यम से कठोर तत्व (सिलिकादि) से संयुक्त धातु को तपाकर मूलरूप में प्राप्त कर लिया जाता है।[3]

प्रगलित सुवर्ण :

'अवारिय जातक'[4] से पिघले अवस्था में सुवर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-

'मिगो व जातरूपेण न तेनत्थं अबन्धसूति।' अर्थात

'सुवर्ण के पिघली अवस्था में होने पर उसके अनुपात में वृद्धि नहीं होती।'

'शतपथ ब्राह्मण' में सुवर्णधातु को अयस्क के माध्यम से प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा-'प्रजापति ने सिकता से शर्करा (पत्थर के टुकड़े) बनाया, शर्करा से अश्म, अश्म से अयस् (खनिज द्रव्य) तथा अयस् को तपाकर हिरण्य निकाला।[5] 'अर्थशास्त्र' में अशुद्ध तथा मूढ़गर्भ धातुखण्डो में तीक्ष्ण मूत्रधार की भावना देकर अमलतास, वट, पीलु गोरोचन एवं भैसा, गधा और ऊंट के बच्चे के

---

1. कौसल्यायन, आनंद; अंगुतरनिकाय, हिन्दी अनुवाद, तृतीय भाग, पृ. 261.
2. महानिद्देसपालि, 1.16.198, पृ. 419.
3. डा. भानुप्रकाश; मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 9.
4. जातकपालि, सं. 376; खु. नि., खण्ड-3 भाग-1, पृ. 128; हिन्दी अनुवाद, भाग-3, पृ. 392.
5. प्राचीन भारत में रसायन का वि. पृ. 319; शतपथ ब्राह्मणण., 6.1.35.

मूत्र व मलपिण्ड में प्रतिवाप करके तपाकर पिघली अवस्था में शुद्ध धातु को प्राप्त करने का उपाय बताया गया है ।[1]

(2) शोधनप्रक्रियाः

उपरोक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त स्वर्ण को मूलधातु के रूप में प्राप्त कर लिया जाता था, किंतु वह साफ नहीं होता था । 'अंगुत्तरनिकाय'[2] 'उपोसथ सुत' से स्वर्णकार द्वारा गेरु व नमक द्वारा सुवर्णधातु को शोधित किये जाने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–

'उक्कं च पटिच्च लोणं च पटिच्च गेरूकं च पटिच्च नाचिं सण्डासं च पटिच्च परिसस्स च तज्जं वायामं पटिच्च ।' अर्थात्

'अंगीठी होने से, नमक होने से, गेरू होने, सण्डसी होने, उसके साथ आदमी का प्रयास होने से मलिन सोना क्रमशः साफ होता है ।'

'अर्थशास्त्र' में अप्राप्तक सुवर्ण अर्थात्, 'प्रगलित सुवर्ण के बचे हुए पीले व सफेदी लिए हुए अंश को सीसा डालकर शुद्ध करने का वर्णन प्राप्त होता है । 'कौटिल्य के अनुसार, 'यदि सीसा फटने लगे तो उसे सूखे उपलों पर धौंकना चाहिए जिससे वह शुद्ध हो जाएगा ।' अर्थशास्त्र में सुवर्ण को कसौटी परखने के लिए गेरू को उपयोग में लाए जाने का संदर्भ प्राप्त होता है । अर्थात् गेरू का उपयोग स्वर्ण की ठगी करने हेतु प्रतिक्रियात्मक रूप में किए जाने का उल्लेख है ।[3] 13वीं शताब्दी के ग्रंथ 'रसरत्नसमुच्चय' में 1 तोला स्वर्णपत्र लेकर उसमें सेंधा नामक एवं गेरू का चूर्ण समान रूप से मिलाकर शराव-पुट में बंद करके अंगारों पर आधे प्रहर तक रखकर धौंकनी से फूंकने पर शुद्ध स्वर्ण प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4]

ऐसा प्रतीत होता है नमक व गेरू को गालक पदार्थों के रूप में प्रयुक्त किया जाता था । नमक में उपस्थित सोडियम क्लोराइड धातु के साथ अभिक्रिया करके उसे चमकदार बनाता है तथा गेरू में उपस्थित हाइड्रेडेड फेरिक आक्साइड नामक रासायनिक तत्व स्वर्ण में उपस्थित अशुद्धियों (सल्फाइड अयस्क) को आक्सीकृत कर उन्हें शुद्ध बनाता है ।[5]

---

1. वही, पृ. 276, : अर्थशास्त्र 2.12.8.
2. अंगुतरनिकायपालि, खंड-1, पृ. 195, हिन्दी अनु., पृ. 216.
3. प्राचीन भारत में रसायन का वि, पृ. 280, अर्थशास्त्र, 2.13.22.
4. वही, पृ. 551, रसरत्नसमुच्चय, 5.12.
5. डॉ. भानुप्रकाश ; व्यक्तिगत वार्तालाप, 13 फरवरी 1992, प्रो. मेटलर्जी विभाग, का. हि. वि. वि. ।

(3) सामग्री निर्माण से पूर्व सुवर्ण को सुदृढ़, कमनीय एवं प्रभास्वर बनाने की विधि :

'अंगुतरनिकाय' के 'पंसुधोवक सुत', 'दीघनिकाय' एवं 'अपदानपालि' से सुवर्ण को सुदृढ़, कमनीय एवं प्रभास्वर बनाये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इस संबंध में विस्तृत रूप से वर्णन अंगुतरनिकाय से प्राप्त होता है । यथा –

'सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा उक्कं बन्धेयूय, उक्कं बन्धित्वा उक्कामुखं आलिम्पेयूय, उक्कामुखं आलिम्पेत्वा सण्डासेन जातरूपं गहेत्वा उक्कामुखे पक्खिपेत्वा कालेन कालं अभिधमति कालेन कालं उदकेन परिपफोसेयूय कालेन कालं अज्झुपेक्खति । सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी वा तं जातरूपं निव्वापेयूय । एकन्तं अज्झुपक्खेयूय ठानं ते जातरूपं न सम्मा परिपाकं गच्छेति । तं होति जातरूपं मृदु च कम्मनियं च पभस्सरं च न च पभङ्गुसम्मा उपेति कम्माय । यस्सा यस्सा च पिलन्धनविङ्कतिया आकङ्खाति यदि पटिकाय यदि कुण्डलाय यदि गीवेयूयेन यदि सुवण्णमालाय तं चस्स अत्थं अनुमोति ।' अर्थात्

'सुवर्णकार या उसका शिष्य भट्ठी तैयार करता है । भट्ठी तैयार करके उसे लीपता है, लीपकर सण्डासी से सुवर्ण पकड़कर उसमें डालता है । सुवर्ण डालने के पश्चात् समय-समय पर उसे तपाता है, समय-समय पर उसकी उपेक्षा करता है अथवा चुपचाप छोड़ देता है । यदि सुवर्णकार या उसका शिष्य सोने को सिर्फ तपाता ही रहे तो निश्चयतः वह सुवर्ण जल जाएगा । यदि उस पर निरंतर पानी के छींटे ही डालता रहे तो वह सुवर्ण बुझ जाएगा । यदि उसकी उपेक्षा ही करे तो वह सुवर्ण ठीक से बनेगा ही नहीं । चूंकि सुवर्णकार या उसका शिष्य समय-समय पर सुवर्ण को तपाता है, उसपर बीच-बीच में पानी के छींटे डालता है तथा समय-समय पर चुपचाप छोड़ देता है, जिससे वह सुवर्ण कोमल, प्रभास्वर, न टूटने वाला तथा काम में लाये जा सकने के योग्य होता है ।'[1]

पालि ग्रंथों में अन्य संदर्भों में भी सुवर्णकार द्वारा सुवर्ण को उल्कामुख में डालकर शुद्ध करने तथा सुवर्ण प्रभा को भांपकर उसके अनुरूप उसमें तेज़ भरने के संदर्भ प्राप्त होते हैं । यथा –'मज्झिमनिकाय' के 'वत्थसुत्तंत' में उल्कामुख में पड़कर सुवर्ण के शुद्ध होने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा –

(ख) 'उल्कामुखं वा पनागम्मं जातरूपं परिसुद्ध होति ।'[2] अर्थात्
'उल्कामुख में पड़कर सुवर्ण शुद्ध होता है ।'

---

1. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-1, पृ. 238, हि. अनु., भा. -1, पृ. 265.
2. मज्झिमनिकायपालि, खंड-1, पृ. 51, हि. अनु., पृ. 26.

(ग) 'दीघनिकाय' के 'सामञ्ञयफलसुत्त' से सुवर्ण को तपाकर शुद्ध एवं प्रभास्वर बनाने तथा 'अपदानपालि' एवं 'महानिद्देसपालि' से सुवर्णप्रभा को भांपकर सुवर्ण में तेज़ भरने के उदाहरण प्राप्त होते हैं । इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है–

(घ) 'दक्खो सुवण्णकारो वा सुवण्णकारन्तेवासी व सुपरिकम्म कतस्मिं सुवण्णस्मिं यं यदेव सुवण्ण विकतिं आकङ्खेय्य तं तदेव करेय्य अभिनिप्फादेय्य ।'[1] अर्थात्

'दक्ष सुवर्णकार या उसका शिष्य सुवर्ण को तपाकर शुद्द बनाता है, जो सुवर्ण में अन्तर्निहित प्रभा को भांपकर उसी के अनुरूप प्रभास्वर बनाता है ।'

(च) 'दिस्वा सुवण्णस्स पभस्सरानि कम्मारपुत्तेन सुनिट्ठितानि ।'[2]

अर्थात् 'सुवर्णप्रभा को देखकर कर्मकार का पुत्र उसमें तेज भर देता है ।'

प्राचीन पालि ग्रंथों में विभिन्न संदर्भों में सुनार द्वारा भट्ठी सुलगाने के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं । यथा–

'कम्मारानं उक्कं खादिरङ्गार उक्का अन्तोझायति ।'[3]

अर्थात् 'सुवर्णकारों के भट्ठी की आग अन्दर ही अन्दर जलाती है ।'

खरा सोना :

उपरोक्त विधि से तैयार सुवर्ण खरा या शुद्ध होता है । ऐसे सुवर्ण को 'अंगुत्तरनिकाय' में अनिन्दनीय कहकर प्रशंसा की गयी है ।
यथा, 'नेक्खं जम्बोनदस्सेव को तं निन्दितुमरहित ।'[4] अर्थात् 'जम्बूनद स्वर्ण की भांति अथवा खरे सोने की भांति उसकी कौन निन्दा कर सकता है ।'

पाणिनीकृत 'अष्टाध्यायी' में स्वर्णाभूषणों को तैयार करने से पूर्व सुवर्णकार द्वारा केवल एक बार सुवर्ण को आंच में तपाने का वर्णन प्राप्त होता है । ऐसे सुवर्ण के लिए 'निष्टपतिसुवर्णम्' शब्द व्यवहृत हुआ है ।[5] 'अर्थशास्त्र' में भी सुवर्ण को मृदु व ठोस बनाने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–'जौ, उड़द, तिल, पलास, तथा पीलूवृक्ष की छाल की भस्म, गाय और बकरी के दूध के साथ कदली-कन्दी तथा वज्रकन्द (सूरन) में मिलाकर भावना देने से सोने एवं चांदी में मृदुता आती है ।

1. दीघनिकायपालि, खंड-1, पृ. 69, हि. अनु., पृ. 30.
2. चुल्लनिद्देपालि, पृ. 275; महानिद्देशपालि, पृ. 419; अपदानपालि, पृ. 12.
3. जातकपालि, सं 542.
4. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-2, पृ. 275; हि. अनु., द्वि. भा., पृ. 30.
5. पाणिनीकालीन भारत, पृ. 224; अष्टाध्यायी, 5.2.64. व 4.4.9.

शहद मुलेठी, बकरी का दूध, तेल, घी, गुड़, किण्ड (मद्यसार), कन्दली (कच्छदेश में उत्पन्न एक औषधि)-इन सब वस्तुओं को एक में पीसकर तैयार किये गए कल्क में स्वर्ण आदि किसी भी धातु को तीन बार भावना देने से वह सैकड़ों व सहस्त्रों चोटों से भी न टूटने वाला होता हुआ भी मृदु होता है ।'[1]

अशुद्ध या नकली सुवर्ण :

इसके विपरीत अन्य धातुओं के मिश्रण से तैयार सुवर्ण तथा सुवर्ण परत चढ़े हुए धातु को अशुद्ध या नकली सुवर्ण की संज्ञा दी गयी है । विकसित तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत प्राचीन पालि ग्रंथों से अशुद्ध सुवर्ण के भी दो प्रकार बताये गये हैं । यथा–प्रथम, मिश्रित सुवर्ण एवं द्वितीय, अन्य धातुओं से निर्मित वस्तु पर सुवर्ण परत चढ़ाना ।

(क) मिश्रित सुवर्ण :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'उपक्किलेससुत्त' एवं 'संयुक्तनिकाय' के 'पठमकिलेससुत्त' से मिश्रित सुवर्ण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । प्राप्त संदर्भों के अनुसार सुवर्ण में अन्य धातुओं यथा–लौह, ताम्र, त्रपु, सीसा एवं रजत इत्यादि का मिश्रण किया जाता था । इस प्रकार से तैयार मिश्रित सुवर्ण न तो मृदु होता था, न कोमल, न प्रभास्वर । संदर्भविशेष में ऐसे सुवर्ण को अशुद्ध कहकर आलोचना की गयी है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सुवर्णकार सामाजिक आवश्यकता के अनुरूप (सामान्य वर्ग हेतु) उपयोग में लाते रहे होंगे जो उनके विकसित तकनीकी ज्ञान का परिचायक है । यथा–

'पञ्च जातरूस्स उपक्किलेसा येहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठं जातरूपं न चेव मृदुहोति न च पभस्सर पभंगु च न च सम्मा उपेति कम्माय । -अयो-लोहं-तिपु-सीसं-सज्झं... । जातरूपं इमेहि पञ्चहि उपक्किलेसेहि विमुत्तं होति तं होति मृदु च कम्मनियं च पभस्सरं च न च पभङ्गु सम्मा उपेति कम्माय । यस्सा यस्सा च पिलन्धन विकंखतिया आकङ्खाति यदि मुद्दिकाय यदि कुण्डलाय यदि गीवेय्यकाय यदि सुवण्णमालाय-तं चस्स अत्थं अनुमोति ।'[2] अर्थात्

'सोने की पाँच मिलावटें होती हैं जिनके कारण सोना न कोमल होता है, न कमाया जा सकने वाला होता है, न प्रभास्वर होता है, टूटने वाला होता है और न ठीक से काम में लाया जा सकने वाला होता है । ये पाँच मिलावटें हैं–लौह, ताम्र,

---

1. अर्थशास्त्र, 2.13., पृ. 168.
2. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-2, पृ. 286, हि. अनु., पृ. 250; संयुक्तनिकायपालि, खंड-5, पृ. 55, हि. अनु., पृ. 662.

त्रपु (रांगा), सीसा एवं रजत । किन्तु जब सुवर्ण इन मिलावटों से रहित होता है तब वह कोमल, कमाया जा सकने वाला, प्रभास्वर, न टूटने वाला व ठीक से काम में लाया जा सकने वाला होता है । जिस-जिस गहने की आकांक्षा होती है, चाहे अंगूठी हो, कुंडल हो, ग्रैवेयक हो, माला हो, वह सोना इन सबके निर्माण में समर्थ होता है ।'

'अर्थशास्त्र' में अन्य धातुओं के मिश्रण से तैयार मिश्रित सुवर्ण पर प्रकाश पड़ता है । कौटिल्य ने विभिन्न धातुओं के आनुपातिक मिश्रण पर विस्तार से उल्लेख किया है । यथा–'इस्पाती लौह को गरम करके उसे चूर्ण बनाकर एक काकणि सोने में मिलाने पर सुवर्ण खिल उठता है । लोहे के स्थान पर श्वेतवर्ण की शुद्ध काकणि रूप्यधातु सुवर्ण में मिलायी जा सकती है । इसमें क्रमशः मिलाते-मिलाते दो माशे तक चांदी बढ़ा दी जाय तो ऐसा करने पर 'श्वेतसार' (सफेद सुवर्ण जातरूप) तैयार होगा । श्वेतसार के 32 भाग का 3 अंश तपनीय स्वर्ण में मिलाया जाय तो 'श्वेत लोहितक' नामक स्वर्ण बनेगा । तपनीय स्वर्ण में तीन भाग तांबा मिलाने पर पीला एवं लाल रंग वाला मिश्रित स्वर्ण बनेगा । 'श्वेतसार' नामक चांदी के दो भाग एवं उसमें एक भाग सुवर्ण मिला देने से वह मूँगे की भांति चमकने लगता है । इसके अतिरिक्त छठां भाग कृष्णलौह (कृष्णायस) मिला देने से सोने में काली छटा निकलती है । पिघले हुए चांदी या लोहे के रस में मिला हुआ सुवर्ण तोते के रंग जैसा तैयार होगा ।'[1]

(ख) सुवर्ण की परत चढ़ाया जाना :

'संयुक्तनिकाय' के 'जटिलसुत्त' एवं 'महानिद्देसपालि' से अन्य धातु (लौह) से निर्मित वस्तु पर सुवर्ण परत चढ़ाये जाने के संदर्भ प्राप्त होते हैं जिनकी तुलना नकली भेषधारियों से की गयी है । यथा–

पतिरूपको मत्तिका कुण्डलो लोहङ्नुमासो व सुवण्णछन्नो । चरन्ति लोके परिवार छन्ना अन्तो असुद्ध बहि सोभमाना"ति ।' अर्थात्

'नकली मिट्टी का बना भड़कदार कुण्डल के समान या लोहे का बना एवं उस पर सुवर्ण परत चढ़ाये हुए के समान कितने वेषधारी विचरण करते हैं जो भीतर से मैले व बाहर से चमकते हैं ।'[2]

---

1. प्राचीन भारत में रसायन का वि.; पृ. 283; अर्थशास्त्र, 2. 13. 52-63.
2. संयुक्तनिकायपालि, खंड-1, पृ. 78, हि. अनु., प्रथम भाग, पृ. 75; महानिद्देसपालि, पृ. 389.

शुद्ध स्वर्ण की परख :

पालि निकायों में वर्णित शुद्ध एवं अशुद्ध सुवर्ण की परख स्वर्णकार द्वारा ही किये जाने पर प्रकाश पड़ता है । अंगुत्तरनिकाय के 'संक्कच्चसुत्त' से सुवर्ण निष्क अथवा शुद्ध स्वर्ण की शुद्धता की परख हेतु व्यक्ति के सुवर्णकार के पास जाने का उल्लेख मिलता है । यथा–

'पुरिसो सुवण्णनिक्खं अधिगच्छेय्य परिसुद्ध परियोदातं । तस्स एवमस्स अयं खो मे सुवण्णनिक्खे परिसुद्धो परियोदातो, यन्नानाहं इमं सुवण्ण निक्खं गन्त्वा कम्मारानं पस्सेय्य । एव मे सुवण्णनिक्खे सकम्मारगतो परिसुद्धो चेव भविस्सति परिसुद्ध खङ्वाततरो च ।'[1] अर्थात्

'किसी व्यक्ति को सुवर्णनिष्क अथवा शुद्ध स्वर्ण प्राप्त हो जाए तो वह उसकी शुद्धता की परख हेतु सुवर्णकार के पास जाने के लिए सोचता है ताकि उसका खरापन निश्चित हो जाएगा । वह सुवर्णनिष्क को लेकर कर्मकार के यहाँ जाता है तथा सुवर्णकार उसके खरेपन की परख करता है ।'

'अष्टाध्यायी' में सुवर्णकार द्वारा 'निकष' (पाषाण) अर्थात् कसौटी पर सुवर्ण घिसने में प्रवीण होने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस कारण से इन्हें 'आकर्षित' कहा गया है तथा सुवर्ण को घर ले जा कर कसौटी पर कसकर उसकी परख किये जाने वाले व्यक्ति को भी 'आकर्षित' कहा गया है ।[2] अर्थशास्त्र से 'निकष' अर्थात् कसौटी पर कसकर सुवर्ण की शुद्धता की परख करने की प्रक्रिया के बारे में उल्लेख प्राप्त होता है । अर्थात् कसौटी पर पहले शुद्ध सोने से रेखा खींचते हैं और फिर वर्णिका (ताम्र मिश्रित स्वर्ण) से कसते हैं अथवा रेखा खींचते हैं । अनिम्नोन्नत देश (अर्थात् कसौटी का ऐसा भाग जहाँ न वह ऊँची उठी हो, न नीचे दबी हो) पर शुद्ध सोने द्वारा खींची गयी रेखा एक रंग (सम-राग) की आती है । कमल के केसर के समान रंग की एवं चिकनी, कोमल एवं चमकदार कसौटी पर कसी हुई रेखा सोने के श्रेष्ठ होने का सूचक है । इसके लिए कलिंग देश का अथवा ताप्ती नदी का मूंगे के रंग का काला कसौटी का पत्थर श्रेष्ठ माना गया है ।[3]

सुवर्ण को पीटने की प्रक्रिया :

पालिग्रंथों से लोहे के उपकरण द्वारा सुवर्ण को पीटे जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इस विधि में तैयार धातु को एक सुनिश्चित आकार प्रदान करने तथा उसे चूर्ण करने की दो विभिन्न स्थितियों के उल्लेख मिलते हैं :

---

1. अंगुत्तरनिकायपालि, खंड-3, पृ. 245; हि. अनु. भा.-3, पृ. 228.
2. पाणिनी कालीन भारत, पृष्ठ-225;
   अष्टाध्यायी, 5.2.64, 4.4.9.
3. प्राचीन भारत में रसायन का वि., पृ. 281;
   अर्थशास्त्र, 2. 13. 14-21, 2. 13. 24, 2.13.25-28.

(क) 'धम्मदेवजातक'[1] में दर्शनीय सुवर्ण को लोहे द्वारा पीटे जाने का वर्णन मिलता है । यथा–

'लोहेन विहञ्ञति जातरूपेन, न जातरूपेन हनन्ति लोहं । अयो सुवण्णं विय दस्सनेय्यं ।' अर्थात्

'लोहे से सोना पिटता है, सोने से लोहा नहीं । लोहे द्वारा दर्शनीय सुवर्ण को पीटा जाता है ।'

(ख) 'मिलिन्दप्रश्न' में लोहे की हथौड़ी द्वारा सुवर्ण को चूर-चूर किये जाने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णं पि जातिमन्तं लोहेन भिज्जति ।' अर्थात् 'सोना भी लोहे की हथौड़ी से चूर-चूर कर दिया जाता है ।'[2]

'अर्थशास्त्र' में घन की चोट मारकर सुवर्ण के अपहरण का उल्लेख मिलता है । इस विधि को 'गण्डिका' कहा गया है ।[3] आधुनिक काल में खान से प्राप्त सुवर्ण को प्रगलन प्रक्रिया से पूर्व छोटे-छोटे कणों में (चूर्ण) विभाजित किया जाता है ।[4] मिलिन्दप्रश्न में उपरोक्त संदर्भ का आशय सम्भवतः इसी अर्थ में रहा होगा ।

सुवर्ण के रखरखाव संबंधी निर्देश :

पालिनिकायों से ठोंकपीटकर अच्छी प्रकार से तैयार सुवर्ण को अति कमनीय ढंग से रखने के निर्देश प्राप्त होते हैं । 'मज्झिमनिकाय' के 'धातुविभंगसुत्त', 'संखारूप्पति सुत्तंत', 'संयुक्तनिकाय' के 'सुसिमसुत्त' तथा 'अंगुत्तरनिकाय' के 'देवदूतसुत्त' से उल्कामुख से निकले पण्डु वर्ण कम्बल पर तैयार जम्बूनद स्वर्ण को रखने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पण्डुवर्ण कम्बल पर रखा चमकदार स्वर्ण द्विगुणित आभा वाला प्रतीत होता है । यथा–

'निक्खं जम्बोनद दक्खकम्मारपुत्त उक्कामुखे सुकुसलसम्पहट्ठं पण्डुकम्बले निक्खितं भासते च तपते च विरोचितं च ।' अर्थात्

'चतुर कर्मार पुत्र द्वारा उल्कामुख में अच्छी प्रकार से तपाकर, पण्डुवर्ण दुशाले पर रखा जम्बूनद स्वर्णनिष्क भासता है, कान्तिमान प्रतीत होता है एवं विरोचित होता है ।'[5]

---

1. जातकपालि, सं. 457; खु. नि., खंड-3, भा.-1, पृ.22; हि. अनुवाद, भाग-4, पृ. 304.
2. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 121. हि. अनु. पृ. 199
3. अर्थशास्त्र, पृ. 190. द्वि. अधि.
4. डा. भानुप्रकाश, मेटल एंड मेटलर्जी, पृ. 9
5. म. नि. पालि, खं.-3, पृ. 120 एवं 328, हि. अनु., पृ. 499, 574; स. नि. पालि, भा.-1, पृ. 63, हि. अनु., प्र. भा., पृ. 64; अंगुत्तरनिकायपालि, खं.-1, पृ. 168, हि. अनु., भा.-1, पृ. 169.

उपरोक्त सुवर्ण धातु कर्म संबंधी उल्लेखों के आधार पर पालिग्रंथों से तात्कालिक समाज में सुवर्ण की विकसित वैज्ञानिक पद्धतियों पर प्रकाश पड़ता है । इसमें स्वर्ण उद्योग पैतृक व्यवसाय के रूप में ज्ञात होता है जिसमें कर्मकार के साथ-साथ उसका पुत्र भी अत्यन्त दक्षता के साथ सुवर्ण धातु कर्म को संपन्न करता था । अतः इन्हें आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली में सुवर्ण धातुविद् की संज्ञा दी जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

स्वर्णधातु-विषयक सन्दर्भों की आलोचना :

पालि ग्रन्थों में उल्लिखित सुवर्ण धातु विषयक विवरणों के समग्र विवेचन से यद्यपि तत्कालीन समाज में इसके व्यापक प्रभाव एवं प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है किन्तु इन विवरणों का विश्लेषण करने पर कुछेक वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से परिभाषित किये हुए दिखलाई पड़ते हैं, विशेषकर सहस्त्रों की संख्या में वर्णित सुवर्णमय मुद्राराशि का दान-दक्षिणा, क्रय-विक्रय एवं आचार्य शुल्क के रूप में उपयोग किये जाने तथा सुवर्णमय स्थापत्य के अन्तर्गत चैत्य, स्तूप एवं स्वर्णिम देव विमान की परिकल्पनाएं इत्यादि विवरण । ऐसा प्रतीत होता है कि धनाढ्य वर्ग की ऐश्वर्य की पराकाष्ठा को अभिव्यक्त करने के लिए उपरोक्त उल्लेख अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित किये गये हैं । यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि इस अतिरंजनापूर्ण कथन में तत्कालीन समाज में एक नियत भार की सुवर्ण मुद्राराशि के प्रचलन का संकेत मिलता है । इस संबंध में महत्वपूर्ण साक्ष्य भरहुत में उत्कीर्ण अंकन से भी होता है जिसमें श्रावस्ती के प्रसिद्ध श्रेष्ठी अनाथपिण्डक द्वारा जेतवन को सहस्रों कोटि की मुद्राराशि द्वारा क्रय करने का स्पष्ट लेख एवं दृश्यांकन किया गया है । भरहुत स्तूप में अंकित यह दृश्य तत्कालीन समाज की प्रचलित घटना होने का संकेत भी देता है । यद्यपि पुरातात्विक उत्खनन में छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. के काल में भारत में सुवर्ण मुद्राओं की अनुपस्थिति से उपरोक्त उल्लेख पर प्रश्नचिह्न सा लग जाता है, तथापि कुछेक आधुनिक विद्वानों ने प्रचलित स्वर्णमुद्राराशि से संबंधित समस्या के तर्कपूर्ण समाधान पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं । डा. वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार स्वर्णाभूषणों को ही गिरवी रखकर वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता रहा होगा जो परवर्ती काल में मुद्राराशि के रूप में प्रचलित हो गये ।[1] डा. अग्रवाल का तर्क युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है क्योंकि

---

1. पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ-255.

पुरातात्विक स्थल तक्षशिला से छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. से द्वितीय शताब्दी ई. पू. के बीच विभिन्न प्रकार के स्वर्णाभूषण प्राप्त हुए हैं । यह स्वर्णाभूषण अलंकरण की वस्तु होने के साथ-साथ संभवतः बहुमूल्य वस्तुओं को क्रय करने के लिए गिरवी रखने के माध्यम से प्रचलित रहा होगा । प्रो. वी. एस. पाठक महोदय के अनुसार सूर्य रश्मियों एवं डिस्क आकृति वाले रजत व ताम्र की बनी आहत मुद्राएं संभवतः निष्क प्रकार की सुवर्ण मुद्राराशि थी ।[1] किन्तु इस प्रकार के समाधान से भी सहस्रों की संख्या में प्रचलित एवं भरहुत अंकन में उत्कीर्ण स्वर्ण मुद्राराशि से संबंधित वर्णन (दृश्यांकन) से उपरोक्त समस्या नहीं सुलझती है क्योंकि पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त रजत व ताम्र की आहत मुद्राओं को प्रायः पालि ग्रंथों में वर्णित रजत-ताम्र कहापणों एवं मासकों से समीकृत किया गया है जो तथ्य के अधिक निकट अथवा सत्य प्रतीत होता है ।

पुरातात्विक उत्खनन में पिपरहवा स्तूप से गोल-चौकोर स्वर्ण की पत्तियां (छठीं शताब्दी ई. पू. की) प्राप्त हुई हैं । इनका प्रयोजन चाहे जो भी रहा हो किन्तु सुवर्ण धातु का इस रूप में उपयोग से एक अर्थ संभवतः धनराशि के रूप में भी रहा होगा । इसके अतिरिक्त सिकन्दरकालीन सुवर्ण की मुद्राएँ (इलेक्ट्रम प्रकार) सीमित संख्या में प्राप्त हुई हैं जिनसे तत्कालीन समाज में स्वर्णमुद्राओं के सीमित किन्तु प्रचलित अवस्था पर प्रकाश पड़ता है । अन्य अतिरंजनापूर्ण विवरण यथा-सुवर्णमय स्थापत्य के अन्तर्गत स्वर्णिम देवविमानों की परिकल्पनाएं, स्वर्णमय स्तूप, चैत्य इत्यादि संदर्भों को विश्लेषित करके उनके मूल में छिपे तथ्यों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है । ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन नरेशों एवं बौद्ध श्रावकों के वैभव एवं समृद्धता को अभिव्यक्त करने के लिए इस प्रकार के उल्लेख किये गये हैं जो सुवर्ण धातु की बहुमूल्यता एवं विशिष्टता का सूचक है । सुवर्णमय स्तूप एवं चैत्य में संभवतः शीर्षस्थ भाग पर स्वर्णरत्न अथवा पत्र को मण्डित करके इसे धातुमय बनाया जाता रहा होगा । यद्यपि पुरातात्विक साक्ष्यों में प्राप्त स्तूप (भरहुत-सांची) इस बात के अपवाद स्वरूप हैं । इसी प्रकार स्वर्णिम देवविमान जो उच्च शिखर स्थित पर्वतीय भागों एवं अन्तरिक्ष में अवस्थित वर्णित हैं, संभवतः सुवर्ण धातु की विद्यमानता के कारण ऐसे भाग को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त किया गया है ।

यद्यपि उपरोक्त अतिरंजनापूर्ण विवरणों को विश्लेषित करके उनके मूल को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । किन्तु बौद्धकालीन भारत में सुवर्ण धातु को

---

1. आहत, ए सेमान्तिक स्टडी, पृष्ठ-7.

प्रचुर मात्रा में नदियों, सामुद्रिक व्यापार एवं खान से प्राप्त किया जाता रहा है इसमें कोई संदेह नहीं । पुरातात्विक साक्ष्यों में भी नदियों के तटवर्ती भाग से छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. में सुवर्ण कणों को प्राप्त किये जाने के प्रमाण मिलते हैं ।[1] इतना ही नहीं उपमा-उपमेय के धुन्ध में छिपे अत्याधुनिक विकसित सुवर्ण तकनीकी ज्ञान के स्पष्ट उल्लेख भी पालि ग्रन्थों से प्राप्त होते हैं । यथा–प्रगलनप्रक्रिया, शोधन प्रक्रिया, धातु को सुदृढ़ किया जाना, शुद्धता की परख, मिश्रित सुवर्ण तैयार किया जाना, सुवर्ण द्रव्य को तैयार रखने की विधि, धातु को पीट कर स्वरूप प्रदान करना एवं उसके रख-रखाव की विधि पर प्रकाश पड़ता है । इससे ज्ञात होता है कि बौद्ध-कालीन भारत में धातु का उपयोग चाहे जिस रूप में भी किया जाता रहा होगा धातुकणों की उपलब्धि एवं विकसित तकनीकी ज्ञान सुवर्ण धातु के व्यापक उपयोग को पुष्ट करता है ।

●

---

1. विस्तृत अध्ययन हेतु देखिये अध्याय-2, 'स्वर्णप्राप्ति की संभावनाएं' के अन्तर्गत. सुवर्ण प्रप्ति संबंधी संदभों विशेषकर जम्बूनदसुवर्ण एवं सुवर्ण मय पर्वतो की भौगोलिक छानबीन से मोटे तौर पर बुद्धकालीन भारत वर्ष में तिब्बत के पठारी भाग एवं पर्वतीय भाग में बहुमूल्य स्वर्णादि खनिजों के पाए जाने की संभावना ज्ञात होती है ।

तृतीय अध्याय

रजत धातु

रजत धातु

श्वेत चमकदार कांति से युक्त रजत धातु की प्राचीनता सुवर्ण की भांति तृतीय सहस्राब्दि ई. पू. में ज्ञात होती है । इस काल में रजत का उपयोग आभूषणों एवं पात्रादि के लिए किया जाता था ।[1] बाद के वैदिक एवं उत्तर वैदिक साहित्यिक साक्ष्यों में भी रजत धातु के विभिन्न उपयोग, विशेषकर दान-दक्षिणा के रूप में रजत धनराशि को व्यवहार में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । अपने श्वेतमय कांति के कारण उत्तर वैदिकसाहित्य में रजत धातु को 'अर्जुन' (उज्जवल रूप) भी कहा गया है ।[2] प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से भी धातु के भिन्न प्रकार के उपयोगों एवं प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । सुवर्ण की भांति रजतमय वस्तुओं का उपयोग भी समाज के अभिजात्य एवं धनाढ्य वर्ग तक ही सीमित ज्ञात होता है जो इस धातु के वहुमूल्य एवं विशिष्ट होने का सूचक है ।

प्रस्तुत अध्याय में प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से प्राप्त रजत धातु विषयक विवरणों के समग्र अध्ययन पर यथासम्भव प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है । अन्य अध्यायों के समान रजत धातु के विभिन्न रूपों में प्रचलन, महत्व एवं उसके प्रयोगात्मक स्वरूप को दो कालों में प्रस्तुत किया गया है तथा अन्त में विवेच्य काल से प्राप्त रजतमय वस्तुओं का उनके प्रयोगों एवं परिमाणात्मक परिवर्द्धन का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । तत्पश्चात् रजत प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोतों, प्रकार एवं रजत धातुकर्म संबंधी विवरणों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

प्राचीन बौद्ध पालि साहित्य में चांदी के लिए ' रजत', 'रूपिय', 'सज्झुं शव्दं प्राप्त होते हैं किन्तु कुछेक उदाहरणों में 'सज्झं' एवं 'रजत' दोनों ही अलग-अलग धातु के प्रतीक अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं । अतः ऐसे उदाहरणों में सज्झं का अभिप्राय रजत से न होकर सम्भवतः रजत की भांति अत्यधिक चमकदार श्वेतकांति से युक्त जस्ते के लिए व्यवहृत हुआ है क्योंकि धातुओं के क्रम में लौह, ताम्र, वंग (रांगा), सीसा एवं सज्झं व रजत का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा -

'अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं रजतं जातरूपं ।' [3]

---

1. मार्शल, जॉन : मोहे-जो-दड़ो एण्ड दि इंडस वैली सिविलाइजेशन, 1931.
2. सत्यप्रकाश : प्राचीन भारत में रसायन का वि., पृष्ठ - 5; अथर्ववेद, 5. 28. 5.
3. विभंगपालि, अभिधम्मपिटक, पृष्ठ 102.

पालि ग्रन्थों के रजतमय वस्तुओं के विवरणों में सर्वाधिक उल्लेख रजत धनराशि के प्राप्त होते हैं । उनका युगल संदर्भ प्रायः 'जातरूप' के साथ प्राप्त होता है । यथा - 'रजतंजातरूपं ।' इसके अतिरिक्त मुद्राराशि के रूप में एक निश्चित परिमाण वाले रजत की वस्तु का उल्लेख 'रूपिय' एवं 'कहापण' के अर्थ में हुआ है । कहापण को सामान्य व्यवहार में प्रचलित मुद्राराशि कहा गया है । अन्य वस्तुओं में धनाढ्य वर्ग के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले विलासितापूर्ण प्रसाधन की वस्तुओं यथा – रजतमय अंजनदानी, कर्णमलहरणी एवं रजतमय चरणपादुका तथा रजतमय मूठ वाली कैंची, पात्र, आसन एवं वाहन के उल्लेख भी दैनिक जीवन में प्रयुक्त सामग्री के अन्तर्गत प्राप्त होते हैं । स्थापत्य आदि कार्यों के निमित्त भी रजत को उपयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

पूर्वोक्त विषयवस्तु को ध्यान में रखते हुए अध्ययन की सुविधा के अनुसार मोटे तौर पर उनका वर्गीकरण किया गया है जो इस प्रकार हैः ।

(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली रजत की वस्तुएँ यथा - पात्र, प्रसाधन की वस्तुएँ (अंजनदानी, कर्णमलहरणी एवं रजतमय चरणपादुका), आसन, वाहन एवं सिलाई के उपकरण यथा कैंची ।

(2) रजत धनराशि : सम्पत्तिमूलक एवं मुद्रासूचक धनराशि ।

(3) वास्तु अंगों को अलंकृत करने के लिए रजत को उपयोग में लाया जाना ।

(4) रजत प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोत : नदियों के माध्यम से रजत की प्राप्ति, सामुद्रिक व्यापार के अन्तर्गत एवं खान आदि से धातुप्राप्ति की सम्भावना ।

(5) रजतधातु-कर्मः शोधन प्रक्रिया ।

उपरोक्त रजतमय वस्तुओं में धातु का उपयोग विभिन्न प्रकार से किये जाने की सम्भावना ज्ञात होती है । यथा :

(1) मूलधातु के रूप में रजत का उपयोग मुद्रासूचक धनराशि एवं प्रसाधन की (सौंदर्य की) वस्तुओं के रूप में किया जाना । मुद्रासूचक धनराशि के लिए सम्भवतः रजत की चादरों (शीट) के गोल एवं चौकोर पत्तर काटकर इसे एक निश्चित आकार एवं परिमाण में ढालकर व्यवहृत किया जाता रहा होगा ।

(2) पात्र, आसन एवं रजतमय चरणपादुका (खड़ाऊं) के अग्रभाग को रजतपत्र, मनके अथवा तार आदि से अलंकृत कर के इन्हें रजतमय बनाया जाता रहा होगा । अथवा अन्य धातुओं से निर्मित (ताम्र, कांस्य, लौह) वस्तुओं पर रजत की परत चढ़ाकर या पत्र चढ़ाकर, उसे पीटकर रजतमय बनाया जाता रहा होगा । इस विधि से सम्भवतः रजतमुद्रा एवं अलंकरण की वस्तुओं को तैयार किया जाता रहा होगा ।

(3) रजत चूर्ण को धनराशि एवं वास्तुअंगों को अलंकृत करने के लिए उपयोग में लाए जाने तथा ;

(4) रजतमय अथवा रुपहली चमकदार पालिश को पात्र, आसन, वाहन, तथा स्थापत्य आदि कार्यों में विशेषकर राजभवन के प्राकार एवं सोपान आदि को वैभवपूर्ण संस्कृति के अन्तर्गत तत्कालीन नरेशों द्वारा बनवाए जाने की सम्भावना ज्ञात होती है ।

विवेच्य काल में ज्ञात रजतमय वस्तुओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम प्रथमकाल से ज्ञात रजतमय वस्तुओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

प्रथम कालः (छठी-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शता. ई. पू. तक) :

प्रथम काल के बौद्ध पालि ग्रन्थों से रजतमय वस्तुओं के विभिन्न रूपों में उपयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यद्यपि रजतमय वस्तुओं से संबंधित विवरण सीमित रूप से ही ज्ञात होते हैं किन्तु इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि रजत धातु से निर्मित वस्तु का उपयोग समाज का धनाढ्य वर्ग ही करता था जो इसके बहुमूल्य होने का संकेत देता है । प्रथम काल से धनाढ्य गृहपति द्वारा दैनिक जीवन में उपयोग में लाए जाने वाली रजतमय पात्रों, आसन, प्रसाधन की वस्तुएँ यथा- अंजनदानी, कर्णमलहरणी एवं रजतमय चरणपादुका के तथा धनराशि के रूप में रजतचूर्ण व सहस्रों की संख्या में रूपिय मुद्राराशि एवं कहापण को क्रमशः दान-दक्षिणा एवं क्रय-विक्रय के रूप में प्रयुक्त किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । सर्वाधिक उल्लेख सम्पत्तिमूलक रजत धनराशि के ज्ञात होते हैं जिसमें रजतचूर्ण के साथ-साथ 'रजत' का व्यवहार किया जाता था । प्रायः बौद्ध भिक्षुओं के अनुशासनात्मक कारवाई के अन्तर्गत उन्हें सुवर्ण-रजत से विरत रहने के निर्देश प्राप्त होते हैं । भिक्षा आदि में स्वर्ण-रजत से विरत रहने के उल्लेख से प्रायः प्रथम काल के पालि ग्रन्थ भरे पड़े हैं । विषयवस्तु के पूर्वोक्त वर्गीकरण के आधार पर सर्वप्रथम दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले रजतमय वस्तुओं का उल्लेख किया गया है ।

(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त रजतमय वस्तुएँ :

दैनिक जीवन में रजतमय वस्तुओं का उपयोग अभिजात्य एवं धनाढ्य वर्ग द्वारा किये जाने के उल्लेख मिलते हैं । इन वस्तुओं का विवरण पूर्वोक्त विवरण में दिया जा चुका है । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम रजतमय पात्रों का उल्लेख किया गया है ।

(क) रजतमय पात्र :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों में 'विनयपिटक', संयुक्तनिकाय' एवं 'अंगुत्तर-निकाय' से रजतमय पात्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । ये उल्लेख बौद्ध भिक्षुओं के

बहुमूल्य वस्तुओं से विरत रहने के संदर्भ में तथा धनाढ्य गृहपित द्वारा दान-दक्षिणा के रूप में व्यवहृत किये जाने के संदर्भ में प्राप्त होते हैं । इन पात्रों के लिए 'रूपियमयंपत्तं', 'रूपियपाति' एवं 'रूपियमयं धूमनेत्तं' शब्द व्यवहृत हुए हैं ।

1– रूपियमयं पत्तं :

'चुल्लवग्ग' से राजगृह के भिक्षुओं को बहुमूल्य पात्रों से विरत रहने के संदर्भ में 'रूपिमयं पत्तं' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है । भिक्षुओं द्वारा इसे दैनिक व्यवहार में खान-पान आदि के निमित्त उपयोग में लाया जाता था । पत्त सम्भवतः पाति या तश्तरी की ही भांति किन्तु अपेक्षाकृत अधिक गोलाई लिये हुए भिक्षापात्र अथवा खानपान ग्रहण करने वाला पात्र प्रकार रहा होगा । प्राप्त संदर्भ के अनुसार राजगृह के षड्वर्गीय भिक्षु बहुमूल्य सुवर्ण एवं रजत धातु से निर्मित पात्र को उपयोग में लाते थे जिसका व्यवहार उनके लिए विहित नहीं था । यथा–

'छब्बगिया भिक्खु उच्चावचे पत्ते धारेन्ति सोवण्णमयं रूपियमयं ।
न भिक्खवे सोवण्णमये पत्तो धारेतव्वो न रूपियमयं ।'

अर्थात् 'षड्वर्गीय भिक्षु ऊंचे दाम वाले सुवर्ण एवं रजतमय पात्रों को धारण करते थे । भिक्षुओं को सुवर्णमय एवं रजतमय पात्रों को नहीं धारण करना चाहिए ।'[1]

चुल्लवग्ग में एक अन्य संदर्भ में भिक्षुओं द्वारा लौहमय पात्रों के ग्रहण संबंधी निर्देश के अन्तर्गत एक ही संदर्भ में विभिन्न लोहे के पात्रों के साथ 'लोहपत्त' शब्द व्यवहृत हुआ है जिसका तात्पर्य भिक्षुओं द्वारा भिक्षा आदि के निमित्त अथवा खान-पान ग्रहण करने के लिए उपयोग में लाये जाने वाले पात्र से ज्ञात होता है ।[2] जातक में 'पत्त' को एक प्रकार का बौद्ध भिक्षुओं द्वारा व्यवहार में लाया जाने वाला पात्र कहा गया है । इस पात्र को भिक्षु सदैव अपने पास रखते थे । इसके साथ-साथ कड़ाही एवं पानी रखने वाला पात्र भी भिक्षुओं के पास होता था ।[3] प्रथम शताब्दी ई. पू. के रोमक इतिहासकार स्ट्रैबो ने सुवर्ण एवं रजत के रत्न से जड़ित प्यालेनुमा पात्रों का उल्लेख किया है । इसका उपयोग राजघराने में किया जाता था विशेषकर केशप्रक्षालन उत्सव के अवसर पर ।[4]

2–रूपियपाति :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'वेलामसुत्त' से श्रावस्ती के धनी गृहपति वेलाम नामक ब्राह्मण द्वारा किये गये महादान के संदर्भ में सहस्रों की संख्या में सुवर्ण से पूर्ण रजत पाति के उल्लेख प्राप्त होते हैं यथा–

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 201, हि. अनु., पृ. 423.
2. वही, पृ. 266.
3. त्रिपाठी प्रभा :: प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 60.
4. मजुमदार रमेशचन्द्रः क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 279.

'चतुरासीति रूपियपाति सहस्साभि अदासि सुवण्ण पूरानि ।'
अर्थात् 'चौरासी हजार चांदी की थाली रजत से पूर्ण प्रदान किया ।'[1]

3– रूपियपातियाः

'संयुक्तनिकाय' के 'रूपियपातिसुत्त' से भिक्षुओं के प्रलोभन आदि से विरत् रहने के संदर्भ में सुवर्ण से परिपूर्ण रजत की थाली का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'रूपियपातिया सुवण्ण चुण्ण परिपूराय सिक्खितब्वं ति ।'
अर्थात् 'सुवर्णचूर्ण से परिपूर्ण रजत थाली हेतु वह (भिक्षु) झूठ नहीं बोलेगा ।'[2]

चाइल्डर्स ने 'पाति' के थाली एवं तश्तरी दोनों ही कहा है ।[3] पुरातात्विक उत्खननों में उत्तरभारत के विभिन्न स्थलों से विशेषकर पूर्वोत्तर भारत के क्षेत्र से छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शताब्दी ई.पू. तक के रुपहले अथवा श्वेत चमकदार कांति लिए हुए कटोरे नुमा एवं तश्तरीनुमा पात्र प्राप्त हुए हैं ।[4]

4– रूपियमयं धूमनेत्तं :

'महावग्ग' से भिक्षुओं को स्वर्णमय एवं रजतमय धूम्रनेत्र से विरत रहने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'न धारेतव्वा सोवण्णमयं रूपियमयं धूमनेत्तं' अर्थात्

'भिक्षुओं को सुवर्णमय, रूपियमय धूम्रनेत्र नहीं धारण करना चाहिए ।'[5]

'महावग्ग' के अनुसार धूम्रनेत्र का उपयोग औषधि पात्र के रूप में सिरदर्द निवारण हेतु किया जाता था । इस पात्र में धुआँ आदि भरकर रोगी को नासिका के माध्यम से धुआँ ग्रहण करवाया जाता था ।[6] राहुल जी ने इसे 'फोफी' कहा है, जो एक प्रकार की खोखली नली होती है ।[7]

(ख) प्रसाधन की वस्तुएं :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से धनीवर्ग के दैनिक जीवन में प्रयुक्त की जाने वाली प्रसाधन अथवा अलंकरण की रजतमय वस्तुओं के अन्तर्गत अंजनदानी, कर्णमलहरणि , एवं रजतमय चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं । प्रायः भिक्षुओं

---

1. अंगुत्तरनिकाय, चतुर्थ खंड, पृ. 221-222 हि. अनु., पृ. 295.
2. संयुक्तनिकाय, द्वितीय खंड, पृ. 194, हि. अनु, 291.
3. चाइल्डर्स, आर. सी. : डिक्शनरी आव पालि लैंग्वेज़, पृ. 358.
4. राय त्रिभुवन नारायण : दि गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 195-196.
5. महावग्ग,पृ. 223 : हि. अनु.,पृ. 218.
6. वही.
7. सांकृत्यायन राहुल : विनयपिटक, हि. अनु., पृ. 218.

को इस प्रकार की वस्तुओं से विरत् रहने का निर्देश दिया गया है । इसके अन्तर्गत 'रूपियमयं संखनाभिमयं', 'रूपियमयं कण्णमलहरणिया' एवं 'रूपियमया पादुका' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1–रूपियमयं संखनाभिमयं :

'चुल्लवग्ग' से षड्वर्गीय भिक्षुओं के सुवर्ण एवं रजत मय अंजनदानी को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जिनका विरोध करते हुए भगवान बुद्ध उन्हें इस प्रकार बहुमूल्य वस्तुओं से विरत रहने का निर्देश देते हैं । यथा--

'छव्वग्गिया भिक्खू उच्चावचा संखनाभिमयं धारेन्ति सोवण्णमयं
रूपियमयां न भिक्खवे धारेतव्बा सोवण्णमयं रूपियमयं संखनाभिमयं ।'

अर्थात् 'षड्वर्गीय (राजगृह) भिक्षु उँचे दाम वाले सुवर्ण एवं रजतमय अंजनदानी को धारण करते थे । भिक्षुओं सुवर्णमय एवं रजतमय अंजनदानी को नहीं ग्रहण करना चाहिए' ।[1]

2–रूपियमयं कण्णमलहरणिया :

'चुल्लवग्ग' से षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा ऊंचे दामों वाली रजतमय कण्णमलहरणि को धारण करने तथा बुद्ध द्वारा नियमनिर्देश के अनुरूप उन्हें इस प्रकार के बहुमूल्य कण्णमलहरणि से विरत् रहने के निर्देश के संदर्भ में उपरोक्त उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'छव्बग्गिया भिक्खू उच्चावचा कण्णमलहरणियो धारेन्ति सोवण्ण-
मयं रूपियमयं न भिक्खवे धारेतव्बा कण्णमलहरणियो सोवण्णमयं रूपियमयं ।'[2]

3–रूपियमया पादुका :

'विनयपिटक' के 'महावग्ग' से भद्दिया के भिक्षु वर्ग द्वारा विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य धातुओं से चरणपादुका के निर्माण के संदर्भ में, भिक्षुओं द्वारा इस प्रकार के चरणपादुका से विरत रहने के संदर्भ में रजतमय चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'छव्बग्गिया भिक्खू उच्चावचा सोवण्णमयं रूपियमयं पादुकायाम
धारयन्ति । न धारेतव्बा सोवण्णमयं रूपियमया पादुका ।'

अर्थात् 'षड्वर्गीय भिक्षु स्वर्णमय, रजतमय चरणपादुका को धारण करते थे । भिक्षुओं सुवर्णमय, रजतमय पादुका को धारण नहीं करना चाहिए ।'[3]

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 225: हि. अनु., पृ. 218.
2. वही. पृ. 225.
3. महावग्ग, पृ. 207. व 209., हि. अनु., पृ.

'दीघनिकाय' से 'चित्रुपाहन' अर्थात् चित्रित जूते का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] रजतमय पादुका से तात्पर्य भी संभवतः चांदी के मनके अथवा तार आदि से चरणपादुका अथवा खड़ाऊं के अंग्रभाग को अलंकृत कर उन्हें रजतमय बनाए जाने से रहा होगा ।

(ग) आसन :

'दीघनिकाय' के 'महासुद्दसनसुत्त' एवं 'संयुक्तनिकाय' से कुसीनारा के ऐश्वर्यशाली नरेश सुदर्शन के बहुमूल्य धातुओं एवं रत्नों से जटित पायों वाले पलंग (शयनासन) के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन धातुओं में रजत धातु का भी पलंग के पाए के रूप में उपयोग किया जाता था । यथा –

'चतुरासीति पल्लंक सहस्सानि अहेसुंसोवण्णमयाभि रूपियमयाभि गोनकत्थानि ।' अर्थात्

'चौरासी हजार पलंग थे, जिनके पाए सुवर्णमय, रजतमय थे ।'[2]

'चुल्लवग्ग' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' से रजतमय 'महाशयूया' के उल्लेख प्राप्त होते हैं । सम्भवः रजत के छोटे-छोटे पत्रों अथवा टुकड़ों को पाए में स्थापित कर उन्हें राजसी वैभव के अनुरूप अलंकृत किया जाता रहा होगा ।

(घ) सिलाई के उपकरण : (कैंची) :

'चुल्लवग्ग' से सोने व चांदी के दण्ड से युक्त कैंची के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे भिक्षु को विरत रहने के लिए कहा गया है । यथाः

'छब्बग्गियाभिक्खू उच्चावचे सत्थकदण्डे धारेन्ति सोवण्णमयं रूपियमयं । न भिक्खवे उच्चावचा सत्थकदण्डा धारेतब्बा ।' अर्थात्

'षड्वर्गीय भिक्षु बहुमूल्य सुवर्ण, रूपियमय मूठ वाली कैंची कोधारण करते थे । भिक्षुओं बहुमूल्य सत्थकदंड को नही धारण करना चाहिए ।'[3]

राहुल जी ने सत्थकदण्ड को भुजाली कहा है ।[4] चुल्लवग्ग से ही सिलाई आदि के समय अंगुली की सुरक्षा के लिए उसमें पहने जाने वाले बहुमूल्य धातु के बने 'अंगुस्ताना' के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं ।[5]

---

1. दीघनिकाय, 2.4., पृ. ९ (जिल्द- 9)
2. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 132, हि. अनु., पृ. 150; संयुक्तनिकाय, पृ. 237. हि. अनु., पृ. 576.
3. चुल्लवग्ग, पृ. 204, हि. अनु., पृ. 426.
4. वही.
5. वही.

(2) रजतधनराशि :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से रजत धातु संबंधी विवरणों के अन्तर्गत सर्वाधिक उल्लेख रजत धनराशि के ही प्राप्त होते हैं । धनराशि के रूप में रजत को दो प्रकार से व्यवहृत किया जाता था अर्थात् सम्पत्तिमूलक रजत धनराशि । इस अर्थ में प्रायः धनाढ्य गृहपति वर्ग के बहुमूल्य वित्तूपकरणों से परिपूर्ण कोषागारों के संदर्भ में एवं बौद्ध भिक्षुओं के सुवर्ण-रजत आदि के भिक्षा आदि में ग्रहण करने एवं उससे विरत रहने के संदर्भ में प्राप्त होता है । दूसरे प्रकार में मुद्रासूचक रजतधनराशि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत संख्यावाचक अर्थों में प्रयुक्त सहस्रों की संख्या में रजत धनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है । अनगिनत अथवा सहस्रों की संख्या में उल्लिखित रजत धनराशि एक निश्चित परिमाण वाली रजतमय वस्तु की विद्यमानता का स्पष्ट संकेत देता है ।

(क) सम्पत्तिमूलक रजत धनराशि :

प्रथम काल से सर्वाधिक उल्लेख सम्पत्तिमूलक रजत धनराशि के प्राप्त होते हैं । प्रायः रजत को जातरूप के साथ युगल रूप से प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार की धनराशि को संदर्भविशेष के आधार पर तीन वर्गों में बांटा गया है । यथा – प्रथमतः धनाढ्य वर्ग के परिपूर्ण कोषागारों के संदर्भ में, द्वितीयतः भिक्षुओं के दैनिक जीवन में भिक्षा आदि के रूप में रजत को ग्रहण करने व न करने के निषेध संबंधी निर्देश के संबंध में तथा तृतीय रजत धनराशि के रूप में, रजतचूर्ण को व्यवहार में लाए जाने संबंधी निर्देश के संबंध में प्राप्त होता है ।

धनाढ्य वर्ग के परिपूर्ण कोषागारों के अन्तर्गत 'जातरूपरजतो' शब्द व्यवहृत हुआ है । निकायों के प्राप्त संदर्भ के अनुसार राजसी एवं श्रेष्ठी वर्ग के अपार सुवर्ण रजत धनराशि से परिपूर्ण कोषागारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–'महद्धारो महाभोगो पहूत जातरूपरजतो पहूत वित्तूपकरणो पहूत धञ्ञंधन्नं परिपुण्णं कोट्ठागारो ।' अर्थात्

'महाधनवान, महाभोगवान, बहुत से जातरूपरजत वाले, बहुत से वित्त-उपकरण वाले तथा धनधान्य से परिपूर्ण कोषागार वाले होते हैं ।'[1]

2- भिक्षुओं द्वारा भिक्षा आदि में रजत के ग्रहण करने व उससे विरत रहने के निर्देश संबंधी विवरणों से प्रायः पालि ग्रन्थ भरे पड़े हैं । विनयपिटक एवं निकायों में ऐसे भिक्षुओं की आलोचना की गई है जो रजत धनराशि को भिक्षा आदि में ग्रहण

1. दीघनिकाय, खंड-1, पृ. 155; 514; हि. अनु., पृ. 25; संयुक्तनिकाय, खंड-1, पृ.-70, मज्झिमनिकाय, पृ. 287-89.

करते हैं । विनयपिटक से प्राप्त संदर्भ के अनुसार वैशाली के भिक्षु का एक वर्ग (वज्जिपुत्तक) भिक्षा आदि में रजत आदि ग्रहण करते थे । यथा–

'वेसालिका वज्जिपुत्तका भिक्खू सक्यु पुत्तियानं जातरूपरजतं निक्खितमणि । समण साक्यपुत्तिया जातरूपरजतं पटिग्गण्णहन्ति ।

"न कप्पति समणानं सक्युपुत्तिया जातरूपरजतं' ति । रजतं जातरूपञ्च सादियन्ति अविद्दसु ।'[1]

पाणिनी ने धनराशि के अर्थ में रजत शब्द का उल्लेख किया है ।[2] ब्राह्मण साहित्य में रजत व हिरण्य को दक्षिणा में दिया जाने वाला शतमान मुद्रासूचक धनराशि के संदर्भ में उल्लिखित किया गया है ।[3]

3–रूपियपूरानि :

दान आदि के ग्रहण करने एवं दिये जाने के संदर्भ में 'रूपियपूरानि' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है । 'अंगुत्तरनिकाय' से प्राप्त संदर्भ के अनुसार श्रावस्ती के धनाढ्य ब्राह्मण गृहपति द्वारा महादान के अवसर पर सहस्त्रों की संख्या में सुवर्णमय थाली के रजत से परिपूर्ण धनराशि को दिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'चतुरासीति सुवण्णपाति सहस्सानि अदासि रूपियपूरानि' अर्थात्
'रजत से पपूर्ण चौरासी हजार थाल (सुवर्णमय) दान में दिये ।'[4]

4–रूपियचुण्णं :

'संयुक्तनिकाय' के 'सोवण्णपातिसुत्त' से भिक्षुओं के भिक्षा आदि में रजत के प्रलोभन से विरत रहने के संदर्भ में रूपियचूर्ण का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सोवण्णमयाय पाटिया रूपियचुण्णं परिपूराय सिक्खितव्बं ति ।'

अर्थात् 'रूपियचूर्ण से परिपूर्ण सुवर्ण थाली के लिए भी वह झूठ नहीं बोलेगा ।'[5]

विनयपिटक से एक अन्य संदर्भ में भिक्षा आदि में प्राप्त बहुत सी चांदी के चौकी पर रखे होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[6] इस प्रकार के उल्लेख से रजत चूर्ण को धनराशि के रूप में व्यवहृत किये जाने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है ।

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 416, 549, 552, 558; संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. 287, 891; अंगुत्तरनिकाय, खंड-2, पृ. 55-56, हि. अनु., पृ. 586-89; महावग्ग, हि. अनु., पृ. 250.
2. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 254.
3. वही; श. ब्रा., 13.2.3.2.
4. अंगुत्तरनिकाय, चतुर्थ खंड, पृ. 201-202, हि. अनु., पृ. 33.
5. संयुक्तनिकाय, द्वितीय खंड, पृ. 194, हि. अनु., पृ. 291.
6. विनयपिटक, हि. अनु., पृ. 524.

(ख) मुद्रासूचक रजतधनराशि :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से व्यवहार में प्रचलित तथा संख्यावाचक रजत धनराशि को उपयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो एक निश्चित परिमाणवाचक रजत की मुद्राराशि के प्रचलित होने का संकेत देता है । पालिग्रन्थों में प्राप्त संदर्भ में मुद्रासूचक धनराशि के अन्तर्गत कहापण एवं रूपिय शब्द प्राप्त होते हैं । एक अन्य सन्दर्भ में रूपिय मुद्रासूचक राशि को सुवर्ण (हिरण्य) धनराशि से कम मूल्य वाला कहा गया है ।

1– कहापण–

विनयपिटक पालि में कहापण को व्यवहार में प्रचलित रजत की मुद्रा गहा गया है । इसके लिए 'कहापणो', 'कहापणवस्सेन' एवं 'कहापणं' शब्द प्राप्त होते हैं ।

कहापणो–

'चुल्लवग्ग' से रजत की व्यवहार में प्रचलित मुद्रा को कहापण कहा गया है जो ताम्र के मासक, हड्डी, लाख एवं दारू (लकड़ी) के मासक के समान दैनिक व्यवहार में प्रचलित थी । यथा–

'रजतं नाम कहापणो लोहमासको दारूमासको जतुमासको ये वोहारं गच्छन्ति ।'[1] अर्थात्

'रजत की मुद्रा कार्षापण है, लोह (ताम्र एवं लौह) के मासा, दारू के मासा एवं लाख के मासा के रूप में व्यवहृत होता था ।' [2]

उपरोक्त संदर्भ में ही भिक्षुओं को इस प्रकार के मुद्राव्यवहार से विरत रहने को कहा गया है, विशेषकर रजत एवं सुवर्ण के धनराशि से । [3]

कहापणवस्सेन–

'धम्मपद' से सहस्त्रों की संख्या में कहापण को बुद्ध के जन्मोत्सव पर वर्षा किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु अप्पस्सादा दुखा कामा इति विञ्ञाय' अर्थात्

'कार्षापणों की वर्षा से भी कामनओं की तृप्ति नहीं होती । [4]

भिक्षु धर्मरत्न जी ने उपरोक्त संदर्भ में कहापण को सोने की मुद्रा के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 339.
2. चुल्लवग्ग, हि. अनु., पृ. 19.
3. वही. धम्मपद, श्लोक न. 186, पृ. 130, हि. अनु., पृ. 118.
4. वही, हि. अनु. पृ. 118.

कहापणं–

'पाराजिकपालि' से रूपिय से भिन्न तथा 'चुल्लवग्ग' से वैसाली के वज्जिपुत्तक यश नामक भिक्षु के उपोसथ के समय भिक्षुसंघ द्वारा उपस्थित होकर पानी भरे कांसे की थाली में कहापण आदि को मांगे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'मे कहापणं देहि' ति । वेसालिका वज्जिपुत्तका भिक्खू
तददुपोसथे कंसापाति उदकेन पूरेत्वा मज्झे भिक्खुसंघस्य ठपेत्वा आगतागते
वेसालिक उपासके एवं वदन्ति –देवावुसो, संघस्स कहापणं पि अद्धं पि पादं
पि मासकं रूपं पि ।' [1]

उपरोक्त संदर्भ में आर्थिक मानदण्ड के रूप में व्यवहृत विभिन्न प्रकार की मुद्रा राशि के अन्तर्गत कहापण का उल्लेख प्राप्त होता है । इनके अन्त में 'रूप' शब्द व्यवहृत हुआ है । 'अष्टाध्यायी' में 'रूप्यकार्षापणम्' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राचीन कार्षापण मुद्रा को आहत की मुद्रा का नाम दिया गया है । काशिकाकार ने 'रूपदाहत' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि निहाई पर जो रूप बनाया जाता है उसे आहत कहते हैं । कार्षापण को रूप्य कहना उचित है क्योंकि उसपर ठप्पे से चिन्ह ठोंक कर बनाए जाते थे । कार्षापण बनाने की विधि पर प्रकाश डालते हुए डा. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि एक चांदी के चादर को पीट कर उसके लम्बे पत्तर काट लिये जाते थे । फिर हरेक पत्तर से छोटे-छोटे टुकड़े कतर कर कोने को कुपटकर उनका वजन एक समान कर लेते थे । उसके बाद हर कोनों का विचार है कि एक रूप के लिए एक ठप्पा काम में लाया जाता था ।[2] अर्थशास्त्र में 'रूपदर्शक' नामक मुद्रा अधिकारी का उल्लेख प्राप्त होता है । कौटिल्य ने कार्षापण प्रकार की मुद्रा का उल्लेख करते हुए 'कर्ष' को तौल तथा 'पण', अर्द्धपण, पादपण एवं अर्धभागपण नामक मुद्रा का उल्लेख किया है । इसके अनुसार एक पण में 11 माषा चांदी, 4 माषा तांबा व एक माषा अन्य धातुएं यथा–लौह, तिपु, एवं सीसा इत्यादि होता है । अर्थशास्त्र में 16 माषे का एक कार्षापण कहा गया है ।[3] पुरातात्विक उत्खननों में भारत के विभिन्न भागों से छठी शता. ई. पू. की रजत की आहत मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिनके रासायनिक परीक्षण से ज्ञात होता है कि इनके निर्माण में तांबे का मिश्रण भी किया जाता था । इस प्रकार की आहत मुद्रा में

1. चुल्लवग्ग, पृ. 416.
2. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 265, 268.
3. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 90.

रजत का प्रतिशत 65.97% एवं 35.21%, तावें का प्रतिशत होता है । इसके अतिरिक्त ताम्र की आहत मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिनमें कुछेक पर रजत पालिश चढ़ाई गई है । इस प्रकार की मुद्रा में 77.23% ताम्र के ऊपर 20. 47% रजत की पालिश चढ़ाई हुई है । इस प्रकार की आहत मुद्राओं में प्राकृतिक दृश्यों एवं धार्मिक प्रतीक चिन्हों का अंकन किया गया है ।[1] रीज़ डेविड्स के अनुसार कहापण में लगे ताँबे का मूल्य 5/6 पैनी के बराबर होता था[2] । ऐसा प्रतीत होता है कि कहापण मिश्रित धातु (अर्थात् रजत व ताम्र के मिश्रण) से बनी तथा व्यवहार में प्रचलित मुद्रा रही होगी । चूंकि मूलधातु रजत रहा होगा अतः इसे प्रारम्भ में 'रजत कहापण' कहा गया । किन्तु व्यवहार में क्रमश आर्थिक मानदंड के रूप में सर्वाधिक प्रचलित होने के कारण कहापण में ताम्र आदि की मात्रा बढ़ने लगी । बाद के कालों में कहापण ताम्र, रजत एवं सुवर्ण आदिकी मुद्रा के रूप में भी प्रचलित हो गयी । एक अन्य संभावना कार्षापण के संबंध में यह व्यक्त की जा सकती है कि ताम्र की बनी आहत मुद्रा पर रजत की परत चढ़ाए जाने के कारण इसे रजत कार्षापण का नाम दिया गया ।

अंगुत्तनिकाय में मांस काटने के संदर्भ में कार्षापण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । अर्थात् अपराधी व्यक्ति के शरीर को कहापण की भाँति टुकड़े-टुकड़े में विभक्त किये जाने का निर्देश प्राप्त होता है ।[1] राइस डेविड्स के अनुसार 'कहापण में लगे ताँवे का मूल्य प्रायः 5/6 पेनी के बरावर होता था, परन्तु इसकी क्रयशक्ति आजकल के एक शिलिगं के बराबर थी' ।[2] ए. पी. बुद्धदत्तमहाथेर ने कहापण का मूल्य आधा क्राउन (2।। शिलिंग) आंका है । उनके अनुसार एक कहापण करीव सवा रू. के बरावर रहा होगा क्योंकि वह 20 माषक का होता था ।[3] डा. भरत सिंह उपाध्याय ने भी इस मत का समर्थन किया है । डा. उपाध्याय के अनुसार कहापण बुद्धकाल का एक अति प्रचलित सिक्का था और जिस प्रकार आजकल साधारणतः धन के लिए 'पैसे'

---

1. डा. सत्यप्रकाश, क्वाएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 488-89 डा. दुर्गा प्रसाद ने अनेक प्रकार के रूपों को छांट कर उनका वर्गीकरण करके लग. 564 प्रकार के रूपों की तालिका दी है --मथुरा के प्राचीन कार्षापण, पृ. 356; डा. अग्रवाल का सुझाव है कि अष्टाध्यायी में उल्लिखित रूप अर्थात् चिन्हविशेष कालांतर में रूप्य विशेषण पद बनकर उन्ही' सिक्कों के लिए और फिर अन्यप्रकार के सिक्कों के लिए प्रयुक्त हुए -- पाणिनीकालीन भारत, पृ. 266.
2. बुद्धिस्ट, इंडिया, प्रथम संस्करण, पृ. 62.
3. अंगुत्तरनिकाय, सं.-1, पृ. 46.
4. डेविड्स राइस, बुद्धिस्ट इंडिया, प्रथम भारतीय संस्क., पृ. 62.
5. महाथेर, ए. पी. बुद्धदत्त; पूर्वो., पृ. 76.

शब्द का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार बुद्धकाल में लोग कहापण का प्रयोग करते थे । डा. उपाध्याय पुरातात्विक उत्खननों में प्राचीनतम रजत व ताम्र से निर्मित आहत की मुद्राओं की अधिकता से प्राप्ति के कारण कहापण का निर्माण दोनों से हुआ मानते हैं ।[1]

उपरोक्त पालि निकाय में कहापण के साथ-साथ अर्द्धकहापण, पाद, मासक इत्यादि मुद्राराशि का वर्णन भी प्राप्त होता है । डा. महाथेर ने मासक को एक सिक्का मानकर उसका मूल्य करीब एक आने के बराबर बताया है ।[2] पाद मुद्राराशि कहापण का चतुर्थ भाग था ।[3]

(ख) रूपिय

पालि ग्रन्थों से असंख्य एवं निश्चित परिमाण वाले रूपिय मुद्राधनराशि का उल्लेख प्राप्त होता है । रूपिय सम्भवतः उन आहत मुद्राओं में से रहा होगा जो शुद्ध चाँदी से बनते थे तथा जिसमें आवश्यकतानुसार अन्य धातु का मिश्रण किया जाता रहा होगा । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि रूपिय मुद्राराशि को धनाढ्य वर्ग ही व्यवहार में प्रयुक्त करते थे, सामान्य वर्ग में इसका प्रचलन ज्ञात नहीं होता । अतः यह शुद्ध रजत की आहत मुद्राओं में से रहा होगा । । इसके लिए 'रूपियस्सा' एवं 'रूपियं' शब्द व्यवहृत हुए हैं ।[4]

1. रूपियस्सा :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'सत्तकनिपात' से श्रावस्ती के असन्तुष्ट धनाढ्य गृहस्थ भिक्षु के पास असंख्य रूपिय मुद्रा राशि होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सतसहस्सानं हिरञ्ञस्सा कोपान वातो रूपियस्सा 'ति ।'[5] अर्थात्
'उसके पास शत-सहस्त्र हिरण्य है तो रूपियों का क्या कहना ।' ।

उपरोक्त संदर्भ में दो बातें मुख्यतः ज्ञात होती हैं । प्रथमतः शतसहस्त्र हिरण्य की तुलना में अनगिनत रूपिय मुद्रा राशि एक निश्चित परिमाण वाली रजत वस्तु होने का संकेत देता है एवं द्वितीयतः हिरण्य धनराशि रूपिय की अपेक्षा अधिक मूल्यवान थी ।

---

1. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 588.
2. महाथेर, ए. पी., बुद्धदत्त; पूर्वो., पृ. 198.
3. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, विनयपिटक अट्ठकथा, पृ. 551-- सांकृत्यायन, के अनुसार कहापण की क्रयशक्ति आजकल के 12 आने के बराबर थी --बुद्धचर्या, पृ. 278, संकेत-3).
4. अंगुत्तरनिकाय, खंड-3, पृ. 155, हि. अनु., पृ. 141.
5. वही,

2. रूपिय :

'विनयपिटक' के 'पाराजिकपालि' से रूपिय नामक रजत की मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है । जिसे कहापण से भिन्न कहा गया है । इस प्रकार की मुद्रा को शाक्य पुत्रों द्वारा ग्रहण किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

> 'मे कहापणो ति । अत खो सो पुरिसो आयस्मतो उपनन्दस्स
> सक्यपुत्तस्स कहापणं दत्वा उज्झायति खिप्पयति विपायेति ।
> तथेव मयं रूपियं पाटिग्गण्हाम एव मे विमे समणा सक्यपुत्तिया
> रूपियं पटिग्गहणन्ती ।'[1]

पाणिनि ने 'रूप्य' के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए 'रूप्य दीनार', 'रूप्यकेदार' एवं 'रूप्यपुरूष' इत्यादि का उल्लेख किया है ।[2] कर्टियस ने तक्षशिला नरेश द्वारा अलेक्जेण्डर को अस्सी टैलेण्ट रजत मुद्रा प्रदान करने का उल्लेख किया है जिसपर ठप्पेदार चिह्न अंकित थे । उसकी पहचान रजत की आहत मुद्राओं से की गयी है ।[3] आधुनिक विद्वानों ने प्रायः रजत कार्षापण को ही आहत मुद्राओं से समीकृत किया है ।[4] चूंकि उपरोक्त उल्लेख में रूपिय को कहापण से भिन्न प्रकार की मुद्रा कहा गया है अतः वी. एस. पाठक महोदय ने भी रूपिय को रजत मुद्रा से समीकृत किया है ।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि रूपिय शुद्ध रजत की चादरों को काट कर एवं उसे एक सुनिश्चित आकार में बनाई गई रजत की आहत मुद्रा थी जो भार में शतमान प्रकार की ज्ञात होती है । पुरातात्विक उत्खननों में शतमान प्रकार की (जिसमें शुद्ध चांदी की मात्रा 80 से 90 प्रतिशत तक है) रजत की नतशलाका एवं चौकोर आकृति की आहत मुद्राएँ पूर्वोत्तर भारत एवं तक्षशिला से प्राप्त हुई हैं । इन मुद्राओं पर प्राकृतिक दृश्यों यथा सूर्य, पेड़-पौधे तथा पशु-पक्षी का अंकन प्राप्त होता है जो प्रायः मुखभाग पर अंकित है । ये मुद्राएं भार में 88.46% रजत तथा 9.60% ताम्र व अन्य धातुओं से बनी है । इसके अतिरिक्त रजत की आहत मुद्राओं में (शतमान प्रकार) 91.72% रजत एवं 7.52% ताम्र 86.33% चांदी एवं 12.31% ताम्र की बनी तथा तक्षशिला से प्राप्त नतशलाका प्रकार की मुद्रा में 98. 5% रजत को रासायनिक परीक्षण से आंका

---

1. पाराजिकपालि, पृ. 338.
2. पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृ. 265.
3. क्वाएनेज इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 85-86.
4. पाणिनी कालीन भारतवर्ष, पृ. 265,266, 268.
5. पाठक, विशुद्धानन्द, आहत, ए सेमान्तिक स्टडी, खंड-7, पृ. 12.

गया है ।[1] डा. दानी के अनुसार ये मुद्रा उत्तर पश्चिम भारत में इण्डो-बैक्ट्रियन प्रभाव के कारण वहाँ से प्राप्त हुए हैं । अतः इन्हें गंगा-यमुना के दोआब से यहां लाया गया है ।[2]

(3) स्थापत्य आदि में रजत का उपयोग :

प्रथम काल से स्थापत्य आदि के लिये रजत को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यद्यपि ये उपयोग राजप्रासादों एवं राजकीय पुष्करणी तक ही ज्ञात होता है । इनके निर्माण में रजतमय सोपान, सूचियों, उण्हीस, खम्भे एवं इष्टकों को उपयोग में लाया जाना तथा चांदी की कांटी के उपयोग पर भी प्रकाश पड़ता है ।

'दीघनिकाय' के महासुदस्सनसुत्त' से कुशीनारा नरेश के वैभवशाली राजप्रासाद एवं राजकीय पुष्पकरणी के संदर्भ में धातु को विभिन्न प्रकार से वास्तु अंगों के रूप में उपयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

> 'धम्मपासादं चतुन्नं वण्णानं इट्ठकाहि चिताअहेसुं......चतुन्नं
> वण्णानं सोपानानि अहेसुं......चतुन्नं वण्णानं थम्भा अहेसुं
> एको सोवण्णमया एको रूपियमया एको वेलुरियमया एको फलिक
> मया अहेसुं ।' अर्थात्

'वह धर्म प्रासाद चार वर्ण के ईटों, चार वर्ण के सोपानों, चार वर्ण के खम्भों से निर्मित था जिसमें एक सोवण्णमय, एक रूपियमय, एक बिल्लौरमय एवं एक स्फटिकमय था' ।

राजकीय पुष्करिणी का उल्लेख इस प्रकार है–

> 'पोक्खरणियो चतुन्नं वण्णानं इट्ठकाहि.....वेदिकाय....थम्भा
> अहेसुं-पोक्खरणीसु चत्तारि सोपानानि अहेसुं-एका इट्ठका
> सोवण्णमया एका रूपियमया एका वेलुरियमया, एका फलिकमया
> अहेसुं । सोवण्णमया सोपानानि सोवण्ण थम्भा अहेसुं रूपियमया सूचियो च
> उण्हीसं च । रूपियमयस्स सोपानस्स रूपियमया थम्भा
> अहेसुं सोवण्णमया सूचियो च उण्हीसं च ।' अर्थात्

---

1. सत्यप्रकाश, क्वाएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 268-69, 488-89-90, तालिका, 22. 1, 22. 2, 22.3.
2. मार्शल जान : तक्षशिला एन इलस्ट्रेटेड अकाउण्टस आव आर्कियो. एक्सकेवेशन्स, खंड-2. पृ. 486. 756, जर्नल आफ इंडियन न्युमिसमैटिक सोसायटी, भाग-2 1955, पृ. 27.

'वह पुष्करिणी चार रंगों के ईटों से बनी थी । जिसमें एक सुवर्ण की, एक रजत की, एक वैदुर्य की तथा एक स्फटिक की थी । सोने की सीढ़ी में सोने का खम्भा, चांदी की कांटी तथा छत था । चाँदी की सीढ़ी में चाँदी का खम्भा, सोने की कांटी तथा छत थी । ये पुष्करिणी वेदिकाओं से घिरी हुई थी जिसमें एक वेदिका सोने की दूसरी चाँदी की थी । इन वेदिकाओं में क्रमश सोने व चाँदी के खम्भे लगे थे ।'[1]

इस प्रकार प्रथम काल से रजत धातु से निर्मित वस्तुओं के विवरणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनका उपयोग बौद्धकाल में सीमित रूप से किन्तु धनाढ्य वर्ग में ही किया जाता था । इस काल में रजत एक बहुमूल्य धातु ज्ञात होती है । किन्तु सुवर्ण की अपेक्षा कम मूल्य वाली भी । उपयोग की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेख रजतमय धनराशि के प्राप्त होते हैं । दैनिक जीवन में गृहस्थोपयोगी रजतमय वस्तु का सीमित रूप से उपयोग किया जाता था । स्थापत्य आदि के रूप में भी रजत का उपयोग सम्भवतः पत्र आदि के रूप में सोपान, वेदिका के रूप में अथवा रजत चूर्ण युक्त गारे अथवा रजतमय पालिश को इन वास्तु अंगों को अलंकृत करने के लिए सम्भवतः यत्र-तत्र उपयोग में लाए जाने के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं । यह उपयोग मात्र राजभवनों तक ही सीमित ज्ञात होता है । धनराशि के रूप में सम्पत्तिमूलक एवं मुद्रासूचक रजत राशि को भी धनाढ्य वर्ग ही व्यवहृत करता था किन्तु कहापण आदि रजत की मुद्रा को व्यवहार में प्रचलित कहा गया है जो सम्भवतः रजत व ताम्र के मिश्रण से बनी मुद्रा राशि रही होगी । जबकि रूपिय का उपयोग धनी वर्ग में ही ज्ञात होता है जो शुद्ध रजत की मुद्रा रही होगी । उपरोक्त संदर्भ में महत्वपूर्ण रूप से भिक्षुओं के दैनिक जीवन में एवं आचार-व्यवहार संबंधी नियम निर्देश में रजत का उपयोग विहित नहीं था अपितु इसका उपयोग करने वालों को मूर्ख कह कर उसकी आलोचना की गयी है । अतः इस प्रकार प्रथम काल से रजत एक बहुमूल्य तथा महत्व की दृष्टि से विशिष्ट धातु ज्ञात होती है ।

द्वितीय काल : (चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक) :

द्वितीय काल से भी प्रथम काल की भाँति रजत धातु-विषयक विवरणों के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु इस काल से कुछ नवीन प्रकार की रजतमय वस्तु को उपयोग में लाये जाने के विवरण मिलते हैं । यथा–रजतमय वाहन, मनोरंजन की वस्तु के साथ-साथ स्थापत्य आदि में रजत का उपयोग बढ़ गया था । पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से ज्ञात होता है कि रजत धातु से निर्मित वस्तुओं का उपयोग धनाढ्य

---

1. दीघनिकाय, 2. 4, खंड-2, पृ. 136-37, हि. अनु., पृ. 156.

वर्ग के अन्तर्गत गृहपति एवं राजभवनों में होने के साथ-साथ विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के वैभव पूर्ण पद्धति के अन्तर्गत बौद्ध श्रावकों में भी बहुमूल्य धातु रजत, सुवर्ण से निर्मित वस्तुओं का उपयोग किया जाने लगा था। इस काल से दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले रजतमय वस्तुओं के अन्तर्गत पात्रों, आसन, वाहन, मनोरंजन की वस्तुओं तथा अलंकरण की वस्तुओं के अन्तर्गत एकमात्र चरणपादुका का उल्लेख प्राप्त होता है । रजतमय धनराशि में रूपिय की अपेक्षा धनाढ्य वर्ग के सम्पत्तिमूलक धनराशि में रजत का व्यवहार तथा मुद्रासूचक अर्थों में इस काल तक आते-आते कहापण का प्रचलन ज्ञात होता है । रूपिय का प्रचलन ज्ञात नहीं होता है । सम्भवतः विकसित हो रहे नगरीय सभ्यता में आर्थिक आवश्यकता (सामान्य उपयोग) के अनुरूप कहापण को ज्यादा उपयोग में लाया जाने लगा था तथा रजत का अधिकांश भाग कहापण प्रकार की मुद्रा निर्माण में बढ़ गया था । कहापण इस काल में रजत के अतिरिक्त मूल धातु ताम्र की मुद्रा के रूप में भी सामान्य व्यवहार में सम्भवतः व्यवहृत किया जाने लगा था । अतः रजत कहापण के स्थानपर प्रायः कहापण के तथा कहापण एवं रजत का धनराशि के रूप में एक साथ उल्लेख प्राप्त होता है । स्थापत्य आदि के रूप में रजतमय प्रकारों के उल्लेख राजभवन के साथ-साथ देव-विमानों के लिए भी किये जाने का संदर्भ प्राप्त होता है ।

(क) दैनिक जीवन में प्रयुक्त रजतमय सामग्री :

इसके अन्तर्गत पात्रों, शयनासन, रजतमय वाहन (रथ) एवं मनोरंजन की वस्तु का क्रमशः विवरण दिया गया है । इन वस्तुओं का भोग धनी वर्ग द्वारा ही किया जाता था । अलंकरण की वस्तु के रूप में रजतमय चरणपादुका को धनी बौद्ध श्रावकों द्वारा उपयोग में लाए जाने का विवरण प्राप्त होता है ।

पात्र :

जातक एवं अपदान पालि से रजतमय पात्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग राजघराने में तथा पुण्यकर्मी बौद्ध श्रावकों द्वारा किया जाता था । उनके लिए 'रूपियं' शब्द प्राप्त होता है ।

1. रूपियं :

'उदयजातक' से कंस से परिपूर्ण रूपिय पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार काशी नरेश अपनी पुत्रवधू को रूपिय पात्र जिसमें कंस धनराशि भरी हुई थी, का लोभ देते हैं क्योंकि वह अपने बोधिसत्व पति के साथ राजप्रासाद छोड़कर जाने को तैयार हो जाती है । यथा–

'ददामि ते रूपियं कंसं परिपूण्णं ।' अर्थात्
'मै तुम्हें कंस से परिपूर्ण रजत की थाली दूंगा ।'।[1]

---

1. जातक, संख्या-458, पृ. 224, हि. अनु. पृ. 809.

अनुवादक भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने 'रूपिय' से तात्पर्य चांदी की थाली से ग्रहण किया है ।[1] उपरोक्त संदर्भ में भी रूपिय किसी पात्रविशेष के होने का संकेत देता है जो थालीनुमा या तश्तरीनुमा अथवा कटोरेनुमा भी हो सकता है ।

2. रूपियमयं :

'अपदानपालि' से बौद्ध थेर को लाभ स्वरूप चांदी की थाली प्राप्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है । ये पात्र उन्हें पूर्वजन्म में मिट्टी के पात्र को दान दिये जाने के फलस्वरूप प्राप्त होता है । यथा–

'भवे निव्बत्तमानोह, सोण्णथालके लभामहं ।
रूपियमये च सोवण्णे, तदुट्ठिके लभामहं ।' अर्थात्

'जब मैं संसार में उत्पन्न हुआ तो सुवर्ण थाल का लाभ प्राप्त किया । चाँदी की थालियों में सुवर्ण भरा था तथा उसका तट मणियों से युक्त (सुशोभित) था ।'[2]

प्रथम शताब्दी ई. के रोमन इतिहासकार स्ट्रैबो ने समकालीन नरेश के वैभवपूर्ण जीवन संस्कृति का उल्लेख करते हुए राजघराने में बहुमूल्य रत्नों एवं मणियों से जड़ित रजत के प्याले प्रकार के पात्र का उल्लेख किया है । इस प्रकार के पात्रों को केश प्रक्षालन उत्सव पर विशेष तौर पर उपयोग में लाया जाता था ।[3]

(ख) आसन :

प्रथम काल की भाँति द्वितीय काल से भी एकमात्र रजतमय पाए वाले शयनासन का उल्लेख प्राप्त होता है । विमानवत्थु एवं अपदान पालि के अनुसार इस प्रकार के बहुमूल्य आसन (पलंग) का उपयोग पुण्यकर्मी बौद्ध भिक्षु द्वारा किया गया था । यथा–

'सोवण्णमयं रूपियमयं, पल्लङ सुकतं बहुं ।
लोहितांग भयन्चेव, लच्छति रतनामयं ।'[4] अर्थात्

(ग) रजत मय वाहन :

जातकों एवं विमानवस्थु से रजत की किनारे वाले एवं रजतमय चित्रों से अलंकृत रथ का उल्लेख प्राप्त होता है । इनका उपयोग दैव वाहन एवं राजकीय वाहन के रूप में किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके अन्तर्गत 'रूपियपक्खरं' एवं 'रूपियमयं पावद' के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

---

1. वही, हि. अनु., पृ. 809.
2. अपदानपालि, खु. नि., खंड-6, भाग-2, पृ. 84.
3. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 279.
4. अपदान, भाग-1, पृ. 5, 442; विमानवत्थु, पृ. 114.

1. रूपियपक्खरं :

'महानारदकाश्यप जातक' से विदेह नरेश हेतु रजत की किनारी वाले रथ को जोते जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार राजा कुमुदिनी उत्सव के अवसर पर मगध जाने की तैयारी में रथ को तैयार करने का आदेश देते हैं । यथा–

'तस्सयानं अजोयेतुं, दन्त रूपियपक्खरं ।' अर्थात्

'उनके लिये रथ जोता गया जो दन्त निर्मित तथा चांदी की किनारी वाला शुद्ध, चिकना श्वेत था ।'[1]

2. रूपियमयं पावद :

'मट्ठकुण्डली जातक' श्रावस्ती के गृहस्थ ब्राह्मण गृहपति के पुत्र शोक से विह्वल होने पर उनके शोक को शांत करने के लिए बड़े भाई द्वारा सूर्य एवं चन्द्र के वर्ण वाले रथ की मांग की जाती है जिसे ब्राह्मण गृहपति अप्राप्य वस्तु कहकर सुवर्णमय, रजतमय चक्र वाले रथ को बनवाने के लिए कहते हैं । यथा

'सोवण्णमयं मणीमयं, लोहमयं अथ रूपियमयं पावद,
रथ करिस्सामि, चक्कयुग पटिपादयापि ते ।' अर्थात्

'सुवर्णमय, मणिमय, लोहमय एवं रजतमय रथ का पहिया बनवा दूँगा ।'[2]

इस प्रकार उपरोक्त संदर्भ में अप्राप्य वस्तु की कामना रखने वाला उस गृहपति, जो अपने पुत्र-वियोग से विह्वल होकर उसकी याद में घाट पर भटकता रहता है, को बड़े भाई द्वार समझा बुझा कर शान्त किया जाता है ।' 'विमानवत्थु' से देवविमान के रजत से खचित होने का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।[3]

(घ) मनोरंजन की वस्तु :

'घटपण्डितजातक' से उपरोक्त संदर्भ की भांति ही विभिन्न धातु से निर्मित शश अथवा चन्द्रमा बनवाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'सोवण्णमयं मणीमयं, लोहमयं अथ रूपियमयं ।
संखसिला पवालमयं, कारयिस्सामि तस्सं । अर्थात्

---

1. जातक, संख्या - 545, पृ. 269-70.; हि. अनु., पृ. 261.
2. जातक, संख्या - 449, खु. नि., खंड-3, भाग-1, पृ. 209., हि. अनु. चतुर्थ खंड, पृ. 261.
3. लेखा सुवण्णस्स च रूपियस्स च । सोभेन्ति वेलुरियमय सुनिम्मिता । अर्थात् उस रथ पर सुवर्ण और चांदी के रेखा खचित थे । वेलुरियमय से अलंकृत वह विमान सुशोभित हो रहा था । विमानवत्थु, खु. नि., खं.-3, पृ. 93.

'मैं तुम्हें सुवर्ण मणिमय लोहमय एवं रजतमय, शंखमय व शिलामय जैसा कहो वैसा शश बनवा दूंगा ।'[1]

(च) रजतमय चरणपादुका :

'अपदानपालि' से गृहस्थ बौद्ध श्रावकों द्वारा बहुमुल्य धातु से निर्मित अलंकरण की वस्तु के उपयोग पर प्रकाश पड़ता है । इसके अन्तर्गत रजतमय चरणपादुका को उपयोग में लाए जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'सोवण्णमया रूपियमया, फलिकमया वेलुरियमया ।
पादुका अभिरूहामि, पादपीढस्सरामि फलम ।' अर्थात्

'पूर्व जन्म में पादपीठ के दान फल के स्वरूप में सुवर्णमय, रजतमय, स्फटिकमय एवं बिल्लौरमय चरणापादुका का उपभोग कर रहा हूँ ।'[2]

जातकों से सभी धातुओं से बने पादुकाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । संख जातक से किसी नरेश द्वारा तथागत को बहुमूल्य जूतों के जोड़ों को दान में दिए जाने का संदर्भ प्राप्त होता है जिसका मूल्य हजार कर्षापण था । इसी प्रकार दो अग्रश्रावकों को दिये गये जूते का मूल्य पांच-पांच सौ कार्षापण एवं पांच सौ भिक्षुओं को सौ-सौ कार्षापण के जूतों के जोड़े दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] सांची के अर्द्धचित्रों में खड़ाऊं प्रकार के चरणपादुका का अंकन प्राप्त होता है ।[4] बौद्ध श्रावकों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले रजतमय खड़ाऊं प्रकार के चरणपादुका को भी संभवतः रजत के मनकों से जड़ित कर उन्हें अलंकृत एवं बहुमूल्य बनाया जाता रहा होगा ।

2. रजतमय धनराशि :

द्वितीय काल तक आते-आते जहाँ धनाढ्य वर्ग में सम्पत्तिमूलक धन सम्पदा में रजत का व्यवहार बहुलता से किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है वहीं मुद्रासूचक अर्थों में रूपिय की अपेक्षा कहापण का प्रचलन बढ़ गया था । इस काल से एक निश्चित परिमाण वाले कहापण मुद्रा का क्रय-विक्रय के रूप में ज्यादा प्रचलन दिखाई पड़ता है । सम्भवतः समाज के आर्थिक आवश्यकता को देखते हुए शुद्ध रजत की मुद्रा जो सामान्य प्रचलन में अलाभकर थी, की अपेक्षा मिश्रित धातु अर्थात् रजत एवं ताम्र से बनी कहापण मुद्रा का उपयोग बढ़ गया था ।

---

1. जातक, सं. 454, पृ. 216; हि. अनु., भाग-4, पृ. 286.
2. अपदान, भाग.1 पृ. 64, 391.
3. जातक, भाग-4, पृ. 214.
4. मार्शल, दि मौन्यमेण्टस आव सांची, जिल्द 2, प्लेट -36 सी, 48.

(क) सम्पत्तिमूलक रजत धनराशि :

प्रथम काल की ही भाँति द्वितीय काल से भी तत्कालीन नरेशों, गृहपतियों एवं महाभोगवान क्षत्रियों के अथाह सुवर्ण, रजत धनराशि से युक्त कोषागार के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :–

1. जातकों एवं मिलिन्दप्रश्न से तत्कालीन नरेशों के रजत आदि से परिपूर्ण कोषागार का उल्लेख इस प्रकार है । यथाः

   'रजतं जातरूपञ्च, मुत्ता वेलुरिया बहू ।' अर्थात्

   'रजतकोष में बहुत सा सोना-चाँदी एवं मुक्तामाणिक्य आदि थे ।'[1]

2. धनी गृहपतियों एवं क्षत्रियों के कोषागार संबंधी विवरण इस प्रकार है :

   'महाद्धनो महाभोगो पहूत जातरूप रजतो ...ज्ञातिपक्खो ।' अर्थात्

   'महाधनी, महाभोग वाले बहुत से जातरूप रजत वाले होते हैं ।'[2]

   धञ्ञं धनं रजतं जातरूपं ।' अर्थात्

   'धन-धान्य रजत एवं जातरूप वाले ।'[3]

(ख) मुद्रासूचक रजत धनराशि :

मुद्रासूचक रजत धनराशि के अन्तर्गत जातकों एवं मिलिन्द्रप्रश्न से कहापण के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिन्हें सहस्रों की संख्या में क्रय-विक्रय के रूप में उपयोग में लाया जता था । कहापण की अपेक्षा रूपिय का प्रचलन इस काल में नहीं ज्ञात होता है इसका कारण सम्भवतः समाज की आर्थिक आवश्यकता के अनुरूप सामान्य व्यवहार में कहापण का बढ़ता हुआ प्रचलन रहा होगा । इसके अन्तर्गत 'कहापणं', 'कहापणवस्सेन' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों से प्राप्त कहापण संबंधी विवरणों के अध्ययन से यह एक निश्चित आकार की मुद्रा ज्ञात होती है । इस बात का स्पष्ट साक्ष्य मिलिन्दप्रश्नपालि से ज्ञात होता है ।

1. कहापणं :

'महासुपिन जातक' से कहापण मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है ।

यथा– 'कहापणद्धा पादा माशा रूपादीनि ।' अर्थात्

'कहापण, अद्ध, पाद, माशा व रूप राशि ।'[4]

---

1. जातक, संख्या - 539, पृष्ठ - 177; जातक, संख्या - 451, पृ. 195; मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ 99.
2. मिलिन्दप्रश्न, पृ.99, 234; जातक, सं.541, पृ. 195.
3. जातक, सं. 512, पृ. 362, हि. अनु. पृ. 512.
4. जातक, सं. 488, खु. नि., भाग-1, पृ. 279: हि. अनु., भाग-4, पृ. 104.

अर्थशास्त्र में कहापण, अर्द्ध एवं पादपण (चतुर्थांश) का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] मिलिन्दप्रश्न से दण्ड के रूप में मनुष्य के मांस को कार्षापण-कार्षापण भर टुकड़े में काटे जाने की निन्दा की गई है ।[2]

2. 'मिलिन्दप्रश्न' में वैभवशाली सागल नगरी के वर्णन के संदर्भ में कहापण का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कहापण रजतसुवण्ण कंसथप्पत्थर परिपूरं' अर्थात्

'वह नगरी कहापण, रजत, सुवर्ण एवं कंसरों से परिपूर्ण थी ।[3]

उपरोक्त संदर्भ में कहापण को रजत से भिन्न धनराशि कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल तक आते-आते मिश्रित धातु अर्थात् रजत व ताम्र से निर्मित कहापण की मुद्रा का अन्य धातु अर्थात् ताम्र कहापण, सुवर्ण कहापण के रूप में सम्भवतः प्रचलन बढ़ गया था । 'मिलिन्द प्रश्न में एक कार्षापण को जुर्माना राशि के रूप में भी व्यवहृत किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4] जातकों से सहस्रों की संख्या में कार्षापणों के क्रय-विक्रय के रूप में उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] सहस्रों की संख्या में कहापणों का उपयोग सीमित उल्लेख होने पर भी तत्कालीन समाज में इसके अत्यधिक प्रचलित मुद्राराशि के रूप में व्यवहृत होने का संकेत देता है ।

3. कहापणवस्सेन :

'मिलिन्दप्रश्न' से संख्यावचक अर्थों में कहापण का उल्लेख बौद्ध धन की व्याख्या में प्राप्त होता है यथा–

'न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति' अर्थात्

'कहापणों की वर्षा से भी कामनाओं की तृप्ति नहीं होती ।'[6]

अनुवादक ने कहापण को सुवर्ण मुद्रा के अर्थ में ग्रहण किया है ।[7] अर्थशास्त्र में चार सुवर्ण के बराबर एक कार्षापण का उल्लेख प्राप्त होता है ।[8] चूंकि इस काल

---

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि., पृ. 218.
2. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ 241. (हि. अनु.).
3. मिलिन्दपन्ह, पृष्ठ 2., 207, 438.
4. वही, हि. अनु., पृ. 235.
5. वावेरू जातक, हि. अनु., पृ. 47; संख जातक, हि. अनु., भाग-4, पृ. 214.
6. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 258, हि. अनु., 407 (पृ.),.
7. कौसल्यायन आनन्द : धम्मपद, पृ. 116.
8. अर्थशास्त्र, द्वि. अधि., पृ. 218 : 'पुरातात्विक साक्ष्यों से प्राप्त रजत कार्षापणों (आहत मुद्राएं) को एलेन ने चतुर्थ-तृतीय शता. ई. पू. का माना है ।

तक आते-आते कहापण विभिन्न धातुओं में मुद्रा राशि के रूप में बनने लगी थी ।[1] सम्भवतः कहापण से तात्पर्य उपरोक्त संदर्भ में शुद्ध रजत से भिन्न अथवा रजत के ही मिश्रण से बनी या स्वर्ण अथवा ताम्र की बनी मुद्रा से हो सकता है । इस प्रकार द्वितीय काल में कहापण का प्रचलन बढ़ता हुआ परिलक्षित होता है ।

3. स्थापत्य आदि में रजत का उपयोग :

द्वितीय काल तक आते-आते स्थापत्य के निर्माण में रजत धातु का उपयोग प्रथम काल की अपेक्षा बढ़ गया था । इस काल में राजभवनों एवं दैवविमानों के निर्माण में रजतमय प्रकारों का उपयोग तथा विकसित हो रहे बौद्ध पूजा के अन्तर्गत रजतमय स्तूप के बनवाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

1. रूपिय प्रकार से बने राजभवन :

जातकों से तत्कालीन नरेशों के वैभवपूर्ण रहन-सहन के अन्तर्गत सुवर्णमय, रजतमय, प्रकारों वाले राजभवनों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । समृद्धशाली राज्य के अन्तर्गत चम्पानगरी, काशी नगरी एवं महिंसक राष्ट्र के कर्णपेण्णा नदी के तट पर स्थित नागराज संखपाल के वैभवशाली राजप्रासाद का उल्लेख प्राप्त होता है ।

'चम्पेय जातक' से चम्पा नरेश के पास अधाह सुवर्ण-रजत राशि के होने तथा उसे काशी नरेश को रजतमय प्रकारों वाले सुवर्णभवन को बनवाए जाने के लिए उपहार स्वरूप दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'इदं च मे जातरूपं पहूतं
इतो करित्वान् सुवण्ण घरानि, करस्सु रूपियपाकारं करोन्तु ।'

अर्थात् 'यहां बहुत सा सोना-चाँदी है । इसे लेकर सोने के घर एवं चाँदी के प्राकार बनवा लो ।'[2]

एक अन्य जातक से महिंसक राष्ट्र के कर्णपेण्णा नदी के तट पर स्थित संखपाल नागराज का रजतमय दरवाजे से निर्मित राजभवन का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'तेसं वनानं नरदेव मज्झे, निवेसन पभस्सरसन्निक्कासं
रजतग्गह सोवण्णमयं उलारं, ओभासती बिज्जुरिव अन्तलिक्खे ।।'[3]

एलेन के अनुसार इसकी तिथि चार सौ व. पू. से आगे तक जा सकती है । –एलेन, जे. कैटलाग आव क्वाइन्स इन एन्शियंट इंडिया, 1930.

1. जातकअट्ठकथा में कोलिय व कपिलवस्तु गणराज्य में काले कार्षापणों के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । जातकअट्ठकथा, सं. 537, पृ. 501.
2. जातक संख्या 508, पृ. 341, हि. अनु., पृ. 64.
3. जातक, संख्या 524, पृ. 21.

अर्थात् 'हे नरदेव उन वनों के मध्य प्रभास्वर भवन के दरवाजे चांदी के थे । वह स्वर्णमय था, विशाल था और ऐसे चमकता था जैसे अन्तरिक्ष में बिजली ।' 1

उपरोक्त संदर्भ में संभवतः रजत चूर्ण युक्त गारे अथवा रजत मय पालिश से प्राकार आदि को बनाया जाता रहा होगा । । इस प्रकार का निर्माण महँगा होता था । अतः ये राजघरानों तक ही उपयोग में सीमित रहा होगा ।

1. रूपियमय स्तूपः

'अपदानपालि' से बौद्ध श्रावकों द्वारा बौद्ध पूजा के निमित्त बहुमूल्य धाउुओं यथा सुवर्ण एवं रजत तथा रत्नों से स्तूप के निर्माण का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'पठमा कञ्चनमया, दुतियसि मणीमया ।
ततिया रूपियमया, चतुतसी फलिकमया ।'[2] अर्थात्

'पहला स्तूप सुवर्णमय, दूसरा मणिमय, तीसरा रजतमय एवं चौथा स्फटिक मय बनावाया ।'

उपरोक्त संदर्भ में रजतमय स्तूप के निर्माण से तात्पर्य संभवतः उसके शिखर भाग पर रजत पत्रों को स्थापित कर उन्हें अलंकृत किये जाने से रहा होगा ।

इस प्रकार द्वितीय काल से रजतमय वस्तुओं के विवरणों से कुछ नवीन प्रकार की वस्तुओं पर प्रकाश पड़ता है विशेषकर दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले पात्र एवं राजकीय वाहन (रथ) के साथ-साथ रजतमय मनोरंजन की वस्तु को भी मन बहलाने के लिए उपयोग में लाया जाने लगा था । इस काल में राजाओं एवं धनाढ्य गृहपतियों के दैनिक जीवन में रजतमय वस्तुओं का उपयोग बढ़ गया था इसके साथ ही लोक धर्म के रूप में विकसित हो रही बौद्ध पूजा को मानने वाले बौद्ध श्रावकों में भी ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने का उल्लेख मिलता है, जो अपने वैभवपूर्ण जीवनयापन में रजतमय वस्तुओं का सामान्य रूप से उपयोग करने लगे थे । धनराशि के अन्तर्गत एकमात्र कहापण मुद्राराशि का उल्लेख ज्ञात होता है । जो सम्भवतः शुद्ध रजत की मुद्रा न होकर के रजत व ताम्र के मिश्रण से बनी तथा आदि के प्रचलित मुद्रा के रूप में व्यवहृत की जाने लगी थी । इस काल में भी सामान्य वर्ग में रजतमयी वस्तुओं का प्रचलन ज्ञात नहीं होता जो धातु के बहुमूल्यता का सूचक है ।

विवेच्य काल से ज्ञात रजतमय वस्तुओं का परिवर्तनात्मक रूप से एवं व्यवहार में व्यवहृत सामग्री की अगले पृष्ठ में तालिका दी गयी है ।

---

1. जातक, हि. अनु., भाग-5, पृ. 250.
2. अपदान, भाग-2, खु. नि., खंड-6, पृ. 82.

कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में रजतमयी वस्तुओं का तुलनात्मक विवेचन :

पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल में रजतमय वस्तुओं का सीमित किन्तु नवीन रूप में उपयोग बढ़ गया था । द्वितीय काल से कुछ नवीन प्रकार के वस्तुओं पर प्रकाश पड़ता है यथा - वाहन (रथ), मनोरंजन की वस्तु एवं राजभवनों एवं देवविमानों में रजतमय प्रकारों का उपयोग किया जाने लगा था । लोकधर्म के रूप में विकसित हो रही बौद्ध पूजा के निमित्त बने स्तूपों के शिखर भाग में रजतपत्रों का उपयोग किया जाने लगा था । दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं में द्वितीय काल से नवीन प्रकार के पात्र को व्यवहार में लाये जाने की संभावना पर प्रकाश पड़ता है । प्रथम काल में जहाँ रूपियपाति अर्थात् रजत की थाली के उपयोग में लाने का वर्णन प्राप्त होता है । जबकि द्वितीय काल से इस प्रकार के पात्र के लिए मात्र 'रूपिय' शब्द व्यवहृत हुआ है जो संभवतः पाति से भिन्न प्रकार का पात्र रहा होगा । मुद्राराशि के रूप में कहापण का उपयोग बढ़ गया था । इस प्रकार द्वितीय काल तक आते-आते नवीन रूप में रजतमय वस्तुओं का उपयोग उसके सीमित किंतु परिवर्द्धन का द्योतक है ।

रजत धातु की प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोत :

सुवर्ण की भाँति पालि ग्रन्थों में वर्णित रजत धातु विषयक विवरणों के विश्लेषण से इस सम्भावना पर प्रकाश पड़ता है कि बौद्ध काल में रजत धातु को नदियों के तटवर्ती भाग से, समुद्री तटों से एवं खान आदि के माध्यम से प्राप्त किया जाता रहा होगा । इस संबंध में पालि निकायों से 'रजतचूर्ण', 'समुद्रीरत्न रजत', 'दधिमालक समुद्र', 'सेतानि हिमवतो पब्बतस्स' एवं 'चन्द्ररजत पर्वत' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन शब्दों के सूक्ष्म विश्लेषण से रजत धातु की प्राकृतिक स्रोतों से पाए जाने की संभावना पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है ।

(क). नदियों के तटवर्ती भाग से प्राप्त रजत धातु :

पालि निकाय से रजत चूर्ण को धनराशि के रूप में व्यवहृत किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'सुवण्णपातिया पि रूपिय चुण्णं परिपूराय' अर्थात्
'रजतचूर्ण से परिपूर्ण सुवर्ण की थाली के लिए' ।[1]

उपरोक्त संदर्भ में प्रभूत मात्रा में रजत चूर्ण को व्यवहार में लाने का उल्लेख प्राप्त होता है । सम्भवतः नदियों के रेतीले भाग से बालुका के साथ रजत को चूर्ण

---

1. संयुक्तनिकाय, खंड-2, पृ. 194, हि. अनु., पृ. 291.

के रूप में (धूलि) प्राप्त किया जाता रहा होगा । 7वीं शता. ई. के चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार सुवर्ण एवं रजत का प्राकृतिक रूप से भारत में उत्पादन होता था । विशेषकर सुवर्ण-रजत के साथ 'शतद्रु' (सतलज) नदी के तट से प्राप्त किया जाता था ।[1]

(ख) समुद्रों से रजत धातु की प्राप्ति की संभावना :

पालि निकायों से भारत के सामुद्रिक तटों एवं भारत से बाहर पश्चिमी देशों से सामुद्रिक व्यापार के संदर्भ में समुद्र की मध्य धारा से रजत धातु को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके लिए पालि ग्रंथों से 'समुद्ररत्न रजत' एवं 'दधिमालक समुद्र' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1–समुद्ररत्न रजत :

'विनयपिटक', 'अंगुत्तरनिकाय' एवं 'उदानपालि' से महासमुद्र में अनेक बहुमूल्य रत्नों व धातुओं की विद्यमानता के संदर्भ में रजत धातु का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'महासमुद्दो अनेक रतनो तत्रिमानि. . . . .
संखो-सिला-पवालं रजतं जातरूपं' अर्थात्

'महासमुद्र में अनेक रत्न रमण करते हैं । इनमें शंख, शिला, मूंगा, रजत एवं जातरूप भी हैं ।'[2]

नदियां अपने साथ धातुकणों (सुवर्ण, रजत इत्यादि) एवं बहुमूल्य खनिज पदार्थों को साथ लिए हुए प्रवाहित होती हैं । इनका अन्तिम विलय समुद्र में होता है जिसके कारण इनके द्वारा लाए गए बहुमूल्य खनिज पदार्थ भी समुद्र के गर्त में समा जाते हैं । महासमुद्र की उत्ताल तरंगों अथवा धाराओं द्वारा भारी व हल्के खनिज पदार्थ समुद्री तटों तक पहुंचाए जाते हैं । धाराओं का वेग समाप्त होने तक तटवर्ती भाग से इन खनिज पदार्थों को प्राप्त कर लिया जाता है । इस प्रक्रिया को 'पुलिन प्लेसर निक्षेप' कहते हैं । आधुनिक काल में दक्षिण भारत के तटवर्ती भागों से (समुद्र) खनिज पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं ।[3]

2–दधिमालक समुद्र :

'शूर्पारक जातक' से भारत का पश्चिमी देशों से सामुद्रिक व्यापार-वाणिज्य के संदर्भ में 'दधिमालक समुद्र का वर्णन प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार

---

1. बील, एस. बुद्धिस्टिक रिकार्ड्स आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड, खंड-1, पृ. 178.
2. चुल्लवग्ग,. हि. अनु., पृ. 510; अंगुत्तरनिकाय, पृ. 306, हि. अनु., भा-4, 251; उदान., खु. नि., भाग-1, हि. अनु., पृ. 28.
3. व्यास,कृष्ण गोपालः आर्थिक भू-विज्ञान, पृ. 65.

भृगुकच्छ का वणिक दल धन कमाने की इच्छा से पश्चिमी तट से नौका पर सवार होकर निकलते हैं जहां क्रम में वह दधिमालक समुद्र में पहुंचते हैं । इस समुद्र का वर्ण दही की भांति अत्यधिक श्वेत एवं चमकदार था । यथा–

'कुरूकच्छ पयातानं वणिजानं धनेसिनं, नावाय विप्पनट्ठाय दधिमालक ति उच्चति ।
यथा दधी व खीरं व समुद्दो पटिदिस्सति ।' अर्थात,

'भृगुकच्छ का वणिक दल धन कमाने की इच्छा से नाव पर बैठकर पश्चिमी तट से आगे बढ़े जहां उनका सामना क्रमशः दधिमालक समुद्र से होता है । इस समुद्र का वर्ण दही एवं खीर की भांति अत्यधिक श्वेत दिखलाई पड़ता था ।'[1]

'शूर्पारक' जातक की अट्ठकथा के अनुसार इस समुद्र से रजत को प्राप्त किये जाने के कारण इसका वर्ण दही की भांति श्वेत था । अपने सामुद्रिक अभियान के क्रम में वणिक दल का सामना सर्वप्रथम 'खुरमाली समुद्र' (हीरों की प्राप्ति का समुद्र) से होता है । तत्पश्चात् 'अग्निमाल समुद्र' (सुवर्ण की प्राप्ति वाला समुद्र), 'दधिमालक समुद्र', 'नीलकृशमाल समुद्र' (नीलमणि की प्राप्ति वाला समुद्र), 'बालमाल समुद्र' (बांस के रंग के बिल्लौर को प्राप्त किये जाने वाला समुद्र) एवं 'बलमामुख समुद्र' का उल्लेख प्राप्त होता है । इस समुद्र में चारों ओर से पानी उछल-उछल कर आता था जैसे चारों ओर से तट टूटा हो । इसके संपर्क में आने वाली नौका डूब जाती थी । यहां से कोई बचकर वापस नहीं जाता था ।[2] 'बावेरू-जातक' से भारतीय व्यापारियों के जलयान द्वारा फारस की खाड़ी तक जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] डा. काशी प्रसाद जायसवाल ने अग्निमाल समुद्र की स्थिति अदन के समीप अरब के किनारे का समुद्र या सोमालि तट का कुछ भाग बताया है । डा. जायसवाल ने उपरोक्त उल्लिखित समुद्रों की भौगोलिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए खुरमालि समुद्र को बेबीलोन के आसपास का माना है क्योंकि बेबीलोन के एक प्राचीन देवता का नाम खुर था । बलमामुख को भूमध्य सागर से जहां आज भी ज्वालामुखी की लपटें उठती हैं, कृशमाल समुद्र को अफ्रीका के उत्तरी-पूर्वी किनारे के नुबिया नामक स्थल से तथा नीलकृशमाल समुद्र को प्राचीन काल की स्वेज नहर से जो लाल सागर से नील नदी को मिलती है, से पहचानने का प्रयास किया है ।[4]

---

1. जातक, संख्या 463, पृ. 231; हि. अनु., पृ. 339.
2. जातक, अट्ठकथा, हि. अनु. पृ. 339.
3. उपाध्याय भरतसिंह; बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 544.
4. जर्नल आव बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द छठीं, पृ. 195.

इन्होंने दधिमालक समुद्र की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया है । डा. राधाकुमुद मुकर्जी ने प्राचीन भारत का समुद्री मार्ग के द्वारा बेबीलोन, मिश्र, अरब, यूनान एवं भूमध्य सागर के कतिपय देशों से व्यापारिक संबंधों पर प्रकाश डाला है । [1]ऐसा प्रतीत होता है कि भृगुकच्छ का वणिक दल पश्चिमी तट से अरब सागर से उत्तर की ओर अर्थात् फारस की खाड़ी से होता हुआ बेबीलोन[2] (जातक अट्ठकथा के अनुसार खुर समुद्र में नासिका के आकार वाली मछलियां पाई जाती थीं ।)[3] होते हुए भूमध्यसागर तक गया था । बेबीलोन से भूमध्य सागर के बीच कहीं क्रमशः अग्नि-माल एवं दधिमालक समुद्र की स्थिति रही होगी ।

(ग) पर्वतीय भागों के आसपास रजत धातु को प्राप्त किये जाने की संभावना :

पालि ग्रन्थों से सुवर्ण की भांति रजत धातु को भी पर्वतीय प्रदेशों के आसपास पाए जाने की संभावना पर प्रकाश पड़ता है । इस संबंध में जातक से 'सेतानि हिमवतो पब्बतस्स' शब्द प्राप्त होता है । 'कुणाल जातक' से हिमालय पर्वत के आसपास बहुमूल्य धातु तथा खनिज पदार्थों की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'हेम अन्जन मनोसिला-हरिताल-हिंगुलक हेम-रजत कनकानेक धातुसत विनद्ध पट्टिमण्डितप्पदेसे स्वरूपेतं ।'[4]

1– सेतानि हिमवतो पब्बतस्स :

'चन्द किन्नर जातक' से हिमवन्त प्रदेश में हिमालय की विभिन्न शृंखलाओं के अन्तर्गत ताम्र वर्ण हिमवान शृंखला एवं श्वेत वर्ण हिमाच्छादित पर्वत शृंखला का वर्णन प्राप्त होता है यथा–

'तम्बानिहिमवतो पब्बतस्स, सेतानि हिमवतो पब्बतस्स' अर्थात् 'ताम्रमय हिमाच्छादित पर्वत शृंखला एवं श्वेत वर्ण हिमाच्छादित पर्वत शृंखला ।'[5]

'चन्द किन्नर जातक' की 'अट्ठकथा' में श्वेतपर्वत को चन्द-रजत पर्वत भी कहा गया है । [6]संयुक्तनिकाय की अट्ठकथा में श्वेत पर्वत को सर्वश्रेष्ठ एवं कैलाश पर्वत कहा गया है ।[7] स्नीड एवं मैकडोनाल्ड के अनुसार संस्कृत में अत्यधिक

---

1. मुकर्जी, राधाकुमुद : हिस्ट्री आव इण्डियन शिपिंग, पृष्ठ- 82.
2. प्राचीन काल में बेबीलोनिया में काफी मछलियां पाई जाती थीं । – –गोयल श्रीराम, विश्व की प्राचीन सभ्यताएं पृष्ठ - 27.
3. जातक अट्ठकथा, संख्या - 463, हि. अनु., पृ. 339.
4. जातक, संख्या - 536, पृ. 5.
5. जातक, सं. 485, पृ. 273; हि. अनु., भाग-4, पृ. 490.
6. वही, हि. अनु., भाग-4, पृ. 490.
7. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 65.

चमकदार श्वेतकान्ति के कारण रजत को 'चन्द्रमा' से समीकृत किया गया है । प्राचीन काल में इसका एक नाम 'लूना' भी कहा गया है तथा सिल्वर नाइट्रेट को 'लूनर कास्टिक' की संज्ञा दी गयी है ।[1] अर्थशास्त्र में विभिन्न प्रकार के पर्वतीय श्रेणियों से रजत धातु को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है जो उस पर्वतीय श्रृंखला से प्राप्त होने के कारण इसी नाम से अभिहित किये गये हैं । यथा - तुत्थ नामक पर्वत से उत्पन्न चमेली के पुष्प के समान 'तुत्थोद्गत' नामक चांदी, 'गौडिक' अर्थात् असम देश में उत्पन्न तगर पुष्प की आकृति सदृश रजत, 'कांबुक रजत' अर्थात् कम्बु [2]पर्वत से प्राप्त रजत एवं चाक्रवालिक' अर्थात् चक्रवाल खान से उत्पन्न कुन्द पुष्प के समान का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] पालि ग्रन्थों में (जातक) में उपरोक्त वर्णित सेतानि पर्वत की भौगोलिक स्थिति कैलाश पर्वत की उत्तरपूर्वी श्रृंखला रही होगी जहां आधुनिक कालमें किन्नर प्रजाति निवासकरती है । सेतानि पर्वत या चन्द-रजत पर्वत सम्भवतः रजत धातु से युक्त एवं हिमाच्छादित होने के कारण उपरोक्त नामों से अभिहित किया गया है । यह ध्यान देने योग्य है कि ताम्र वर्ण पर्वत एवं श्वेत या चन्द-रजत पर्वत अपने प्राकृतिक स्वरूप में हिमाच्छादित होने एवं सूर्य रश्मियों के संपर्क में होने के कारण श्वेत वर्ण एवं रक्तवर्ण (ताम्रवर्ण) से प्रतीत होते थे । किन्तु उपरोक्त संदर्भ में हिमवन्त श्रृंखलाओं की भिन्न-भिन्न चोटियों के संदर्भ में इन पर्वतों का उल्लेख प्राप्त होता है । जबकि दोनों ही प्राकृतिक स्वरूप में ताम्रवर्ण एवं श्वेतवर्ण के होने के बाद भी इनके आगे 'हिमवतो' शब्द अर्थात् हिमाच्छादित कहा गया है । वर्णविशेष के आधार पर इन पर्वतीय श्रृंखलाओं की वैभिन्यता का कारण संभवतः इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की खनिज सम्पदा या वानस्पतिक सम्पदाओं को प्राप्त किये जाने से रहा होगा । चन्द-रजत पर्वत की संज्ञा भी संभवतः रजत धातु एवं खनिज पदार्थों के कारण दी गई होगी । ऐसे पर्वतीय प्रदेशों में कठिन भौगोलिक जलवायु के कारण उन बहुमूल्य खनिज सम्पदाओं का सामान्य तौरपर उपयोग (दोहन) संभव नहीं रहा होगा । अतः ये विशिष्ट अर्थों में ही प्रयुक्त हो कर रह गए ।

पर्वतीय भू-भागों के आसपास रजत धातु की विद्यानता के अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से भू-खनिज तत्व के रूप में रजत धातु का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'अयो-लोहं-तिपु-सीसं-सज्झं-रजतं जातरूपं लोहितांगो मसारगल्लं
तिणं कट्ठं सक्खर भूमि पाषाण पब्बतो ।'[4]

---

1. भानु प्रकाशः मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 14.
2. पालि ग्रन्थों में 'कम्बु' को प्रायः सुवर्ण के अर्थ में तथा इससे निर्मित आभूषण को स्वर्णालंकार कहा गया है । इसके विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय-2-'सुवर्णधातु' का अलंकार वाला भाग देखें ।
3. गैरोला वाचस्पति : अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 175.
4. विभंग, अभिधम्म पिटक, पृ. 102.

'दीघनिकाय' एवं 'जरूदपान जातक' से वाराणसी के समीप खुदाई से बहुत सी धातुओं के क्रम में रजत को प्राप्त किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है ।[1] प्राचीन काल में उत्तर प्रदेश के गढ़वाल एवं बिहार के हजारी बाग, सिंहभूम एवं पलामू से रजत धातु सीमित रूप से प्राप्त किये जाते थे । आधुनिक काल में भी इन स्थलों के साथ-साथ काश्मीर, राजस्थान की जवार पर्वतीय चट्टान एवं केरल से चांदी प्राप्त की जाती है ।[2]

इस प्रकार पालि ग्रन्थों से ज्ञात रजत धातु की प्राप्ति के विवरणों से बौद्धकालीन भारत में विभिन्न प्राकृतिक संसाधनों के द्वारा रजत धातु को प्राप्त किये जाने की संभावना पर प्रकाश पड़ता है ।

रजत धातु कर्म :

पालि ग्रन्थों से रजत धातु-कर्म के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं । तथापि एक विकसित व्यवसायिक श्रेणी के रूप में रजत धातु-कर्म में रत सोनारों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । सुवर्ण धातु कर्म में रत् सुवर्णकार को कर्मकार कहा गया है इसी की भांति रजत कर्म में रत कर्मकार को 'कम्मार' की संज्ञा दी गई है । इसके अतिरिक्त बाद के चरणों से एक विकसित व्यवसायिक श्रेणी के रूप में रजत धातु कर्म में रत कर्मकार को 'सज्झुकारा' की संज्ञा दी गई है जिससे रजत तकनीकी के बढ़ते विकास पर प्रकाश पड़ता है । रजत धातु कर्म के अन्तर्गत पालि ग्रन्थों से रजत शोधन प्रक्रिया एवं मिश्रित धातु सुवर्ण को तैयार करने के लिए रजत के उपयोग में लाये जाने पर भी प्रकाश पड़ता है ।

(क) शोधनप्रक्रिया :

'धम्मपद' एवं 'सुत्तनिपात' से चांदी के शोधन प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार कर्मकार चांदी के मैल को धीरे-धीरे एवं क्रमशः साफ करता था । यथा–

'कम्मारो रजतस्सेव निद्धमे मलमत्तनो' अर्थात् 'सोनार चांदी के मैल को क्षण-क्षण क्रमशः थोड़ा-थोड़ा कर के जलाता है ।'[3]

अर्थशास्त्र में शुद्ध चांदी की पहचान, शोधन विधि के बारे में उल्लिखित है । अर्थात् श्वेत, स्निग्ध एवं मुलायम चांदी सर्वोत्तम मानी जाती है । इसके विपरीत

---

1. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 104.; जातक, संख्या 256, पृ. 56.
2. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 14.
3. धम्मपद, खु. नि., भाग-1, पृ. 39, हि. अनु., पृ. 142-43. सुत्तनिपात, खु. नि., भाग-1, पृ. 415, हि. अनु., पृ. 249.

काली, रूक्ष, खरखरी एवं फटी हुई चांदी खराब होती है । खराब चांदी में चौथाई भाग सीसा डालकर उसको शुद्ध करना चाहिए तथा जिसमें बुदबुदे उठते हों और दही के समान श्वेत हो वही शुद्ध चांदी होती है ।[1]

(ख) मिश्रित धातु रजत :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'उपक्किलेस सुत्त' से सुवर्ण के अन्य धातुओं से तैयार किये जाने के संदर्भ में रजत धातु का उल्लेख प्राप्त होता है । यहाँ रजत को सुवर्ण का मैल कहा गया है । अर्थात् रजत के मिश्रण से तैयार स्वर्ण शुद्ध नहीं होता । अर्थात्–

'पञ्चजातरूपस्स उपक्किलेसा येहि उपक्किलिट्ठस्स जातरूपस्स न च कम्मनियं होति न च कम्मनियं होति न च मृदुं होति न च पभस्सरं होति । येहि पञ्चेहि उपक्किलेसेहि अयोलोहं तिपु सीसं सज्झुं ।' अर्थात्

'जातरूप के पाँच मैल होते हैं । जिनसे संयुक्त हो न तो वह कमनीय होता है, न मृदु एवं न प्रभास्वर । ये पाँच मैल हैं–लौह, ताम्र, सीसा, रांगा, एवं चांदी ।'[2]

अर्थशास्त्र में श्वेतसार नामक सुवर्ण को तैयार करने के लिए उसमें रजत मिलाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । अर्थात् दो माषे तक चांदी मिला देने से एवं तदन्तर उसको चमका देने वाली चीजों के सहयोग से सुवर्ण भी रजत की भांति चमकने लगता है ।[3]

इस प्रकार उपरोक्त संदर्भों में रजत तकनीकी ज्ञान संबंधी प्रक्रिया के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं तथापि एक विकसित व्यावसायिक श्रेणी के रूप में रजत धातु-कार अथवा कर्मकार के स्वतंत्र इकाई के रूप में होने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्रारम्भ में इन्हें सुनारों की श्रेणी में रखा गया था किंतु बाद में इनके लिये 'सज्झुकार' शब्द व्यवहृत होने से एक विकसित परम्परागत व्यवसाय के रूप में रजत धातुकर्म पर प्रकाश पड़ता है ।

रजतमय वस्तुओं की तालिका

	प्रथम काल	**द्वितीय काल**
(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त रजतमय सामग्री :	**प्रथम काल**	**द्वितीय काल**
(क) पात्र :		
थाली	2	2
धूम्रनेत्र	1	–

1. गैरोला वाचस्पति, अर्थशास्त्र, द्वि. अधि., पृ. 175., 176.
2. अंगुत्तरनिकाय, द्वितीय खंड, पृ. 286; हि. अनु., पृ. 250.
3. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकारण, पृ. 180-81.

(ख) शयनासन :	1	3
(ग) कैंची :	1	–
(घ) चरणपादुका :	1	1
(च) वाहन :	–	3
(छ) मनोरंजन की वस्तु	–	1
(2) रजतमय मुद्रा धनराशि :		
(क) रूपिय :	2	–
(ख) कहापण :	4	6
(3) रजतमय स्थापत्य :		
(क) रजतमय प्राकार युक्त राजभवन :	–	3
(ख) रजतमय सोपान युक्त राजभवन :	1	–
(ग) रजतमय वेदिका, सूचि, खम्भा, उण्हीस एवं कांटीयुक्त पुष्करिणी :	1	–
(घ) रजतमय शिखर वाले स्तूप :	–	1

रजतमय वस्तुओं के अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से विशेष लाक्षणिक अर्थों में भी रजत धातु का उल्लेख द्वितीय काल से प्राप्त होता है । (जातक, सं. 501, भाग-1, पृ. 321.) । इस प्रकार उपरोक्त तालिका से द्वितीय काल में परिगणना की दृष्टि से सीमित किन्तु अधिक उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

चतुर्थ अध्याय

लौह धातु

लौह-धातु

लौह धातु का आविष्कार मानव सभ्यता संस्कृति के विकास के इतिहास का अमूल्य पृष्ठ है । पुरातात्विक एवं साहित्यिक साक्ष्यों से लगभग प्रथम सहस्राब्दि ई. पू. में धातु का आविष्कार काल माना जाता है । अपने आविष्कार काल से ही निरन्तर विकासपथ की ओर अग्रसर होती हुई लौह धातु छठीं शताब्दी ई. पू. के काल तक चरम सोपान तक प्रतिष्ठित होने लगी थी । प्रारम्भिक बौद्ध पालि ग्रन्थों के रचना काल तक लौह के विकास एवं प्रयोग की प्रक्रिया लगभग 600-500 वर्षों की हो चुकी थी । परिणामस्वरूप इस काल तक आते-आते सामान्य एवं विशेष महत्व के (सामरिक महत्व के) लौह उपकरणों का प्रयोग विभिन्न कार्यों में यथेष्ट रूप से किया जाने लगा था । सामान्य एवं विशेष महत्व के सर्वप्रचलित रूप में विकसित हो रहे लौह उपकरण धातु के बढ़ते महत्व एवं प्रभाव में होने का परिचायक है ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में वैदिक एवं उत्तर वैदिक ग्रन्थों की भांति ही लौह धातु को धातु बोधक 'अयस' एवं 'लोह' शब्दों के अन्तर्गत गृहीत किया गया है । 'लोह' शब्द प्रायः ताम्र एवं लौह वस्तुओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु ऐसे संदर्भ विशेषों में जहाँ लौह वस्तुओं को वहुमूल्य कह कर श्रमण विधान के अन्तर्गत बौद्ध श्रमणों को उससे विरत रहने का निर्देश दिया गया है वहां ये शब्द 'ताम्रवोधक' अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ प्रतीत होता है जबकि श्रमण विधान के अन्तर्गत लौह वस्तुओं के संचयन संबंधी निर्देश में प्राप्त 'लोह' शब्द 'लौह धातु' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से एक ही संदर्भ में लौह एवं ताम्र वस्तु के लिए लौह शब्द प्राप्त होता है । ऐसे संदर्भों में दोनों धातुओं का अलग-अलग अर्थ स्पष्ट करने के लिए ताम्र धातु के लिए लोह शब्द के आगे 'तम्ब' शब्द व्यवहृत किया गया है । यथा 'लोहमय कूटेहि तम्बलोहमय कूटेहि' । 'अयस' शब्द प्रायः लौह सूचक अर्थों में प्राप्त होता है । अतः ऐसे संदर्भ जिसमें अयस एवं लोह एक साथ व्यवहृत हुए हैं वहाँ दोनों का अर्थ क्रमशः लौह एवं ताम्र प्रतीत होता है । यथा 'अयो लोहं तपु सीसं सज्झं रजतं जातरूपं' । इसी प्रकार एक अन्य संदर्भ में अयस एवं लोह को भिन्न-भिन्न धातु के अर्थ में उल्लिखित किया गया है । यथा 'न तत्थं सञ्जायति अयो न लोहं' अर्थात् चिरकाल में भी अयस (लोह) लौह में नहीं परिवर्तित किया जा सकता ।[1] अतः निर्बाध रूप से लौह सूचक अर्थों में प्रयुक्त 'अयस्' शब्द

---

1. जातक, सं. 543, पृ. 429; इस संदर्भ में कौसल्यायन जी ने अयस को तांवा कहा है और लोह को लौह के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।

का विकास पालि ग्रन्थों के परवर्ती चरण में भी उत्कृष्ट कोटि के लौह प्रकार के रूप में परिलक्षित होता है । यथा–'सिक्कायस' । उत्कृष्ट कोटि के लौह प्रकार के लिए पालि ग्रन्थ से 'पाठीनवर्ण' एवं 'औषधि तारे की तरह अत्यधिक दीप्त' लौह शब्द व्यवहृत हुए हैं ।

सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से अतिमहत्व की होने के कारण ईसापूर्व छठीं-पाँचवीं सदी तक आते-आते लौह धातु से निर्मित सामग्री पर्याप्त प्रचलन में आयी । परिणामस्वरूप तात्कालिक समाज के विभिन्न क्षेत्रों यथा–सामाजिक, आर्थिक एवं सामरिक क्षेत्रों में लौह निर्मित वस्तुओं का प्रभूत प्रयोग परिलक्षित होता है जिसमें लौह निर्मित कृषि के उपकरणों, अस्त्र-शस्त्र, गृहनिर्माण एवं घरेलू जीवन में प्रयुक्त गृहस्थोपयोगी लौह की वस्तुओं इत्यादि सभी का उपयोग प्राप्त होता है । लौह उद्योग के रूप में विकसित हो रहे पूरे कार्यक्षेत्र को पालि ग्रन्थ में 'लोहारग्राम' की संज्ञा दी गई है जहाँ लौह कर्मियों द्वारा तीक्ष्ण लौह वस्तुओं का निर्माण करने व लौह शिल्पियों द्वारा उनकी गुणवत्ता की परख किये जाने के प्रमाण मिलते हैं । वास्तुकार, सुवर्ण शिल्पकार एवं बढ़ई इत्यादि व्यवसायिक श्रेणियों द्वारा लौह उपकरणों का उपयोग करते हुए अपने कार्यों को दक्षता से निष्पन्न किया जाने लगा था । तकनीकी विकास की दृष्टि से लौह उपकरणों को अधिक लचीला एवं तीक्ष्ण बनाने की वैज्ञानिक विधियां विकसित हो रही थीं जिनकी पुष्टि बौद्ध पालि ग्रन्थों के अध्ययन से होती है ।

प्रस्तुत अध्याय में लौह वस्तुओं के विभिन्न प्रकारों व उनके प्रचलन, निर्माण में प्रयुक्त वैज्ञानिक विधियों एवं लौह अयस्कों की प्राप्ति-स्थलों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है । ग्रन्थों के कालक्रमानुसार लौह संबंधी सम्पूर्ण विवरणों को दो चरणों में प्रस्तुत किया गया है । व अन्त में उनका तुलनात्मक विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् विवेच्य काल में लौह प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोतों, धातु तकनीकी ज्ञान एवं लौह प्रकारों का अध्ययन किया गया है ।

अध्ययन की सुविधानुसार लौह धातु संबंधी विवरणों का वर्गीकरण किया गया है, जो इस प्रकार है–

(1) सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त लौह निर्मित वस्तुएं यथा–गृहस्थोपयोगी लोहे के पात्र, सिलाई व बुनाई के उपकरण, प्रसाधन की वस्तुएं अर्थात् केशकर्तनोपकरण, छूरी, नहहरनी एवं लौह निर्मित अथवा उस पर स्वर्णपरत चढ़ा हुआ कुण्डल, आर्थिक महत्व के लौह उपकरण अर्थात् तराजू, माप, एवं मुद्रा, व्यवसायिक जीवन में व्यवहृत होने वाले लौह उपकरण यथा–कृषि के उपकरण, शिल्पकारों द्वारा प्रयुक्त लोहेकी हथौड़ी एवं छेनी, तथा अन्य लौह वस्तुएँ, वाहन, जंजीर, जाल, अंकुशी इत्यादि ।

(2) राजकीय एवं सामरिक महत्व की लौह वस्तुएं यथा–लौहनिर्मित अस्त्र-शस्त्र, सुरक्षा कवच, इत्यादि ।
(3) राजकीय स्थापत्य आदि के निर्माण में लौह धातु का उपयोग यथा–लौहमय प्राकार (यातना गृह एवं खाद्यान्न भण्डार में प्रयुक्त), लौहमय छत एवं लौह निर्मित शालाओं से युक्त भूमिगत प्रासाद एवं रहस्यमय शाला ।
(4) लौह प्राप्ति के संभावित स्रोत एवं प्रकार ।
(5) लौह धातु-कर्म संबंधी उल्लेख ।

ऐसा प्रतीत होता है विकसित लौह तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत सामान्य एवं उत्कृष्ट कोटि के तैयार लौह को विभिन्न प्रकार के वस्तुओं के निर्माण में उपयोग में लाया जाता रहा होगा । अर्थात् अधिक कठोर श्रम में प्रयुक्त होने वाले वस्तुओं यथा–कृषि के उपकरण, कड़ाही इत्यादि में अधिक कार्बन वाले लौह इस्पात को उपयोग में लाया जाता रहा होगा तथा सामान्य उपयोग की वस्तुएं यथा–पात्र, सुई, कैंची, इत्यादि में कम कार्बन वाले लौह इस्पात का उपयोग किया जाता रहा होगा जवकि विशेष प्रकार के रक्षा उपकरणों में उत्कृष्ट कोटि का जंगरहित लौह इस्पात निर्माण कार्यों में प्रयुक्त किया जाता था । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से बौद्धकालीन भारत में सामान्य एवं विशेष महत्व वाले दोनों ही प्रकार के सामग्री में लौह का उपयोग बहुलता से किया जा रहा था । इसका प्रमुख कारण बौद्धकालीन भारत में विशेषकर पूर्वोत्तर भारत (बौद्धकार्यक्षेत्र) में खानों के माध्यम से प्रभूत मात्रा में लौह अयस्क की प्राप्ति रहा होगा ।

प्रथम काल : (छठी शता. ई. पू. से चतुर्थ शता. ई. पू. तक) :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से तात्कालिक समाज के विभिन्न क्षेत्रों के लौह निर्मित वस्तुओं के व्यापक प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । इसमें सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के लौह वस्तुओं यथा गृहस्थोपयोगी लोहे के पात्र, अलंकरण एवं अन्य प्रसाधन की वस्तुएं, सिलाई एवं बुनाई की वस्तुएं, आर्थिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले लौह उपकरण यथा लोहे की मुद्रा, माप तथा व्यावसायिक श्रेणियों के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले लौह उपकरण यथा कृषि के उपकरण एवं शिल्पकारों के उपकरण पर प्रकाश पड़ता है । अन्य वस्तुओं में लोहे की जंजीर, वाहन एवं मनोरंजन की वस्तुएं तथा राजकीय महत्व के लौह उपकरणों में दण्ड विधान एवं युद्धादि कार्यों में प्रयुक्त किये जाने वाले अस्त्र-शस्त्र, सुरक्षा कवच एवं लौह प्राकारों से निर्मित राजकीय स्थापत्य के वास्तु अंगों पर प्रकाश पड़ता है ।

(क) सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त लौह निर्मित गृहस्थोपयोगी वस्तुएँ :

सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त होने वाली लौह वस्तुओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम गृहस्थोपयोगी लोहे के पात्रों का विवरण दिया गया है ।

पात्र :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के लोहे के पात्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इन पात्रों का बौद्ध श्रमणों के दैनिक जीवन में विशेष महत्व था । संघ के नियम निर्देश के अनुसार बौद्ध श्रमणों को बहुमूल्य वस्तुओं (पात्र आदि) से विरत रहने तथा लोहे व मिट्टी के पात्रों को सदैव अपने पास रखने एवं उपयोग में लाने की अनुज्ञा प्राप्त थी । इससे ज्ञात होता है कि लौह निर्मित पात्र सम्भवतः कम मूल्य पर आधारित होते थे । लौह पात्रों के अन्तर्गत सामान्य एवं बड़े आकार के पात्रों को व्यवहार में लाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें कुछेक पात्र जिनके नाम की संज्ञा एक ही थी किन्तु वे मध्यम एवं विशाल दोनों ही आकार के बनते थे तथा व्यवहार में अलग-अलग कृत्यों के लिए उपयोग में लाए जाते थे । यथा लोहे की द्रोणी एवं कुम्भी । द्रोणी एक मध्यम आकार का तरल पदार्थ पकाने का पात्र ज्ञात होता है तथा अन्य संदर्भ में शवाधान कर्म में प्रयुक्त किये जाने वाले विशाल आकृति के पात्र के रूप में भी द्रोणी का उल्लेख प्राप्त होता है । इसी प्रकार कुम्भी को दैनिक व्यवहार में लाए जाने के साथ-साथ प्रायः कठोरतम दण्ड विधान के अन्तर्गत मानव शरीर को विपरीत अवस्था में सदैव तप्त रहने वाली कुम्भी में (लौह) दीर्घ अवधि तक लटकाए जाने के बहुधा संदर्भ प्राप्त होते हैं जो विशाल आकृति के अत्यधिक गहरे व लम्बाई लिए हुए पात्र विशेष का संकेत देता है । यह विवरण अतिरंजनापूर्ण ढंग से उल्लिखित किया गया प्रतीत होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के अन्दर कुएंनुमा अत्यधिक गहरा गढ्ढा रहा होगा जिसे कठोर कर्म (लौह धातु कर्म) के लिए उपयोग में लाया जाता रहा होगा । किन्तु कठोरता जैसी सादृश्यता के कारण इसकी परिकल्पना कठोरतम दण्डविधान के अन्तर्गत किया गया प्रतीत होता है ।

लौह पात्रों के अन्तर्गत प्रथम काल से बौद्ध श्रमणों के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले भिक्षा पात्र या भोजन करने का पात्र, खाद्यान्न व तरल पदार्थों के पकाने व इनके संचयन हेतु मध्यम आकार के पात्रों यथा भाण्ड, कड़ाही, मटके तथा विशाल आकार के द्रोणी (नाद प्रकार) के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त तकनीकी ज्ञान के सन्दर्भ में सुवर्ण धातु कर्म में प्रयुक्त लोहे की सण्डासी एवं तवे का उल्लेख भी प्राप्त होता है । इन पात्रों के लिए 'अयोपत्त', 'लोह पत्त', 'लोह वारक',

'लोह माणक', 'अयोकटाह', 'लोहकटाह', 'लोहदोणिं', 'अयसदोणिं', 'लोहकुम्भि' एवं 'भहती लोहमयपनकुंभि' तथा 'सण्डासं' व 'अयोकपाल' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1. अयोपत्त :

'चुल्लवग्गपालि' से राजगृह के षड्वर्गीय भिक्षुओं को बहुमूल्य धातुओं से निर्मित पात्रों से विरत् रहने तथा लोहे एवं मिट्टी के पात्र को धारण करने के नियम-निर्देश के संदर्भ में 'अयोपत्त' का उल्लेख प्राप्त होता है जो बौद्ध श्रमणों द्वारा भोजनादि के कार्यों में व्यवहृत करने अथवा भिक्षापात्र के रूप में उपयोग में लाया जाने वाला कटोरेनुमा अथवा तश्तरीनुमा पात्र रहा होगा । यथा–

'न सोवण्णमयो पत्तो धारेतब्बो न सीसमये....न तम्बलोहमयो पत्तो धारेतब्बो । अनुजानामि द्वे पत्ते धारेव्बो–अयोपत्तं मत्तिका पत्तं ति ।' अर्थात्

'न सुवर्णमय पात्र धारण करना चाहिए, न सीसामय, न ताम्रमयी पात्रों को धारण करना चाहिए । दो प्रकार के पात्रों की आज्ञा देता हूँ लोहे के पात्र एवं मिट्टी के पात्र की ।'[1]

2. लोह पत्त :

'चुल्लवग्ग' से श्रावस्ती के भिक्षुओं को भगवान बुद्ध द्वारा लौह पात्रों को सदैव अपने पास रखने का निर्देश देने के संदर्भ में 'लोहपत्त' शब्द प्राप्त होता है । प्राप्त एक ही सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के लोहमय पात्रों के अन्तर्गत 'लोहपत्त' पात्र प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है । ऐसा प्रतीत होता है कि इसे भोजनादि करने के निमित्त श्रमणों द्वारा उपयोग में लाया जाता रहा होगा । यथा–

'लोह पत्तं लोह भण्डं लोह वारको लोह माणको लोह कटाहं लोह कुम्भिं' अर्थात्

'लोहे का पात्र, लोहे का भाण्ड, लौह वारक, लौह माणक, लोहे की कड़ाही व लोहनिर्मित कुम्भि' ।'[2]

सांकृत्यायन जी ने लोहमाणक एवं वारक को लोहे का मटका कहा है ।[3] भोजन करने के लिए भिक्षुओं के पास लौह्र, लकड़ी व मिट्टी के भिक्षापात्र होते थे जिसे 'पत्त' कहते थे ।[4]

---

1. चुल्लवग्गपालि, पृ. 201, हि. अनु., पृ. 423.
2. चुल्लवग्ग, पृ. 266, हि. अनु., पृ. 470.
3. वही.
4. त्रिपाठी प्रभा; प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 223, उपासक, सी. एस. डिक्शनरी आफ अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, पृ. 123, वारा. 1975.

3. लोहे के भाण्ड :

'विनयपिटकपालि' से बौद्ध श्रमणों के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न संदर्भों में लोहे के भाण्डों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा वैशाली के वज्जिपुत्तकों द्वारा बहुत से धातु पात्रों के संचयन के संदर्भ में, इनके द्वारा लौह भाण्डों को उपयोग में लाए जाने के निर्देश के संदर्भ में, श्रावस्ती के बौद्ध भिक्षुओं को अपने पास लौह भाण्ड रखने के निर्देश तथा उरुवेला के तट पर प्रवजित उरुवेल काश्यप तथा इनके भिक्षु संघ को बहुत से लौह भाण्डों को प्राप्त करने के संदर्भ प्राप्त होते हैं, जिनका उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है :

(1) 'बहुं लोहमण्डं कंसमण्डं सन्निचयं करोन्ति । लोहमण्डं अनुञ्ञातं ।' अर्थात्

'बौद्ध श्रमण (वैशाली के) बहुत से लोह (ताम्र एवं लौह) भाण्डों एवं कांस्य भाण्डों का संचयन करते हैं । लोहे के भाण्डों की आज्ञा देता हूँ ।'[1]

(2) 'उरूवेलाकस्सपे पब्बजिते संघस्स बहुं लोहमण्डं दारूमण्डं मत्तिका मण्डं उत्पन्नं होति ।' अर्थात्

'उरूवेला के तट पर भिक्षु काश्यप एवं उनके संघ को बहुत से लोहे, लकड़ी व मिट्टी के भाण्ड प्राप्त हुए थे ।'[2]

(3) 'लोह पत्तं लोह भण्डं लोह वारको लोह माण को. . .'[3]

'संयुक्त निकाय' से 'ओक्खा' नामक पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे काश्यप जी ने चावल पकाने का पात्र कहा है ।[4] 'मज्झिमनिकाय' से भोजन पकाने वाले 'परियोग' नामक पात्र का उल्लेख मिलता है ।[5] रीज़ डेविड्स के अनुसार ये सम्भवतः भोजन पकाने का हण्डा रहा होगा ।[6] लौह भाण्ड भी सम्भवतः बड़े आकार का खाद्यान्न संचयन एवं पकाने हेतु उपयोग में लाया जाने वाला पात्र रहा होगा ।

4– लोह वारक एवं लोह माणक :

'चुल्लवग्ग' से श्रावस्ती के बौद्ध श्रमणों को विभिन्न प्रकार के लौह पात्रों को अपने पास सदैव रखने के संदर्भ में लौह वारक एवं लोहमाणक शब्द प्राप्त होते हैं । यथा 'लोह वारको लोह माणको' ।[7]

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 225-26., हि. अनु., पृ. 441.
2. वही, पृ. 233., हि. अनु., पृ. 449.
3. वही, पृ. 266.
4. संयुक्त निकाय, जि. 2, पृ. 220.
5. मज्झिमनिकाय, हि. अनु.,पृ. 331.
6. डेविड्स, रीज़; पालि-इंगलिश डिक्शनरी, पृ. 434.
7. चुल्लवग्ग, पृ. 266.

सांकृत्यायन जी ने इन्हें मटका कहा है ।[1]

5–लोह खण्डं :

'चुल्लवग्ग' से बौद्ध श्रमणों द्वारा प्रयुक्त पानी आदि भरने के लिए खण्ड पात्र विशेष का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'अनुजानामि तीणि खण्डं,

'लोह खण्डं दारूखण्डं चम्मखण्डं' अर्थात्

'तीन प्रकार के खण्डों की आज्ञा देता हूँ लोह खण्ड, दारू खण्ड एवं चर्म के खंड की ।'[2]

सांकृत्यायन जी ने खण्ड को वारक के अर्थ में ग्रहण किया है ।[3] निकायों से बौद्ध भिक्षुओं के पास प्रायः मिट्टी का घड़ा पानी पीने के लिए प्याला, पानी का एक झोला, टोकरी एवं भोजन पकाने का बर्तन होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4] लोहखण्ड, वारक एवं माणक भी सम्भवतः पेय पदार्थों के संचयन हेतु पात्र रहा होगा ।

6–लोह कुम्भि :

प्रथम काल से विभिन्न संदर्भों में सामान्य एवं विशाल आकार वाले कुम्भि के बहुधा उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनका उपयोग घरेलू जीवन के साथ-साथ सामाजिक दण्ड विधान के अर्न्तगत अपराधी को औधे मुंह लटकाये जाने के लिए किया जाता था । ऐसे पात्र अत्यधिक गहराई लिये हुए कुंएनुमा विशाल आकार के ज्ञात होते हैं । इसके अन्तर्गत 'लोह कुम्भि' एवं 'महती लोहमयपन कुम्भिं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

'चुल्लवग्ग' से बौद्ध श्रमणों द्वारा प्रयुक्त लोहे की कुम्भि का उल्लेख प्राप्त होता है ।

वैदिक साहित्य से पानी इकट्ठा करने के लिए 'कुम्भ' नामक पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] भिक्षुओं द्वारा प्रयुक्त लोहकुम्भि सम्भवतः घट आकृति का पात्र रहा होगा ।

---

1. वही, हि. अनु. पृ. 449., सांकृत्यायन राहुल, पालि-हिन्दी डिक्शनरी, पृ. 241, 286.
2. चुल्लवग्ग, पृ. 233, हि. अनु., पृ. 432.
3. वही, हि. अनु., तपृ. 432.
4. प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 224., दी. नि., जिल्द-2, पृ. 172, अंगुत्तरनिकाय, जि. 4, पृ. 210, जातक, जि. 1, पृ. 266.
5. सिंह, शिवाजी; वैदिक लिटरेचर आन पाटरी, पाटरीज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 304.

7—लोहमय पन कुम्भिं :

'सुत्तनिपात्त' से दण्ड विधान के संदर्भ में सदैव प्रज्जवलित रहने वाली गहराई लिये हुए लोहकुम्भि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें मनुष्य को ओंधे मुंह लटकाया जाता था । यथा–

'अथं लोहमयपनकुम्भिं, अग्नि समं जलितं पविसन्ति।' अर्थात्
'तब वे आग के समान जलती हुई लोहे की कुम्भि में गिरते हैं ।'[1]

'मज्झिमनिकाय' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' से उपरोक्त संदर्भ में तप्त लोहकुम्भि के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[2] ऐसा प्रतीत होता है भूमि के अन्दर कुंएनुमा अत्यधिक गहरा गढ्ढा रहा होगा जिसे कठोर कर्म (लौह धातु-कर्म) के लिए उपयोग में लाया जाता रहा होगा । किन्तु कठोरता जैसी सादृश्यता के कारण इसकी परिकल्पना कठोरतम दण्डविधान के अन्तर्गत किया गया प्रतीत होता है ।

8—लोहे की कड़ाही :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से बौद्ध श्रमणों के लिए विहित, तकनीकी ज्ञान के सन्दर्भ में एवं तेल आदि पकाने के लिए लोहे की कड़ाही के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'लोह कटाह' 'अयोक्टाह' एवं 'लौह तुम्बं' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

लोहकटाह :

'चुल्लवग्ग' से भिक्षुओं के अदेय पात्रों के संदर्भ में 'लोहकटाह' का उल्लेख प्राप्त होता है यथा – 'लोहकटाह' अर्थात्' लोहे की कड़ाही ।'[3]

निकायों से बौद्ध भिक्षुओं द्वारा अपने पास पकाने का बर्तन व कड़ाही रखने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4]

अयोकटाह :

'मज्झिमनिकाय' एवं 'संयुक्तनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे की कड़ाही का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'दिवसं सन्तते अयोकटाहे' अर्थात्
'दिन भर तपायी हुयी लोहे की कड़ाही ।'[5]

---

1. सुत्तनिपात्त, खु. नि., खंड-1, पृ. 373, हि. अनु., पृ. 179.
2. मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 237, हि. अनु., पृ. 534; अंगुत्तरनिकाय, खंड-1, पृ. 131, हि. अनु., पृ. 144.
3. चुल्लवग्ग, पृ. 266. 2.
4. प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 224.
5. मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 406, हि. अनु., पृ. 608, संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृष्ठ 170, हि. अनु., भाग-2, . 529.

लोहतुम्बं :

'महावग्गपालि' से तेलादि पकाने के लिए भिक्षुओं को लोहे के तुम्बे की अनुज्ञा दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'अनुजानामि तीणि तुम्बानि लोहतुम्बं कट्ठतुम्बं फलतुम्बं'

अर्थात् 'तीन प्रकारके तुम्बों की अनुज्ञा देता हूं – लोहे के, काठ के एवं फल के तुम्बों की ।'[1]

तुम्बा सामान्यतः वाद्ययंत्रों के (वीणादि) दण्ड के पीछे की ओर चौड़ा व गोलाई लिए हुए तथा सामने की ओर क्रमशः पतला होता था ।[2] तेलादि पकाने के लिए लोहे का तुम्बा भी सम्भवतः चौड़े मुख वाला घटाकृति जैसा पात्र रहा होगा ।

9– अयोकपाल :

'अंगुत्तरनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में तप्त लोहे के तवे का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'दिवसं सन्तत्ते अयोकपाले हञ्ञमाने पपटिका ।' अर्थात्

'दिनभर तप्त लोहे के तावे से रगड़ खा कर जो चिंगारी उठती है (वह तुरन्त बुझ जाती है) ।'[3]

कात्यायन श्रौतसूत्र में एक छोटा कटोरा अथवा प्याला 'कपाल' शब्द द्वारा इंगित है क्योंकि यह सिर की हड्डी से मिलता-जुलता है ।[4] इसका प्रयोग यज्ञ के चढ़ावे को रखने के लिए किया जाता था ।[5]

10-आयसाय दोणिं :

'दीघनिकाय' की 'महापरिनिब्बानसुत्त' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' से क्रमशः भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद शवाधान कर्म हेतु अयस द्रोणी को प्रयुक्त करने तथा कोसल नरेश प्रसेनजित की महारानी भद्दिया देवी के मरणोपरान्त उन्हें विशाल आकार के लोहमय द्रोणी में रखे जाने के संदर्भ में व आयस द्रोणी से ढकने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

यथाः

'भगवता शरीरम् आयसाय तेलदोणिया पक्खिपित्वा अञ्ञिस्सा आयसाय दोणिया पटिकुज्ज ।' अर्थात्

---

1. महावग्ग, पृ. 223, हि. अनु. पृ. 220.
2. जातक, भाग-2, पृ. 429.
3. अंगुत्तरनिकाय, खंड-3, पृ. 207, हि. अनु., भाग-3, पृ. 192.
4. सिंह, शिवाज; 'वैदिक लिटरेचर आन पाटरी', पृ. 304; श्रौतसूत्र, 2, 4. 27-34.
5. शर्मा, रामशरण; प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 102.

'भगवान के शरीर को तेलवाही लोहे की द्रोणी में रखकर तथा दूसरी लोहे की द्रोणी से ढक दिया गया ।' [1]

सांकृत्यायन जी ने अयसद्रोणी को ताम्बे की द्रोणी कहा है ।[2] कौसल्यायन जी ने इसे लोहे की द्रोणी के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।[3] रीज़ डेविड्स के अनुसार 'अयस' लोहे का एवं 'आयस' लौह निर्मित वस्तु का प्रतीक है ।[4] 'अंगुत्तरनिकाय' में सुवर्ण धूलि को धोने के लिए द्रोणी को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] रीज़ डेविड्स ने द्रोणी को लकड़ी से बना एक प्रकार का पात्र कहा है ।[6] चाइल्डर्स ने इसे बड़े आकार का पात्र अथवा नाद (टब) कहा ह[7] जो उपरोक्त संदर्भ विशेष के आधार पर उचित प्रतीत होता है । ऐसा प्रतीत होता है छोटे आकार के गोलाकार पात्र द्रोणी के अन्तर्गत विहित थे जिन्हें धातुकर्म इत्यादि में (स्वर्ण चूर्ण को साफ करने के लिए) प्रयुक्त किया जाता था । पुरातात्विक साक्ष्यों से छठी शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई.पू. तक के उत्तरी कृष्णमार्जित संस्कृति से जुड़े मृदभाण्ड प्राप्त हुए हैं जिनके रासायनिक परीक्षण से ज्ञात होता है कि इनके निर्माण में लौह युक्त मिट्टी को उपयोग में लाया जाता था । इनमें तश्तरीं, कटोरे व अन्य छोटे व सामान्य आकार के भाण्ड प्राप्त हुए हैं । ये पात्र मुख्यतः गंगा घाटी से प्राप्त होते हैं ।[8] साहित्यिक साक्ष्यों में वर्णित (उपरोक्त संदर्भो में) नगर जो बहुधा बौद्ध काल के हैं तथा नगरों या संघों के केंद्र के रूप में उल्लिखित हैं, उनसे इस पात्र से जुड़ी संस्कृति के अवशेष प्राप्त होते हैं । इनकी तिथि 600 ई. पू. से 100 ई.पू. तक की ज्ञात होती है । इन पर चमकदार काले व लाल लेप हैं ।[9] सर्वप्रथम उत्तर भारत की तक्षशिला के भीटा नामक स्थल से इस प्रकार के पात्र प्राप्त हुए हैं ।[10]

---

1. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 110, हि. अनु, पृ. 142; अंगुत्तरनिकाय खंड-2, पृ. 322, हि. अनु., पृ. 285.
2. दीघनिकाय, हि. अनु.,पृ. 142.
3. अंगुत्तरनिकाय, हि. अनु., पृ. 285.
4. पालि-इंगलिश डिक्श., 331.
5. अंगुत्तरनकाय, खंड-1, पृ. 234, हि. अनु., पृ. 261.
6. शर्मा, रामशरण; प्रा. भा. में भौ. प्र. एवं सामा. सं., पृ. 147, 154, 55.
7. पालि-इग्लिश डिक्शनरी, पृ. 331.
8. चाइल्डर्स, आर. सी. : डिक्शनरी आफ पालि लैंग्वेज, पृ. 126.
9. इंडियन आर्कियोलाजी रिव्यू, 1965,66, 67, 68, 69, 76, 77, 87.
10. मार्शल, जान; एक्सकेवेशन एट भीटा, एनुअल रिपोर्ट आफ आ. स. ओ. इंडिया, कलकत्ता, 1501, 1910, पृ. 40.

(ख) लौह निर्मित अलंकरण एवं अन्य सौन्दर्य प्रसाधन की वस्तुएं :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से लौह निर्मित अलंकरण की वस्तुओं के अन्तर्गत कुण्डल तथा अन्य सौन्दर्य प्रसाधन में केशकर्तनोपकरण, लोहे की छुरी एवं नहहरनि के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1–कुण्डल :

'संयुक्तनिकाय' से लोहे का बना एवं उसपर स्वर्णपरत चढ़े हुए कुण्डल का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कुण्डलो लोहंनुमासो वा सुवण्ण छन्नो ।' अर्थात्
'लोहे का बना एवं उस पर स्वर्णपरत चढ़ा हुआ कुण्डल ।'[1]

कौशाम्बी से जैस्पर की बनी एवं उसपर सुवर्ण परत चढ़ा हुआ कुण्डल प्राप्त हुआ है जिसे तृतीय शताब्दी ई. पू. का माना गया है ।[2] भरहुत के अंकनों में पुरूष आकृति को गोलाकार कर्णाभरण पहने हुए चित्रित किया गया है जिसे कनिंघम ने कुण्डल से समीकृत किया है ।[3]

2–केशकर्तनोपकरण लोहे की छुरी :

'संयुक्तनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में एवं 'विनयपिटक' बौद्ध श्रमणों द्वारा केशकर्तन हेतु लोहे की छुरी को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस छुरी का उपयोग नाई द्वारा भी किया जाता था । इनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है:

'तत्तेन तिण्हेन खुरेन' अर्थात् 'तप्त तीक्ष्ण लोहे की छुरी ।'[4]
'खुरं सिलं सिपाटिकं नमतकं खुरभण्डकं ।'[5]

'चुल्लवग्ग' से भिक्षुओं द्वारा (श्रावस्ती के) लोहे की छुरी का उपयोग मुंडन करने के संदर्भ में प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार यदि सिर में घाव हो तो छुरी के स्थान पर कैंची को उपयोग में लाए जाने की अनुमति थी ।[6] सांकृत्यायन

---

1. संयुक्तनिकाय, खण्ड-2, पृ. 78, हिन्दी अनुवाद, भाग-1, पृष्ठ-75.
2. राय, त्रिभुवन नारायण; दि गैंजेस सिविलाइज़ेशन, पृ. 160.
3. कनिंघम, भरहुत स्तूप, तुलसीराम शर्मा द्वारा अनूदित, पृ. 33.
4. संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. 152
5. विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पृ. 236.
6. वही,पृ. 441.

जी ने छुरे की सिल को एक प्रकार का पत्थर कहा है जिसपर रगड़ कर छुरे की धार को तेज़ किया जाता था । छुरे की सिपाटिका को चमोटी कहा है जो धार को तेज करने के काम में लाया जाता था । नमतक से तात्पर्य नहहरनी से हैं ।[1] पुरातात्विक स्थलों में जखेड़ा, राजघाट, कौशाम्बी आदि से लौहनिर्मित छुरी प्राप्त हुई जिन्हें उत्तरी कृष्णमार्जित संस्कृति के प्रारम्भिक चरणों का माना गया है ।[2]

3. नहहरनी :

'संयुक्तनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में अत्यधिक तप्त नहरनी का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'तत्ताय नखच्छेदेन', अर्थात् 'तप्त लोहे की नहहरनी ।'[3]

'चुल्लवग्ग' से नाखून काटने के उपकरण के लिए नखच्छेदेन शब्द प्राप्त होता है ।[4] सांकृत्यायन जी ने नमतक को नहहरनी कहा है ।[5]

(ग) लौह निर्मित सिलाई व बुनाई के उपकरण :

प्रथम काल से घरेलू उपकरणों के अन्तर्गत सिलाई एवं कपड़ा आदि काटने के लिए सुई एवं कैंची को व्यवहार में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । लोहे की शलाका का वर्णन भी तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में ज्ञात होता है जो सम्भवतः बुनाई आदि में प्रयुक्त उपकरण रहा होगा ।

3. सुई :

'विनयपिटक' से भिक्षुओं के चीवर आदि सीने के लिए सुई को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । 'चुल्लवग्ग' से प्राप्त संदर्भ के अनुसार सुई को जंग आदि से बचाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपायों पर भी बल दिया गया है ।

अनुजानामि भिक्खवे सूचिं" ति ।' अर्थात्
'भिक्षुओं सुई की अनुमति देता हूँ ।'[6]

---

1. वही, पृ. 236.
2. दि गैंज़ेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 160.
3. संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. 153.
4. चुल्लवग्ग, पृ. 440.
5. सांकृत्यायन, राहुल; विनयपिटक, हि. अनु. पृ. 441.
6. चुल्लवग्ग, पृ. 200, 204, हि. अनु. पृ. 426.

'विनयपिटक' से सुई को रखने के लिए सूचिनलिका तथा जंग आदि से बचाने के लिए विशेष निर्देश भी दिये गये हैं ।[1]

2. कैंची :

'विनयपिटक' से भिक्षुओं को चीवर आदि काटने के लिए तथा बाल के मुण्डन कर्म हेतु कैंची को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके लिए 'सत्थक-दंड' एवं 'कर्तारिकाय' शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

सत्थक दंड :

'चुल्लवग्ग' से वैशाली के भिक्षुओं को वस्त्रादि (चीवर) काटने के लिए सत्थक दण्ड को रखने की अनुमति प्राप्त थी किन्तु सोने और चांदी जैसे बहुमूल्य धातु की मूठ वाली सत्थक दण्ड को व्यवहार में लाना अपराध समझा जाता था । यथा–

'छब्बगिया भिक्खू उच्चावचे सत्थकदण्डे धारेन्ति सोवण्णमयं रूपियमयं । न भिक्खवे उच्चावचा सत्थक दण्डा धारेतब्बा । अनुजानामि अट्ठिमयं दन्तमयं विसाणमयं नलमयं वेलमयं कट्ठमयं जतुमयं फलमयं लोहमयं संखनाभिमयं ति ।'[2] अर्थात्

'षडवर्गीय भिक्षु बहुमूल्य धातु सुवर्ण एवं रजत की मूठ वाली सत्थकदण्ड को धारण करते थे । भिक्षुओं के सुवर्ण एवं रजत की मूठ वाली सत्थक दण्ड को धारण नहीं करना चाहिए । अनुमति देता हूँ हड्डी की, हाथी दाँत की, सींग की, नरकट की, बांस की, काठ की, लाख की, लौह की एवं शंख की ।'[3]

कर्तारिकाय :

'चुल्लवग्ग' से भिक्षुओं के सिर में घाव आदि होने के समय छुरी के बजाय कैंची को उपयोग में लाए जाने की अनुमति दी गयी थी ।

यथा :

'सीसे वणो होति । न सक्कोति खुरेन केसे आरोचेसुं ।
अनुजानामि आबाधप्पच्चया कर्तारिकाय केसे छेदापेतुं नै ति ।' अर्थात्

'सिर में घाव होने पर छुरी को केश काटने के लिए प्रयुक्त नहीं करना चाहिए । अनुमति देता हूँ बाल काटने के लिए कैंची के उपयोग की ।'[4]

---

1. वही, हि. अनु., पृ. 426; महावग्ग, हि. अनु. पृ. 29.
2. वही, पालि, पृ. 204.
3. चुल्लवग्ग, पृ. 200, 204, हि. अनु., पृ. 426.
4. वही, पृ. 224, हि. अनु., पृ. 441.

3. अयोसलाका :

'संयुक्तनिकाय' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में तप्त लोहे की सलाई का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'तत्ताय अयोसलाकाय ।' अर्थात् 'तप्त लोहे की सलाई ।'[1]

'चुल्लवग्ग' में कपड़ा बुनने के लिए तन्तुक, वेमक, वट्ट, शलाका एवं तांत (कर्घा) का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2]

(घ) व्यवसायिक जीवन में प्रयुक्त लौह उपकरण :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से व्यवसायिक श्रेणियों के दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के लोहे के उपकरणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं यथा–कृषि कार्य में प्रयुक्त उपकरण एवं शिल्पकारों के उपकरण ।

1. कृषि के उपकरण :

कृषि के उपकरणों के अन्तर्गत प्रथम काल से लोहे के फार, कुदाल, फरसा, कुल्हाड़ी, वसूला एवं खुरपी के उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कृषि कार्य मगध के आसपास के ग्राम एवं श्रावस्ती में अत्यन्त उन्नत अवस्था में था । इस कार्य में शतकों की संख्या में कृषक जिनमें ब्राह्मण एवं बौद्ध भिक्षुओं का एक बड़ा समूह भी रत् रहता था, के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

फार :

'महावग्ग' से श्रावस्ती के भिक्षुओं द्वारा कृषि के फार को उपयोग में लाने एवं तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में, 'सुत्तनिपात' के 'कसिभारद्वाजसुत्त' से मगध के (राजगृह) दक्षिणगिरि के आसपास स्थित एकनाला ब्राह्मण ग्राम में ब्राह्मण कृषक भारद्वाज एवं अन्य ब्राह्मणों के जुताई एवं बुआई में लगे होने व तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में तथा 'संयुक्तनिकाय' के 'सुन्दरिकसुत्त' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे के फार का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'फालो दिवसं सन्तत्ते उदके पक्खिपत्तो चिटचिटायति ।'

अर्थात् 'दिन भर तपाया लोहे का फार पानी में पड़ते ही चटचटाते हुए भभक उठता है ।'[3]

---

1. संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. 153., हि. अनु., 530.
2. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृ. 225.
3. महावग्ग, पृ. 222, संयुक्तनिकाय, भाग-1, पृ. 153, हि. अनु. पृ. 268., सुत्तनिपात, खुद्दकनिकाय खंड-1, पृ. 282,. हि. अनु.

'सुत्तनिपात' से फार के अंगों यथा–जुआढ़ (युग), छेकुनी एवं हरिस का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1] पाणिनी ने लौहनिर्मित फार को ' अयोविकार कुशी' कहा है ।[2] प्रो. डी. डी. कोसाम्बी महोदय के अनुसार सूत्र की उपमा से यह स्पष्ट है कि फार लोहे का ही रहा होगा । क्योंकि यदि कांसे को दिनभर तपाया जाय तो वह काफी कमजोर एवं व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि कांसा एक मुलायम धातु है ।[3] कोसाम्बी महोदय ने सर्वप्रथम इस बात पर जोर दिया है कि कोसल तथा मगध के लोगों के भौतिक एवं सामाजिक जीवन में परिवर्तन के कारणों तथा कालक्रम से संबद्ध कुछ परिकल्पनाएं छठीं शता. ई. पू. के पश्चात् घनी वनस्पति से आच्छादित मध्य गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों को बस्ती तथा कृषि के उपयुक्त बनाने में लोहे के उपकरणों की निर्णायक भूमिका पर बल देती है ।[4] पुरातात्विक स्थलों में जखेड़ा से लोहे का फार प्राप्त हुआ है जिसे 500 ई. पू. का माना गया है ।[5]

फरसा, कुदाल, कुल्हाड़ी व खनती (खुरपी) :

'चुल्लवग्ग' से श्रावस्ती के भिक्षुओं को अपने पास सदैव लौहमय वस्तुओं को रखने के संदर्भ में कृषि के उपरोक्त उपकरणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'वासि, परसु कुठारी कुदाली निखादन्' अर्थात् वसूला, फरसा, कुल्हाड़ी, कुदाल एवं खनती ।'[6]

खनती से अभिप्राय सम्भवतः खुरपी प्रकार के कृषि उपकरण से रहा होगा । इन लोहे के कृषि उपकरणों के परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा में उत्पाद अधिशेष उपलब्ध होने लगा था जो पत्थर अथवा तांबे के उपकरणों से प्राप्त करना सम्भव नहीं था । इसने उत्तर पूर्वी भारत में लगभग 600 ई. पू. में नगरीय बस्तियों के विकास की पृष्ठभूमि तैयार की ।[7] पुरातात्विक उपकरणों में उत्तर प्रदेश के एटा जिले से लोहे की कुदाल, सोनपुर से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. की लोहे की कुल्हाड़ी , कोशाम्बी एवं राजघाट से कुल्हाड़ी तथा अतिरंजिखेड़ा से लोहे का कुदाल एवं दरान्त मिला है जिसकी तिथी 500 ई. पू. के आसपास ज्ञात होती है ।[8]

---

1. सुत्तनिपात, वही.
2. अग्रवाल, वासुदेव शरणः पाणिनीकालीन भारत, पृ. 224.
3. कोसाम्बी, डी. डी. : दि बिगनिंग्स आफ आयरन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, जि. 9, भाग-3, पृ. 309.
4. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 137
5. इंडियन आर्कियोलाजी, ए रिव्यू, 1974-75 की अप्रकाशित सामग्री.
6. चुल्लवग्ग, पृ. 266, हि. अनु. पृ. 470.
7. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ. 173.
8. वही, पृ. 142, इंडियन आर्कियोलाजी, ए रिव्यू, 1975-76, सोनपुर एक्सकेवेशन, पृ. 139, रजि नं. 935,.

2. शिल्पकार के उपकरण : (अयोघन) :

'उदानपालि' से लोहे के घन का उल्लेख प्राप्त होता है । जिसका उपयोग धातु की सामग्री को पीटने अथवा धातुकर्म के निमित्त लाया जाता था । यथा–

'अयोघन हतस्सेव जलतो जातवेदसो ।' अर्थात्

'लोहे के घन की चोट पड़ने से जो चिंगारी उठती है वह तुरन्त बुझ जाती है ।'[1]

अनुवादक सांकृत्यायन जी ने घन को हथौड़ा कहा है ।[2]

पाणिनी ने अयोघन का उल्लेख लोहे के हथौड़े के अर्थ में किया है ।[3]

पुरातात्विक उत्खननों में छठीं शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. की लोहे की छेनी राजघाट, जखेड़ा एवं अतिरंजीखेड़ा से प्राप्त हुई है ।[4]

(च) आर्थिक महत्व की लौह वस्तुएँ :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों के आर्थिक महत्व के लौह वस्तुओं के अन्तर्गत क्रय-विक्रय एवं व्यापार-वाणिज्य में प्रयुक्त किये जाने वाले लोहे के तौल उपकरण यथा तुला एवं लोहे की माप तथा लोहे की मुद्रा के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

तौल उपकरण :

'दीघनिकाय' के 'पायासिराजञ्ञसुत्त' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे के गोले (माप) एवं तराजू के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा

'अयोगुलं आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं तुलाय तुल्लेय्य'

अर्थात् 'तप्त प्रज्जवलित अथवा आदीप्त लोहे के गोले को तराजू में तौलें ।'[5]

'मज्झिमनिकाय', 'संयुक्तनिकाय', 'धम्मपद' एवं 'सुत्तनिपात' से दण्डविधान में प्रयुक्त किये जाने वाले लोहे के गोले के संदर्भ बहुधा प्राप्त होते हैं ।[6] पाणिनी ने तौल उपकरणों के अन्तर्गत परिमाण, माप, निष्पाव (स्वर्णादि तौलने का बटखरा), साण (बीस रत्ती के बराबर), विरत, शतमान, आढक, आचित एवं पुरुष का उल्लेख किया है ।[7] अर्थशास्त्र के अनुसार लोहे की माप बनती थी या मगध व

---

1. उदानपालि, खु. नि., खंड-1, पृ. 177, हि. अनु. पृ. 127.
2. वही.
3. पाणिनी कालीन भारत, पृ. 224, अष्टाध्यायी, 3.3.82.
4. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति व सामाजिक संरचनाएं, पृ. 142.
5. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 249, हि. अनु. पृ. 204.
6. संयुक्तनिकाय, खंड-2, पृ. 242, हिन्दी अनुवाद, पृ.-747. मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 258. धम्मपद, खु. नि., खंड-1, पृ. 191 (हि. अनु.), सुत्तनिपात, पृ. 372, हि. अनु., पृ. 179.
7. अष्टाध्यायी, 5.1.40, 5.1.27, 5.1.53.

मेकल के पत्थर की । शंख जैसी वस्तु के भी बटखरे होते थे जिनपर पानी या लेप का कोई असर नहीं होता था । कौटिल्य ने सोलह प्रकार के तराजुओं का उल्लेख भी किया है जो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के तौलने में पृथक्-पृथक् रूप से प्रयुक्त होते थे । इनमें समवृत्तातुला (गोलाकार) पैंतीस पल लोहे की बनी व तीन हाथ लम्बी थी, समवृत्तातुला से दुगने लोहे से सत्तर पल परिमाण से बनी छियानवे अंगुल लंबी तुला का नाग परिमाणी था । इसके अतिरिक्त अर्थशास्त्र में आयमानी, व्यवहारिकी, भाजनी एवं अन्तपुरभाजनी तुला प्रकारों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । [1]

2– लोह मासको (मुद्रा) :

'चुल्लवग्ग' से व्यवहार में प्रचलित मुद्रासूचक धनराशि के संदर्भ में लोहे के मासा का वर्णन प्राप्त होता है । यथा

'लोह मासको दारूमासको जतुमासको यो वोहारं गच्छन्ति'

अर्थात् 'लौह (ताम्र व लौह) के मासक, लकड़ी के मासक एवं लाख के मासक व्यवहार में प्रचलित थे' ।[2]

'चुल्लवग्ग' से वैशाली के वज्जिपुत्तक द्वारा उपोसथ के समय जल भरे कांसे के पाती को भिक्षु संघ के बीच में रखकर उसमें कहापण, अर्द्ध, पाद एवं मासा को एकत्र किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] पाणिनी ने पण, पाद के बाद माषा आदि प्रचलित मुद्रा का उल्लेख किया है ।[4] अर्थशास्त्र में मासक को ताम्र की मुद्रा कहा गया है जिसमें चार मासा ताम्र व एक-एक मासा चांदी व लौह का मिश्रण होता था । इसी हिसाब से अर्धमासक, काकणी व अर्धकाकणी सिक्के बनते थे ।[5] वासुदेवशरण अग्रवाल महोदय ने मासक को चांदी व ताम्र का सिक्का कहा है ।[6] पुरातात्विक साक्ष्यों से छठीं-पांचवीं शताब्दी ई. पू. की, अहिच्छत्रा से ताम्र की आहत मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जिनके रासायनिक परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि उनमें 5 से 10% तक लोहे का मिश्रण किया जाता था । इन मुद्राओं पर जानवरों के रूप एवं सूर्य आकृति का चिन्ह अंकित है ।[7] सम्भवतः लौहमासक उपरोक्त प्रकार की मुद्रा रही होगी जो व्यवहार में प्रचलित थी ।

---

1. गैरोला, वाचस्पति, अर्थशास्त्र, पृ. 214-15-16.
2. चुल्लवग्ग, पृ. 339, सांकृत्यायन राहुल, हि. अनु., पृ. 19.
3. वही, पृ. 416.
4. पाणिनीकालीन भारत, पृ. 259, अष्टाध्यायी, 5.1.34.
5. अर्थशास्त्र, 2.19, 2.12.28, पृ. 209
6. पाणिनीकालीन भारत, पृ. 259.
7. सत्यप्रकाश, काएन एज इन एन्शियेंट इंडिया, पृ. 470-71, टेबल-21.9.21. 6 नं.-2 प्लेट-4.

(च) सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त अन्य लौह वस्तुएं :

प्रथम काल से सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त होने वाली अन्य लौह वस्तुओं के अन्तर्गत लोहे की जंजीर, लोहे का पीढ़ा एवं लौहमंच के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1– लोहे की जंजीर :

'संयुक्तनिकाय' के 'बंधनसुत्त' एवं 'धम्मपद' से बौद्ध धर्म के व्यवहारिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में लोहे के बंधन का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा 'दारूजं पव्बजं' अर्थात् 'लोहे के बंधन में बंधा हुआ' । [1]

सांकृत्यायन जी ने इसे लोहे की जंजीर कहा है ।[2] जखेड़ा के उत्खनन से उत्तरी कृष्णमार्जित संस्कृति के प्रारम्भिक चरण से लोहे की जंजीर प्राप्त हुई है ।[3]

2– लौह निर्मित पीढ़ा एवं मंच :

'अंगुत्तरनिकाय' के 'सत्तकनिपात' से तप्त लोहे का पीढ़ा एवं मंच का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

'तत्तं अयोमचं व अयोपीढं' अर्थात्
'तप्त लोहे का पीढ़ा एवं मंच ।'[4]

'चुल्लवग्ग' से 'भद्दपीढ़', 'पीठिक' एवं 'आमलक वण्ठिक' इत्यादि विभिन्न प्रकार के पीढ़े का उल्लेख प्राप्त होता है । [5] पीढ़क को चाइल्डर्स ने बेंच या स्टूल कहा है । [6]

2– राजकीय महत्त्व के लौह निर्मित उपकरण :

प्रथम काल से राजकीय महत्व के लौह निर्मित सामग्री के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के रक्षाउपकरणों के उपयोग एवं महत्व पर प्रकाश पड़ता है । इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से सामाजिक दण्ड विधान के रूप में प्रयुक्त किये जाने वाले तथा सामरिक महत्व के लौह निर्मित अस्त्र-शस्त्र एवं सुरक्षा कवच के उल्लेख प्राप्त होते हैं । निकायों से प्राप्त संदर्भों के अनुसार बौद्ध धर्म के व्यवहारिक पक्ष को स्पष्ट

---

1. संयुक्तनिकाय, खंड-1, पृ. 75, हि. अनु. पहला भाग, पृ. 73, धम्मपद, खु. नि., खंड-1, पृ. 49, हि. अनु., पृ. 179.
2. संयुक्तनिकाय, हि. अनु. पृ. 73.
3. राय, त्रिभुवन नारायण दि गैंज़ेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 160.
4. अंगत्तरनिकाय, खंड–3, पृ. 253, हि. अनु. पृ. 237.
5. चुल्लवग्ग, पृ. 242.
6. शुक्ल, मारकण्डेय, भारतीय कलाओं तथा औद्योगिक शिल्पों का अध्ययन, पृ. 248-49-50.

करने के लिए प्रायः लौह निर्मित शस्त्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें लोहे की वर्छी, शूल, शक्ति आयुध, लोहमय कूट तथा लोहे के तीर के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क) लोहे की बर्छी :

निकायों से लोभ इत्यादि से विरत रहने के बौद्ध धर्म दर्शन के व्यवहारिक ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में लोहे की बर्छी के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'अयोसंकुना', 'तिण्हेन अयोसंकुना' एवं 'अयोसंकुनामातहट्ठानं' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है :

1–'तिण्हेन अयोसंकुना आदित्तेन सम्पज्जलितेन सजोतिभूतेन घानिन्द्रिय सम्पलिट्ठं' अर्थात्

'अत्यन्त तीक्ष्ण लोहे की बर्छी से प्राणइन्द्रिय को जला देना अच्छा है (किन्तु इसमें लालच करना उचित नहीं, क्योंकि वह अनित्य है)' [1]

2– 'मज्झिमनिकाय' के 'देवदत्तसुत्त' एवं 'अंगुत्तरनिकाय' से नरक गृह में अपराधी व्यक्ति को कठोर दण्ड दिये जाने के संदर्भ में लोहे की बर्छी का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा– 'अयोसंकुना मुरदं विवरित्वात[2] अर्थात्

'लोहे की बर्छी को मुंह में डालते हैं ।'[3]

3– 'अयोसंकुनामातहट्ठानं' अर्थात् 'लोहे की बर्छी से मारे जाते हुए ।'[4]

पुरातात्विक उत्खनन स्थलों में जखेड़ा, मेसौंन, कौशाम्बी, श्रावस्ती एवं चिरांद आदि पूर्वोत्तर भारत के स्थलों से उ. कृ. मा. सं. के प्रारम्भिक चरण से लोहे की बर्छी प्राप्त हुई है । [5]

(ख) लौह शूल :

'सुत्तनिपात' से परनिन्दा करने वाले को यातना गृह में तीक्ष्ण धार वाले लोहे के शूल से सताए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा – 'तिण्हधारमय सूलमूपेति' अर्थात् 'तीक्ष्ण धारवाली लोहे के शूल (से सताया जाना) ।[6]

---

1. संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. 153, हि. अनु., भाग-2, पृ. 520.
2. मज्झिमनिकाय, खंड3, पृ. 258, अगुत्तरनिकाय, खंड-3, पृ. 255.
3. मज्झिमनिकाय, हि. अनु., पृ. 547, अंगुत्तरनिकाय, हि. अनु., भा-3, पृ. 237.
4. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 372, हि. अनु., पृ. 179.
5. द गैंज़ेज़ सिविलाइजेशन,पृ. 159-60.
6. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 372-73, हि. अनु., पृ. 179.

अर्थशास्त्र में आयुध प्रकारों के अन्तर्गत लोहे के शूल का उल्लेख प्राप्त होता है जो तेज मुख वाला था ।[1] एरियन ने भारतीय अश्वारोहियों के पास 'सौनिया' नामक शूल को रखने का उल्लेख किया है लेकिन उनके फलक पदातियों के फलकों से छोटे होते थे । [2] सम्भवतः त्रिशूल प्रकार का हथियार रहा होगा ।

(ग) लोहमय कूट :

'सुत्तनिपात्त' के 'कोकालिक सुत्त' से पूर्वोक्त संदर्भ में लोहमय कूट का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा :

'जालेन च ओनहियाना हनन्ति अयोमय कूटेहि' अर्थात्

'यातनागृह के जाल में बन्दकर लोहे के कूट से प्रहार करते हैं ।' [3]

सांकृत्यायन जी ने 'कूट' को 'हथौड़े' के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।[4] जैन ग्रन्थ 'आवश्यकसूत्र' से लोहे की गदानुमा अस्त्र का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे राजकीय बन्धनगार में मगध नरेश अजातशत्रु द्वारा उपयोग में लाया गया था । [5] अर्थशास्त्र में 'स्पृक्तला' (कांटेदार गदा) एवं 'उद्घाटिम' (मुदगर की आकृति का यंत्र) का उल्लेख प्राप्त होता है ।[6] लौह कूट सम्भवतः मूसल या गदा प्रकार का अस्त्र रहा होगा ।

(घ) शक्ति आयुध :

'संयुक्तनिकय' के 'आदित्तपरियायसुत्त' से तीक्ष्ण, लहलहा कर जलती हुई शक्ति आयुध का वर्णन मिलता है । यथा :

'तिण्हाय सत्तिया आदित्ताय सम्पज्जलिताय' अर्थात्

'तीक्ष्ण, आदीप्त (रक्तवर्ण) शक्ति आयुध से जलाया जाना ।'[7]

सांकृत्यायन जी ने शक्ति आयुध को भाला कहा है ।[8] अर्थशास्त्र में कनेर के पत्ते की आकृति वाले शक्ति आयुध का उल्लेख प्राप्त होता है ।[9] पुरातात्विक उत्खनन स्थलों में सोनपुर एवं चिरांद गांव से लोहे के भाला फलक प्राप्त हुए हैं । [10]

---

1. अर्थशास्त्र, 218, पृ. 209.
2. क्लासिकल अकाउण्ट्स आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 270-71.
3. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 373, हि. अनु., पृ. 175.
4. वही, हि. अनु., पृ. 175.
5. आवश्यकसूत्र, 682-83.
6. अर्थशास्त्र, 2.18, पृ. 209.
7. संयुक्तनिकाय, खंड-4, पृ. । 153-54, हि.अनु. पृ. 521.
8. वही, हि. अनु., पृ. 521.
9. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 209.
10. दि गैन्ज़ेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 160.

(च) बाण :

'धम्मपद' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे के बाण का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा :

उजुंकरोति उसुकारो द्वीसु व तेजनं' अर्थात्
'उसुकार आग में तपाकर बाण को एकदम सीधी व तीक्ष्ण बनाता है ।'[1]

अर्थशास्त्र में पांच प्रकार के बाणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा– वेणु (बांस की बनी), शर (नरसल की बनी), श्लाका (पुष्ट लकड़ी से बने), दण्डासन (लोहे व लकड़ी की बनी) तथा नाराच (लौहनिर्मित) बाणों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन बाणों के अग्रभाग में लोहे, हड्डी व पुष्ट लकड़ी की बनी नोकवाली तथा किसी भी प्रकार के आघात में सक्षम फलकवाली तीर होती थी ।[2] मेगस्थनीज़ ने पदाति सैनिकों का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा ग्रहण किये हुए धनुषबाण का उल्लेख किया है । ये बाण तीन गज़ लम्बा होता था भारतीय धनुर्धर के इस प्रकार के बाण को ढाल या कवच नहीं रोक पाते थे ।[3] पुरातात्विक साक्ष्यों से पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न स्थलों से छठी शताब्दी ई. पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. के लोहे के बाणफलक प्राप्त हुए हैं ।[4]

(छ) सुरक्षा कवच :

प्रथम काल से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में "लौह पत्त" का उल्लेख प्राप्त होता है जो सम्भवतः समर भूमि में सैनिकों के शस्त्र आदि से सुरक्षा हेतु उपयोग में लाए जाने वाला कवच रहा होगा । यथा–

'तत्तेन अयोपट्टेन' अर्थात् 'तप्त लौह निर्मित पट्ट ।'[5]

अर्थशास्त्र में सैनिकों के सुरक्षा कवच के अन्तर्गत 'लौहपट्ट' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे भुजाओं व शरीर के अन्य अंगो को ढकने वाला कवच कहा गया है । इसके अतिरिक्त 'लोहजालिका' अर्थात् सम्पूर्ण शरीर ढकने वाला एवं 'लौहकवच' का उल्लेख प्राप्त होता है । [6]

---

1. धम्मपद, बुद्धिस्ट लीज़ेन्ड्स, पृ. 186.
2. अर्थशास्त्र, पृ. 210.
3. क्लासिक्ल अकाउण्ट्स आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 193.
4. दि गैन्ज़ेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 160.
5. अंगुत्तरनिकाय, खंड-3, पृ. 253, हि. अनु., पृ. 226.
6. अर्थशास्त्र, पृ. 209-10.

2–स्थापत्य के निर्माण में लौह धातु का उपयोग :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों से राजकीय महत्व के लौह प्राकारों एवं छत से परिवेष्ठित व लोहमयी भूमि से निर्मित बन्धनागार, अन्नागार आदि लौह स्थापत्य के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त भवन एवं दरवाजे में प्रयुक्त की जाने वाली सिटकनी, लोहे की कीलों व ताले का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

(क) लौहमय यातनागृह :

'मज्झिम निकाय' के 'बालपण्डितसुत्तंत' से श्रावस्ती एवं 'अंगुत्तरनिकाय' के 'देवदत्त सुत्तंत' से लोहे के प्राकार से परिवेष्ठित एवं लोहे की छत के ढकी हुई, प्रज्जवलित लोहमय भूमि के विस्तृत क्षेत्रफल में निर्मित यातनागृह का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा –

'चतुक्कणो चतुद्वारो विमत्तो भागसो मितो । अयोवाकार परियन्तो अयसा पटिकुज्जितो तस्स अयोमया भूमि जलिता तेजसा युता समन्ता योजनं सतं करित्वा तिट्ठति सब्बदा ।' अर्थात्

चार कोने, चार द्वारों तथा चार हिस्सों में विभक्त, उसके चारों ओर लोहे की दीवार है, वह लोहे से ढकी है । उसके चारों ओर लोहमय सौ योजनभूमि सदैव आग से प्रज्जवलित रहती है ।'[1]

प्रथम शताब्दी ई. पू. के बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'दिव्यावदान' से श्रावस्ती के कठोरतम् नरक गृह का उल्लेख प्राप्त होता है । इसमें अन्दर की ओर धधकती हुई भट्ठी बनी थी जिसमें अपराधियों को ही नहीं अपितु जो उधर से गुजरता था उसे भी उसमें डाल दिया जाता था । बाद में ये भट्ठी (नरकगृह) बौद्धभिक्षु बालपण्डित के चमत्कारिक प्रभाव के चलते भूमिसात कर दिया गया ।[2] सातवीं शताब्दी ई. के चीनीयात्री श्वान च्वांग ने भी पाटलिपुत्र एवं उज्जैन में इसी प्रकार के कठोरतम यातनागृह का उल्लेख किया है जिसमें धातु की बनी भट्ठी थी तथा उसमें लौह शस्त्र एवं दरान्त विद्यमान थे ।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध पालि ग्रन्थों में पूर्वोक्त वर्णित (अतिशयोक्तिपूर्ण) यातनागृह कठोर कर्म हेतु प्रयुक्त स्थलविशेष रहा होगा तथा कठोरता जैसी सादृश्यता के आधार पर (लौहकर्मों में प्रयुक्त स्थल विशेष) इसकी परिकल्पना बन्धनागार के रूप में की गयी होगी । लोहमय प्राकारों से तात्पर्य

---

1. मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 237, हि. अनु., पृ. 534; अंगुत्तरनिकाय, खंड-1, पृ. 131, हि. अनु., पहला भाग, पृ. 144.
2. कावेल, ई. बी. एवं नील: दिव्यावदान, पृ. 373-76.
3. बील, एस. : बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग-2, पृ. 271.

संभवतः चारों ओर बने चहारदीवारी को लोहे की छड़ों से बनाया गया होगा। पुरातात्विक स्थल जखेड़ा से प्रारम्भिक उ. कृ. मा. सं. चरण से लोहे के छड़ प्राप्त हुए हैं।[1] अयोमयी या लोहमयी भूमि से तात्पर्य अत्यधिक कठोर भूभाग से रहा होगा।

लौह प्राकार से घिरा अन्नागार :

'संयुक्तनिकाय' के 'सापसुत्त' से श्रावस्ती के योजनभर विस्तृत लौह प्राकार से घिरे अन्नागार का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–

'आयसं नगरं योजनं आयामेन योजनं वित्थारेण योजनं उब्बेधेन, पुण्ण सासपान गुकाबद्धं' अर्थात्

'लोहे से घिरा नगर योजन भर लम्बा, योजन भर चौड़ा व योजन भर ऊँचा था जो सरसों से थोप-थोप कर भर दिया गया था।'[2]

(ग) लोहे की कील :

'मज्झिमनिकाय' एवं 'अंगुत्तनिकाय' से लोहे की कील के सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनका उपयोग ठोकने या जोड़ने आदि में किया जाता था। यथा– 'अयोखिलं गमेन्ति' अर्थात् 'लोहे की कील गाड़ते हैं।'[3]

पुरातात्विक स्थलों में छठीं शताब्दी ई.पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक की लोहे की कीलें राजघाट[4] (पैंतीस कीलें), जखेड़ा, कौशाम्बी एवं ओरियूप आदि स्थलों से प्राप्त हुई हैं।[5]

(घ) सिटकनी :

'चुल्लवग्ग' से दरवाज़ें आदि में प्रयुक्त सिटकनी का उल्लेख प्राप्त होता है। इसके लिए 'यैन्द्रकीलं' शब्द व्यवहृत हुआ है।[6]

जखेड़ा एवं कौशाम्बी से दरवाजे के हुक प्राप्त हुए हैं जिन्हें उ. कृ. मा. सं. के प्रारम्भिक चरण का माना गया है।[7]

---

1. दि. गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 160.
2. संयुक्तनिकाय, खंड-2, पृ. 154, हि. अनु., पृ. 271.
3. मज्झिमनिकाय, खंड-3, पृ. 236; अंगुत्तरनिकाय, पृ. 130.
4. सिंह, वीरेन्द्रप्रताप; 'सम आस्पेक्ट्स आफ लाइफ इन एंशियंट वाराणसी एज रिवील्ड थ्रू द आर्क्योलाजिकल सोर्सेज', पी-एच-डी निबंध, का. हि. वि. वि., 1980, चार्ट-2.
5. दि गैंज़ेज सिविलाइजेशन, पृ. 160.
6. चुल्लवग्गपालि, पृ. 236.
7. दि गैज़ेज सिविलाइजेशन, पृ. 160.

(च) लोहे का ताला :

'चुल्लवग्ग' से भिक्षुओं को तीन प्रकार के तालों को उपयोग में लाए जाने के संदर्भ में लोहे के ताले का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

'अनुजानामि-लोह तालं कट्ठ तालं विसाण तालं' अर्थात्

'तीन प्रकार के तालों की अनुमति देता हूँ - लोहे के तालों की, काठ या लकड़ी एवं सींग के बने ताले की ।'[1]

इस प्रकार प्रथम काल से ज्ञात लौह निर्मित वस्तुओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनका सामान्य जनजीवन पर व्यापक प्रभाव था । इन वस्तुओं में सर्वाधिक उल्लेख गृहस्थोपयोगी लौहउपकरणों के प्राप्त होते हैं । इन वस्तुओं का व्यापक प्रभाव पूर्वोत्तर भारत की श्रमण संस्कृति के संदर्भ में परिलक्षित होता है । यही इस काल के लौह संबंधी विवरणों की विशेषता है । प्रायः संघ के नियमनिर्देश के अनुरूप श्रमणों को क्या विहित है अथवा क्या नहीं, इस प्रकार के संदर्भविशेष में उनके दैनिक जीवनचर्या का स्वरूप स्पष्ट होता है । राजकीय महत्व के लौहधातु संबंधित उल्लेखों में लौह अस्त्र-शस्त्र के अपेक्षाकृत (सामान्य जनजीवनमें प्रयुक्त लौह वस्तुओं की अपेक्षा) कम विवरण प्राप्त होते हैं । अतः सामान्य वर्ग में प्रयुक्त होने वाले लौहउपकरणों के संदर्भों से प्रथम काल नगरीय सभ्यता के विकासक्रम में 'सामाजिक व आर्थिक संक्रान्ति' का काल प्रतीत होता है ।

द्वितीय काल : (चतुर्थ शता. ई. पू. से प्रथम शता. ई. पू. तक) :

द्वितीय काल तक आते-आते लौहनिर्मित वस्तुओं का नवीन रूपों में प्रभाव एवं प्रचलन बढ़ गया था । सामान्य उपयोग की वस्तुओं में नवीन प्रकार के लौह के पात्र यथा–कमण्डल व थाली तथा लोहे की सामान्य आकार वाली द्रोणी के उल्लेख मिलते हैं जिनका उपयोग वानप्रस्थी बौद्ध थेरों द्वारा किया जाता था । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस काल तक आते-आते व्यावसायिक जीवन एवं सामरिक क्षेत्रों में एक विकसित लौह प्रौद्योगिक के अन्तर्गत नवीन प्रकार के लौह-उपकरणों का निर्माण किया जाने लगा था। यथा - छेनी, खड्ग व लोहे का डण्डा । एक विकसित लौह व्यवसाय के अन्तर्गत इस काल में पूरे-पूरे कार्यक्षेत्र के रूप में 'कम्मारग्राम' या 'लोहारग्राम' पर प्रकाश पड़ता है जहाँ विभिन्न प्रकार के उपकरणों का निर्माण, उनकी गुणवत्ता की परख, तथा अन्तर्राज्यीय व्यापार-विनिमय के अन्तर्गत इनका निर्यात भी किया जाने लगा था । अन्य नवीन प्रकार की लौह-वस्तुओं में पशुओं को बाँधने के लिए लोहे की सीकड़ व शिकार कर्म में प्रयुक्त

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 236, हि. अनु. 452.

लोहे की जाल, लोहमय वाहन (रथ) तथा मनोरंजन की वस्तु के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । जो द्वितीय काल में क्रमशः विकसित एवं परिवर्तित हो रहे सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के परिचायक हैं ।

(1) सामान्य जन-जीवन में प्रयुक्त लौहसामग्री :

द्वितीय काल से भी प्रथम काल की भांति सामान्य जनजीवन में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार की लौह वस्तुओं के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । इनमें गृहस्थोपयोगी लोहे के पात्रों यथा थाली, कमण्डल एवं द्रोणी इत्यादि तथा छेनी, हल, सीकड़, वाहन, जाल तथा मनोरंजन की लोहमय वस्तु (शश) के उल्लेख मिलते हैं ।

(क) लोहे के पात्र :

द्वितीय काल से लोहे के पात्रों के अन्तर्गत थाली, कमण्डल, द्रोणी एवं कुम्भी के उल्लेख मिलते हैं जिनका उपयोग वानप्रस्थी बौद्ध थेरों द्वारा किया जाता था ।[1]

1. थाली एवं कमण्डल :

'अपदानपालि' एवं 'निद्देसपालि' में बौद्धथेरों द्वारा लोहे की थाली एवं कमण्डल को धारण करने तथा ऐसे पात्रों को ग्रहण करने वाले श्रमण को प्रतिभावान कहा गया है । यथा–

> 'यो लोहथालकं धारेन्ति, धम्माकरकं धारेन्ति, सो समणो
> महेसक्खो ति भणति ।' अर्थात्

'ऐसे भिक्षु जो लोहे की थाली व कमंडल धारण करते हैं, प्रतिभासम्पन्न होते हैं ।'

चाइल्डर्स ने 'थाल' अथवा 'थालिक' को तश्तरी कहा है ।[2] उत्तरी भारत के विभिन्न स्थलों से (श्रमण संस्कृति से जुड़े क्षेत्रविशेष) उ. कृ. मा. सं. के परवर्ती चरणों से लोहे की तश्तरी व छोटे पात्र प्राप्त हुए हैं ।[3]

2. लौह द्रोणी :

अपदानपालि के 'उपसीत्थेरपदान' से वानप्रस्थी बौद्धथेर द्वारा लोहे की द्रोणी को साथ में रखकर व जाकर रहने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. चुल्लनिद्देस, खु. नि., खंड-4, पृ. 268-69, 290; अपदानपालि, खु. नि. भाग-6, प्रथम भाग, पृ. 381.
2. चाइलडर्स, आर.सी.; डिक्शनरी आप पालि लैंग्वेज़, पृ. 358.
3. दि. गैंजेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 162-63.

'लोह द्रोणिं गहेत्वान वनमज्झे बसन्ति ते ।' अर्थात्
'लोहे की द्रोणी को लेकर वन के मध्य वास करते हैं ।'[1]

रीज़ डेविड्स ने द्रोणी को लकड़ी के एक प्रकार का पात्र कहा है ।[2] जातक से बौद्ध भिक्षुओं को सदैव अपने पास भोजन आदि पकाने के लिए कड़ाही रखने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] सांभर से तक्षशिला, नागदा एवं नेवासा से चतुर्थ शता. ई. पू. से तृतीय शता. ई. पू. के काल की लोहे की कड़ाही प्राप्त हुई है ।[4]

लोह कुम्भी :

जातकों एवं 'निद्देसपालि' से लोहे के विशाल आकार के पात्र अर्थात् लोहकुम्भी का उल्लेख प्राप्त होता है जिसे यातनागृह में अपराधियों को दण्डस्वरूप लटकाए जाने के कर्म में प्रयुक्त किया जाता था । यथा–

महती लोह कुंभी ।' अर्थात् 'विशाल आकृति की लोहकुम्भी ।'[5]

सातवीं शदी ई. के चीनी यात्री युवान च्वांग कठोर यातनागृह का उल्लेख करते हुए उसके अन्दर बनी विशाल आकृति की लोहे की कुम्भी (भट्ठी) का उल्लेख किया है ।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि लौह आदि कठोर कर्म में (धातुकर्म) प्रयुक्त भूमिगत भट्ठी की सादृश्यता के आधार पर उपरोक्त उल्लिखित परिकल्पना की गयी है ।

(ख) सिलाई के उपकरण :

'सूचिजातक' एवं 'अपदानपालि' से सिलाई उपकरण के अन्तर्गत लोहे की सुई का वर्णन प्राप्त होता है जिसका निर्माण लोहार ग्राम में अन्य लौह उपकरणों के साथ किया जाता था । यथा–

'इतो दानि पतायन्ति सूचिको बलिसानि च ।' अर्थात्
'यहां सूई वअन्य लौह उपकरण बनाये जाते हैं ।'[7]

---

1. अपदान, खु. नि. भाग-6, प्रथम भाग, पृ. 436.
2. पालि इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 331.
3. त्रिपाठी, प्रभा; प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 223.
4. दि गैंजेज सिविलाइजेशन, पृ. 162-63.
5. जातक, सं. 541, पृ. 197, अनु., पृ. 121; जातक सं. 530, पृ. 64; चुल्लनिद्देस पृ. 252.
6. बील, एस; बुद्धिस्ट रिकार्डस् आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, पृ. 271.
7. जातक, सं. 387, खु. नि., खंड-3, भाग-1, पृ. 138, हि. अनु. पृ. 436, 37. अपदानपालि, पृ. 144.

जातक अट्ठकथा के अनुसार सूई इतनी महीन होती थी कि धातुमय फलकों में आसानी से छिद्र किया जा सकता था ।[1]

(ग) आर्थिक महत्व के लौह उपकरण (माप) :

जातकों एवं मिलिन्दप्रश्न से यातनागृह में अपराधियों को दण्ड दिये जाने के निमित्त उपयोग में लाए गए तप्त लोहे के गोले के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो सम्भवतः तैयार शुद्ध लौह पिण्ड के रूप में माप के उपयोग तथा अन्य लौह उपकरणों को बनाने के काम लाया जाता रहा होगा । यथा–

'तत्तं पकट्ठितं अयोगुलञ्च' अर्थात्
'तत्त लौह गोले को पकड़कर ।'[2]
'सुत्तंत व अयोगुकं' । अर्थात्
'अच्छी प्रकार से तपाया हुआ लोहा ।'[3]

पालि ग्रन्थों से अनाज इत्यादि तौलने के लिए नालि, प्रस्थ, द्रोणी अथवा अम्मण नामक मापकों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें द्रोणी अधिक भार वाला माप था ।[4] अर्थशास्त्र में लोहे की माप बनाए जाने का संदर्भ प्राप्त होता है ।[5]

(घ) सम्पत्ति मूलक लौह धनराशि :

'महाजनक जातक' से काशी नरेश के राजकोष में बहुमूल्य रत्नों व धातु निर्मित वस्तुओं के साथ-साथ कालायस का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'यं किञ्चि रतनं अत्थि कासिराज निवेसने रजतं जातरूपञ्च मुत्ता वेलुरिय बहुं । मणियों संख मुत्तञ्च वत्थकं हरिचंदनं अजिनं दन्तभण्डञ्च लोहं कालायस बहुं ।' अर्थात्

'जो भी काशीराज के घर में सोना चाँदी, रत्न, मोती, माणिक्य, बिल्लौर, शंख, वस्त्र, हरित वर्ण चन्दन, मृगचर्म, हाथीदांत के भाण्ड, ताम्र व काला लौह इत्यादि बहुत से धनराशि हैं ।'[6]

जातक अट्ठकथा के अनुसार अपनी उपरोक्त राज्यलक्ष्मी को काशी नरेश दान में दे देते हैं ।[7] यद्यपि अन्य विवरणों में 'लोह' एवं 'अयस' शब्द एक ही सन्दर्भ में

---

1. जातक, हि. अनु., पृ. 437.
2. जातक, संख्या 530, पृ. 64., हि. अनु. भाग-5, पृ. 355-56,.
3. थेरगाथा, खु. नि., खंड-1, पृ. 346, हि. अनु., पृ. 191.
4. प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, पृ. 312.
5. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 214.
6. जातक, सं. 534, पृ. 104, हि. अनु. भाग-5, पृ. 462.
7. वही, हि. अनु. पृ. 462.

व्यवहृत हुए हैं जहाँ दोनों का अर्थ क्रमशः ताम्र व लौह से ग्रहण किया गया है। किन्तु उपरोक्त संदर्भ में लौह (ताम्र) के बाद 'कालायस' शब्द राज्यलक्ष्मी के अन्तर्गत परिगणित है, जिससे ज्ञात होता है कि कालायस अयस अथवा लौह इस्पात का एक उत्कृष्ट कोटि का प्रकार रहा होगा जिससे निर्मित वस्तु विशेष राज्यलक्ष्मी के अन्तर्गत बहुमूल्य रत्न एवं धातुओं के साथ वर्णित है। अथवा संभवतः सीसामय (कालीधातु) वस्तु के लिए 'कालायस' शब्द प्रयुक्त हुआ होगा।

(च) लौह निर्मित आभूषण : (कुण्डल) :

'महानिद्देसपालि' से एकमात्र लौह आभूषण के अन्तर्गत लोहे का बना एवं उस पर स्वर्णपरत चढ़ा हुआ कुण्डल का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा–

'कुण्डलो लोहंनुमासो वा सुवण्णछन्नो' अर्थात
'लोहे का बना अथवा उस पर स्वर्णपरत चढ़ा कुण्डल।'[1]

भरहुत अंकन में पुरुष आकृति को गोलाकार कर्णाभरण पहने हुए चित्रित किया गया है जिसे कनिघंम ने कुण्डल प्रकार से समीकृत किया है।[2] शिशुपाल गढ़, त्रिपुरी, सांभर, नासिक, नेवासा एवं कौन्डिन्यपुर आदि पुरातात्विक स्थलों से उ. कृ. मा. सं. चरण से लोहे के छल्ले (रिंग) प्राप्त हुए हैं।[3]

(छ) व्यवसायिक जीवन में प्रयुक्त लौह उपकरणः

द्वितीय काल से व्यवसायिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले लौह उपकरणों के अन्तर्गत लोहे के फार, छेनी, हथौड़ा एवं आखेट कर्म में प्रयुक्त लोहे के जाल के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

1. लोहे के फार :

'संकिच्च जातक' एवं 'पानीय जातक' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे के फार का उल्लेख प्राप्त होता है। जिनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है :

- 'दीघे च फारे चिरस्त तापिते' अर्थात्
  'दीर्घकाल तक तपाया (चिर तप्त) लोहे का फार।'[4]
- 'फालं व दिवसं तत्तं' अर्थात्

---

1. महानिद्देसपालि, पृ. 399; संयुक्तनिकाय, हि. अनु., पृ. 75.
2. भरहुत स्तूप, हि. अनु. पृ. 33.
3. दि. गैन्जेज सिविलाइजेशन, पृ. 162-63.
4. जातक, सं. 530, पृ. 64, हि. अनु., भाग-5, पृ. 356.

'दिनभर तप्त फार ।'[1]

उ. कृ. मा. सं. काल से सम्बद्ध लोहे का फार (एक फार) वैशाली जिले के रघुआसोई स्थल से उपलब्ध हुआ है ।[2] नागर से लोहे का फार एन. बी. पी. के बाद के चरणों से प्राप्त हुआ है ।[3] तृतीय शताब्दी ई. पू. से कौशाम्बी से लोहे का फार प्राप्त हुआ है ।[4]

2. शिल्पकार के उपकरण :

जातक एवं मिलिन्दप्रश्न से सुवर्णकार द्वारा धातुकर्म में (दर्शनीय सुवर्ण को) पीटने इत्यादि के लिये उपयोग में लाए जानेवाली छेनी एवं हथौड़े के उल्लेख प्राप्त होते हैं । जिनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है :

- 'लोहेन वि हञ्ञति जातरूपं, अयो सुवण्णं विय दस्सनेय्यं ।' अर्थात् 'लोहे द्वारा जातरूप को पीटा जाता है । लोहा दर्शनीय सुवर्ण को पीटता है ।'[5]
- 'सुवण्णं पि जातिमन्तं लोहेन भिज्जति ।' अर्थात् 'सोना भी लोहे की हथौड़ी द्वारा चूर-चूर कर दिया जाता है ।[6]

उपरोक्त संदर्भ में लौह उपकरण छेनी प्रकार का ज्ञात होता है । पुरातात्विक साक्ष्यों में तक्षशिला, उज्जैन आमरा, सांभर, नेवासा, कौण्डिन्यपुर से उ. कृ. मा. सं. के परवर्ती चरण से[7] तथा राजघाट से चतुर्थ शताब्दी ई. पू. तक की लोहे की छेनी प्राप्त हुयी है ।[8]

3. आखेट कर्म में प्रयुक्त लोहे की जाल :

'रोहणमिगजातक' से मृगों के शिकार हेतु लोहे की जाल को उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है इस बात की अभिव्यक्ति स्वयं बोधिसत्व मृग के मुख से किया गया वर्णित है । यथा—

---

1. जातक, सं. 459, पृ. 227.
2. इंडियन आर्कियोलाजिकल रिर्पोर्ट, 1974-75 की अप्रकाशित सामग्री भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के सौजन्य से प्राप्त
3. दि गैन्जेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 163.
4. वही.
5. जातक, सं. 453, पृ. 222., हि. अनु., चतुर्थ खंड, पृ. 304.
6. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 121. हि. अनु., पृ. 199
7. दि गैन्जेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 162-63.
8. सम आस्पेक्ट्स आफ लाइफ इन एंशियंट वाराणसी एज़ रिवील्ड थ्रू द आर्क्योलाजिकल सोर्सेज ।, पी.एच. डी. निबंध, का. हि. वि. वि., 1980.

'कूटे बद्धोस्मि आयसे' अर्थात् 'लोहे की जाल में फंसा हुआ मैं (मृग) ।'[1]

मिलिन्दप्रश्न' से (लोहे की) बंशी का उल्लेख प्राप्त होता है । इसे मुंह में डालकर (सम्भवतः मछली के) खींचा जाता था । इसके लिये 'बालसमंसिका' अर्थात् बंशी की तरह शब्द प्राप्त होता है ।[2]

4. लोहे की जंजीर :

जातकों से लोहे के बन्धन के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसे गौ आदि को बांधने के लिये उपयोग में लाया जाता था । यथा–

- 'पत्तखंधा सयन्ति गावो' अर्थात् 'लोहे से बंधी गाय ।'[3]
- 'महावेस्सन्तर जातक' से लोहे की जंजीर का उल्लेख प्राप्त होता है यथा– 'आयसं दलहं बंधनं' अर्थात् 'लोहे के बंधन में जकड़ा हुआ ।'[4]

मज्झिमनिकाय से वृषभ आदि पशु को खूँटे से बांधने के लिए 'सन्दानं' (पगहों) तथा 'जाबा' (मुंह बादने के लिए) के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[5] 'सुत्तनिपात' में वृषभों को अच्छी तरह से बँटे मुञ्ज के पगहों से बाँधने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[6]

(ज) अन्य प्रकार के लौह उकरपण :

द्वितीय काल से सामान्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले अन्य लौह वस्तुओं के अन्तर्गत मनोरंजन की वस्तु तथा वाहन के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिए 'लोहमयशश' तथा 'लोहमयरथ' के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

1. मनोरंजन की वस्तु लोहमयशश :

'घटपण्डित जातक' से लोहे से बने शश (चन्द्रमा) का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार मन्दबुद्धि का घटपंडित नामक ब्राह्मण मन बहलाने के लिए आकाश स्थित चन्द्रमा को पाने के लिए मचलता है किन्तु उसे यह कहकर शान्त करने का प्रयास किया जाता है कि बदले में अन्य धातु से बने चन्द्रमा को दिया जा सकता है किन्तु उसे नहीं ।

---

1. जातक, भाग-1, पृ. 234, हि. अनु., पृ. 203.
2. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ - 241 .
3. जातक, संख्या - 512, पृष्ठ - 364, हिन्दी अनुवाद, भाग-5, पृष्ठ - 107.
4. जातक, संख्या - 547, पृष्ठ - 330., हिन्दी अनुवाद, भाग-6, पृष्ठ - 604.
5. मज्झिमनिकाय, जि. 2, पृ. 465; सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ, 273.
6. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 273.

'लोहमय ससं करिस्सामि ते ।' अर्थात्
'तुम्हारे लिए लोहमय शश बनवाऊंगा ।'[1]

उपरोक्त संदर्भ में ही जातक से सुवर्णमय, रजतमय एवं मणिमय शश को बनवाकर दिये जाने का संदर्भ भी प्राप्त होता है ।[2]

2. लोहमय वाहन :

'मट्ठकुण्डली जातक' से लोहमय रथ का उल्लेख प्राप्त होता है । जातक में आए संदर्भ के अनुसार काशी के महावैभवशाली ब्राह्मण अपने पुत्र के वियोग से दुखित श्मशान घाट पर भटकता रहता है । उसकी स्थिति को देखकर स्वयं देवदूत पुत्र रूप धारण करके उसके समक्ष उपस्थित होते हैं तथा उनसे सूर्य व चन्द्र की भाँति अत्यधिक चमकदार रथ की कामना करते हैं । शोकाकुल ब्राह्मण उसे अप्राप्य वस्तु कहकर अन्य धातुओं से निर्मित रथ को देने की बात कहते हैं यथा–

'सोवण्णमयं मणीमयं लोहमयं अथ च रूपियमयं पावद रथ कारयामि चक्कयुगं पटिपादयापि ते । 'अर्थात्

'स्वर्णमय, मणिमय, लोहमय एवं रजतमय जैसा कहो वैसा रथ बनवा देता हूँ तथा रथ के चक्र (पहियों) की जोड़ी दूँगा ।'[3]

न कामना करने योग्य वस्तु की इच्छा रखने वाले को मूर्ख कह कर देवदूत उपरोक्त उपमा के माध्यम से ब्राह्मण की पीड़ा को शान्त करते हैं ।[4] मिलिन्दप्रश्न से बौद्ध धर्म दर्शन के परिप्रेक्ष्य में रथ की एवं उसके चक्र की विस्तार से उपमा दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[5]

2. राजकीय महत्व के लौह निर्मित रक्षा उपकरण :

द्वितीय काल तक आते-आते सामरिक महत्व के लौह रक्षा उपकरणों का महत्व बढ़ गया था । इस काल से सामाजिक दण्डविधान के अन्तर्गत यातनागृह में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न प्रकार के अस्त्रों के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात से निर्मित व जंगरहित सामरिक महत्व के रक्षा उपकरणों के उल्लेख भी मिलते हैं । जिनका उपयोग अन्तर्राज्यीय संघर्ष के समय किया गया था । इन अस्त्रों में लोहे के

---

1. जातक, सं. 454, पृ. 216, हि. अनु., भाग-4, पृ. 286.
2. वही, हि. अनु., भाग-4, पृ. 286.
3. जातक, सं. 449, पृ. 209, हि. अनु., भाग-4, पृ. 261.
4. वही, हि. अनु. पृ. 261.
5. मिलिन्दप्रश्न, हि. अनु., पृ. 20.

खड्ग, शक्तिआयुध, लौहदण्ड, तोमर, बाण, लोहमय शूल, एवं लोहे के कूट व बर्छी के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।

(क)– लौह निर्मित खड्ग–

जातकों से यातनागृह में अपराधियों को दंडित करने के लिए तथा सामरिक क्षेत्र में उत्कृष्ट कोटि के जंगरहित लौह इस्पात से निर्मित निस्त्रिंश प्रकार के खड्ग का उल्लेख प्राप्त होता है । ये खड्ग समरभूमि में अपनी तीक्ष्णता के कारण निर्णायक भूमिका निभाने में सक्षम था । खड्ग के लिए 'नेत्तिंसि' शब्द व्यवहृत हुआ है । यथा–

'पाठीनवण्णा नेतिंसा, तेलधोतायोपभस्सरा
निट्ठिता नरवीरेहि, समधारा सुनिस्सिता ।
वेल्लालिनो वीतमला सिक्कायसमया दलहा,
गहिता बलवन्तेहि सुप्पहारिहि ।' अर्थात्

'पाठीन (मछली) के वर्ण की, तेल लगी हुयी चमकदार, बराबर धार वाली, तेज तलवारें जिन्हें वीर पुरुष धारण किये हुए थे, मध्यान्ह सूर्य की भांति चमकदार जंगरहित लोहे की बनी, प्रहार करने में पटु बलवान पुरुषों द्वारा धारण की हुई तलवारें थीं ।'[1] .

'महाउम्मग्गजातक' में आए उपरोक्त संदर्भ की अट्ठकथा के अनुसार इस प्रकार के खड्ग को काम्पिल्य राष्ट्र के शूरवीरों द्वारा विदेह राज्य के सैनिकों के विरुद्ध उपयोग में लाया गया था ।[2] 'संकिच्चजातक' से भी नेत्तिंसी अर्थात् निस्त्रिंश प्रकार के तलवार का वर्णन प्राप्त होता है । इसका उपयोग यातनागृह में अपराधी को दण्ड देने के लिए उपयोग में लाया गया है ।[3]

एरियन ने पदाति सैनिकों के पास तलवार रखने का उल्लेख किया है । तलवार का फल चौड़ा होता था किन्तु लम्बाई में तीन हाथ से अधिक नहीं होता था । इसका उपयोग सम्मुख युद्ध में किया जाता था ।[4] अर्थशास्त्र में तीन प्रकार के खड्गों का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–निस्त्रिंश, अर्थात् जिसका अग्रभाग अत्यधिक झुका हो, मण्डलाग्र, अर्थात् जिसका अग्रभाग गोलाकार हो एवं असियष्टि अर्थात् जो अत्यन्त पतली व लम्बी हो ।[5] पालि जातक से ज्ञात निस्त्रिंश प्रकार की खड्ग भी संभवतः दुधारी एवं अत्यधिक घुमावदार (हल्केपन से युक्त) रही होगी ।

---

1. जातक, सं. 542, पृ. 490. जातक पालि, पृ. 224
2. जातक अट्ठकथा, हि. अनु., पृ. 490.
3. जातक सं. 530, पृ. 64, हि. अनु., भाग–5, पृ. 355.
4. क्लासिकल अका. आफ एन्शियंट इंडिया, पृ 193.
5. अर्थशास्त्र, पृ. 209.

(ख)– लोह निर्मित शक्ति आयुध–

'महाउम्मग्गजातक' एवं 'संकिच्चजातक' से क्रमशः समरभूमि में एवं यातनागृह में प्रयुक्त किये जाने वाले शक्ति आयुध के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके लिये 'सत्तियो' एवं 'सत्तीहि' शब्द प्राप्त होते हैं । इनका क्रमशः विवरण इस प्रकार है–

'सत्तियो तेलधोतायो अच्चिमन्ती पभस्सरा,
विज्जोतमाना तिट्ठन्तु सतरंसा वियतारिका ।' अर्थात्

'तेल से धोयी हुयी, प्रज्वलित एवं चमकती हुई शक्तियां औषधि तारे की तरह दीप्त होती थीं ।'[1]

'पक्कञ्च सत्तीहि हनन्ति नित्त .च' अर्थात्
'नित्य शक्ति आयुध से पकड़कर प्रहार करते थे ।'[2]

'संकिच्चजातक' से प्राप्त संदर्भ के अनुसार शक्ति आयुध को नरक पाल द्वारा अपराधियों को दंडित करने के लिये उपयोग में लाया गया था ।[3] अर्थशास्त्र में शक्तिआयुध को कनेर के पत्ते की आकृति वाले अग्रभाग को हथियार कहा गया है ।[4] मेगास्थनीज़ ने भालाप्रकार का उल्लेख किया है ।[5]

(ग)– अयोमय बाण–

'महानिदेसपालि' से लोहे के बाण का उल्लेख प्राप्त होता है जो किसी भी प्रकार के आघात में सक्षम था । यथा–

'अयोमयेन वा सल्लेनबिद्धो ।' अर्थात्
'लोहमय बाणों द्वारा बिंधा जाता हुआ ।'[6]

जातक से नरकपाल द्वारा बाण से सताए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसमें बाण के लिये 'उसूहि' शब्द प्राप्त होता है ।[7] हेरोडोटस के अनुसार बाण की नोंक (फलक) लोहे की बनी होती थी ।[8] अर्थशास्त्र में पांच प्रकार के बाणों का

---

1. जातक, सं. 542, पृ. 223-4, हि. अनु., भाग–6, पृ. 490.
2. जातक, सं. 530, पृ. 64, हि. अनु., 355 (पृ.).
3. वही., हि. अनु., पृ. 355.;
3. अर्थशास्त्र, पृ. 209.
4. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एंशियंट इंडिया, पृ. 270-71
5. महानिद्देस, खु. नि., भाग–5, पृ. 6.
6. जातक, सं. 530, पृ. 64, हि.अनु., पृ. 355.
7. ,शास्त्री नीलकंठ, नंद-मौर्य युगीन भारत, पृ. 86.

उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें 'दण्डासन' अर्थात् लोहे व लकड़ी की बनी तथा 'नारान्च' अर्थात् लौह निर्मित्त बाण का उल्लेख मिलता है । अर्थशास्त्र के अनुसार इन बाणों के अग्रभाग में लोहे, हड्डी व पुष्ट लकड़ी से निर्मित नोंक किसी भी प्रकार के आघात में सक्षम थी ।[1] एरियन ने पदाति सैनिकों के द्वारा धारण किये हुए धनुषबाण का उल्लेख किया है । बाण तीन गज लम्बा होता था । भारतीय धनुर्धर के तीर को ढाल या कवच नहीं रोक पाते थे ।[2]

(घ)– लोहमय शूल–

जातकों एवं मिलिन्दप्रश्न से आन्तरिक दण्ड विधान में प्रयुक्त एवं तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहे के शूल का उल्लेख प्राप्त होता है जो सम्भवतः त्रिशूल प्रकार का आयुध रहा होगा । इसके लिये 'अयोमयेहि–तिक्खेहि', 'अयोमया सिम्बलियो' एवं 'अयोसूलं' शब्द प्राप्त हुए हैं ।

1– अयोमयेहि तिक्खेहि–

'महानारदकाश्यपजातक' से मनुष्य का रक्त बहाने वाली अत्यन्त तीक्ष्ण लोहे की शूल का वर्णन प्राप्त होता है । इस प्रकार का आयुध नरकपाल द्वारा परस्त्री गमन करने वाले अपराधी व्यक्ति को दंडित करने के लिये उपयोग में लाया गया था । यथा–

'अयोमयेहि तिक्खेहि नरलोहितपायिभि । ' अर्थात्
'लोहे की बनी कांटी (शूल) जो मनुष्य का रक्त पीने में सक्षम थी ।'[3]
'अयोमया सिम्बलियो' अर्थात् 'लोहमय कांटा ।' [4]

3– अयोसूलं–

'मिलिन्दप्रश्न' से तकनीकी ज्ञान के संदर्भ में लोहमय शूल का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'दिवसं सन्तत्तं अयोसूलं' अर्थात्
'दिनभर तपाया हुआ लोहे का शूल ।'[5]

अर्थशास्त्र में शूल प्रकार के आयुध का उल्लेख प्राप्त होता है ।[6] एरियन ने भारतीय अश्वारोहियों के पास सौनिया नामक शूल के होने का उल्लेख किया है जिनका फलक पदातियों के फलकों से छोटा होता था । [7]

---

1. अर्थशास्त्र, पृ. 209.
2. क्लासिकल अकाउण्ट्स आफ एन्शियंट इंडिया, पृ. 270-71.
3. जातक, सं. 545, पृ. 284-85, हि. अनु., भाग-6, पृ. 288.
4. जातक, सं. 530, पृ. 69 हि. अनु., भाग- पृ. 356.
5. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 204, हि. अनु., पृ. 209.
6. अर्थशास्त्र, पृ. 209.
7. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृ. 270-71.

(च) लोहे का डण्डा (बल्लम)–

'महाउम्मग्गजातक' से काम्पिल्य राज्य के शूरवीरों द्वारा विदेह राज्य के सैनिकों के विरुद्ध विचित्र दण्ड को उपयोग में लायेजाने का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके आगे शत्रु के महानाग (हाथी या हस्ति) को पराजय का सामना करना पड़ता था। यथा–

'सूरा चित दण्ड युत्तायुधा, पक्खन्दिनी महानागा हत्थीनं होन्तु सम्मुखा।' अर्थात्

'बहादुर विचित्र दण्डयुक्त आयुध को लेकर महानाग के (शत्रुओं) समक्ष कूद कर सम्मुख हो जाते थे।'[1]

अर्थशास्त्र में 'हस्तिवारक' नामक आयुध का उल्लेख प्राप्त होता है।[2]

(छ) लोहे की बर्छी–

'थेरगाथा' से नरकगृह में विद्यमान शतकों की संख्या में लोहे की बर्छी के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा–

'सतं आसि अयोसंकुना' अर्थात्

'वहां शतकों की संख्या में लोहे की बर्छी थी।'[3]

(ज) लौहकूट–

'अयसकूटजातक' एवं 'संकिच्चजातंक' से नरक के द्वारपाल द्वारा तथा नरकगृह में प्रयुक्त लौह कूट नामक शस्त्र के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा–

1– 'सब्बायसं कूटमतिप्पमाणं पुग्गयय यो तिट्ठसि ?' अर्थात्
'बड़े अयसकूट को धारण किये हुए कौन खड़ा है?'[4]

2– 'अयोमयेन कूटेन सिरं भिन्देय्युमेसदा।' अर्थात्
'अयोमय कूट द्वारा सिर पर सदैव प्रहार करते हैं।'[5]

3– 'लोहकूटेहि हञ्ञमाना।' 'अयोकूटेहि हञ्ञति।' अर्थात्
'लौहकूट से मारे जाते हुए' तथा 'लौहकूट से मारते हैं।'[6]

(झ) अंकुसी–

जातक एवं मिलिन्दप्रश्न से क्रमशः हाथी को काबू में लाने के लिए तथा मुंह में रखे जाने वाले (अश्वों के) लोहे के अंकुश के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है।

---

1. जातक, सं. 542, पृ. 224, हि. अनु., भाग-6, पृ. 490.
2. अर्थशास्त्र, पृ. 209.
3. थेरगाथा, खु. नि., खंड-1, पृ. 389, हि. अनु. पृ. 260.
4. जातक, स., 347, पृ. 108, हि. अनु., भाग-3, पृ. 310.
5. जातक, सं. 530, पृ. 64, हि. अनु., भाग-5, पृ. 356.
6. वही.

1– 'तोमरंकुस'. [1]

2– मिलिन्दप्रश्न से प्राप्त संदर्भ में लौह अंकुश को मुंह में डालकर खींचने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

तोमर–

'मातुपोसकजातक' से युद्धभूमि में हथवान को तोमर लेकर सदैव तत्पर रहने का उल्लेख प्राप्त होता है । हाथी को नियंत्रण में रखने के लिए अंकुशी को साथ लेकर हाथी पर आरूढ़ होने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'आरूहा तोमराकुंसं,' एवं

गामणिपेहि तोमरंकुसपाणिहि ।' अर्थात् तोमर व अंकुसी लिए हथवान (ग्रामणी) हाथियों पर आरूढ़ है ।' [2]

अर्थशास्त्र में तोमर को बाण के समान तेजमुख वाला औजार या आयुध कहा गया है ।[3] पुरातात्विक उत्खननों में तृतीय-द्वितीय शता. ई. पू. के वाणाग्र, खड्ग, भाला फलक, बल्लभ, एवं छूरा इत्यादि लौह निर्मित औजार प्राप्त हुए हैं । इनमें वैशाली एवं सोनपुर से बल्लम, वैशाली से छुराफलक, मैसान, प्रहलादपुर, स्वहगौरा सोनपुर एवं श्रावस्ती से वाणाग्र, सोनपुर एवं ओरियूप से भालाफलक तथा वैशाली से खड्ग एवं प्रभास से लोहे का डण्डा प्राप्त हुआ है ।[4] लोहे का पांचा रहा होगा।[5]

एरियन ने घोड़े के मुंह में रखे जाने वाले लोहे के शूल का उल्लेख किया है जो उसे नियंत्रण में रखता था । इंडिका से प्राप्त संदर्भ के अनुसार पांचा या शूल लोहे अथवा पीतल के छोटे-छोटे कांटेनुमा टुकड़े से बने होते थे जिनकी नोंक अन्दर की तरफ होती है किन्तु यह बहुत नुकीले नहीं होते हैं । धनी अपने घोड़ों की लगाम में हाथी दांत के बने कांटों का प्रयोग करते थे ।[6] तक्षशिला से मौर्यकालीन तथा

---

1. जातकं, सं. 455, पृ. 218, हि. अनु., भाग-, पृ.
2. वही, जातक सं., 455. पृ. 218.
3. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 211.
4. कृष्णदेव एवं मिश्र, विजयकान्त, वैशाली एक्सकेवेशन्स 1950, 1961, पृ. 5 और 66; सिन्हा, बी. पी. एवं वर्मा, बी. एस., सोनपुर एक्सकेवेशन्स, 1956, 1959-62, पटना, 197, पृ. 8, 13, नारायण, ए. के., एवंम राय, त्रिभुवन नारायण, दि एक्सकेवेशन्स ऐट प्रहलादपुर, मार्च-अप्रैल, 1963, वाराणसी, 1968, पृ. 13, 18 तथा 63, सोनपुर एक्सकेवेशन्स, पृ. 8, 13, 128 तथा 129, इंडियन आर्कियोलाजिकल रिपोर्ट 1961-62, पृ. 4-5, 1965-66, पृ. 51, 1966-67, पृ. 6, 1956, 57 (लोहे की कील), पृ. 190 अल्तेकर, ए. एस., एवं मिश्र, वी. के. रिपोर्ट आन कुमराहार एक्सकेवेशन्स, (लोहे की कांटी), 1951-55, पटना, 1959, पृ. 19, 140 तथा 141.
5. मिलिन्दप्रश्न, हि. अनु., पृ. 241.
6. शास्त्री, नीलकंठ नंद-मौर्य युगीन भारत, पृ. 116.

श्रावस्ती से छठी शताब्दी ई. पू. से तृतीय शताब्दी ई. पू. के काल की हाथी की अंकुसी प्राप्त हुई है ।[1]

(झ) राजकीय महत्व के अन्य लौह वस्तुएँ–

राजकीय महत्व के अन्य लौह वस्तुओं में सैनिकों के द्वारा प्रयुक्त सुरक्षा कवचों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो समर भूमि में शत्रुओं के आयुधों का सामना करने में समर्थ थे । यथा–

'पताका वम्पिनो सूरा असि चम्मस्सकेविरा माणवा चक्किनो सूरा।' अर्थात्

'पताकाएं एवं कवच धारण करने वाले, ढाल तलवार चलाने में पंडित ।'[2]

'गुणिकायूर धारिणं ।' अर्थात्

'कवच रूपी बाजूबन्ध पहनने वाले ।'[3]

मिलिन्दप्रश्न' तक्षशिला सिपाहियों के अभेद्य जालीदार कवच पहन कर मैदान में उतरने का उल्लेख करता है ।[4] अर्थशास्त्र में 'लोहजालिका' अर्थात् सम्पूर्ण शरीर ढकने वाला जाल, 'लौहकवच' अर्थात् छाती व पीठ ढकने वाला, सूत्रकंकण, अर्थात सूत का बना कवच, चर्म, खुर तथा सींग से निर्मित कवचों के उल्लेख प्राप्त होते हैं ।[5]

(3) राजकीय महत्व के लौहमय स्थापत्य–

द्वितीय काल तक आते-आते विशेष प्रकार के राजकीय महत्व के बने लौहमय स्थापत्य के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें लौह निर्मित गुप्त शालाएं, कैदखाना, यातनागृह तथा ऐसे लौहमय राजकीय भवन के उल्लेख प्राप्त होते हैं जहां सूर्य व चन्द्रमा की रोशनी तक नहीं पहुंच सकती थी । ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल तक आते-आते राजनैतिक अस्थिरिता से स्थिरता की जो प्रक्रिया प्रारम्भ होती है ऐसी परिस्थितियों को संभवतः ध्यान में रखते हुए सुरक्षा आदि की दृष्टि से भूमिगत (तहखाना) शालाओं की नियोजना की गयी होगी जहां बाह्य भाग की अपेक्षा सूर्य व चंद्र का प्रकाश नहीं के बराबर पहुंचता था । लौहमय प्राकारों से निर्मित यातनागृह अथवा कैदखाने के निर्माण में संभवतः उसके चारों ओर बने चहारदीवारी के ऊपर लोहे की छड़ें स्थापित करके उन्हें सशक्त बनाया जाता रहा होगा ।

---

1. मार्शल, जान तक्षशिला, खंड-2, आई. ए. आर., 1901, 1910; सिन्हा, के. के. एक्सकेवेशनूस एट श्रावस्ती, 1907, पृ. 14, 21, 67, 68.
2. जातक, सं. 542, पृ. 224, हि. अनु., भाग-6, पृ. 90.
3. जातक; सं. 542, पृ. 224, हि. अनु. पृ. 490.
4. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 224.
5. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 211.

(क) लौह निर्मित शाला–

'नागराज जातक' से करम्बिय पत्तन में लोह निर्मित अपेक्षित रहस्यमय शालाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यथा–

'अस्स नगरं महन्तं, अट्ठारख आयसं भद्दसालं ।

सामन्त खाता परिखा उपेतं, एवं पि मे ते इध गुह्य मन्ता ।'

अर्थात्, 'बड़ा भारी लोह निर्मित अपेक्षित शालाओं से युक्त चारों ओर खाइयों वाला नगर है, वहां वे लोग बसते हैं जो रहस्य को रखते हैं ।' [1]

(ख) अयोघर–

'चरियापिटक' से वाराणसी नरेश के लौह घर का उल्लेख प्राप्त होता है जहां सूर्य व चन्द्रमा का प्रकाश नहीं पहुंच पाता था । यथा–

'अयोघरम्हि संबद्धो, अप्पभे चन्द सूरिये' अर्थात्

'लोहे के बने घर में मेरा पालन-पोषण हुआ जहां सूर्य व चन्द्रमा की रोशनी भी नहीं पहुंच पाती थी ।'[2]

जातक की अट्ठकथा के अनुसार काशी के लौह प्रासाद में बोधिसत्व का जन्म हुआ था । प्राप्त संदर्भ के अनुसार लोहे की प्रशंसा करते हुए भगवान बुद्ध पूर्वजन्म में लौह घर में अपने जन्म को गौरवपूर्ण बताते हैं । [3]

ऐसा प्रतीत होता है सुरक्षा आदि को ध्यान मे रखते हुए भूमिगत शालाओं का निर्माण किया जाता रहा होगा जिसका उपयोग गुप्तचरशाला के रूप में किया जाता रहा होगा । इस प्रकार के वास्तु अवशेषों के निर्माण में उनके चारों तरफ बने किवाड़ एवं चहारदीवारी में लौह का उपयोग किया जाता रहा होगा ।

(ग) आयस नगर–

'चतुद्वारजातक' से लोहे की चहारदीवारी वाले वाराणसी के कैदखाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसमें कैद व्यक्ति बाहर निकलने में असमर्थ होता था । यथा–

'चतुद्वारमिदं नगरं, आयसं दलहपाकारास्या ।' अर्थात्

'चारों द्वारों वाले, लोहे के प्राकार से निर्मित नगर में घिरा हूं ।' [4]

---

1. जातक, सं., 518, खु. नि., खंड-3, भाग-1, पृ. 391, हि. अनु., पृ. 169.
2. चरियापिटकपालि, खु. नि. भाग-7, पृ. 66.
3. जातक अट्ठकथा, पृ. 355.
4. जातक, सं. 439, पृ. 192, हि. अनु., पृ. 206.

अर्थशास्त्र में स्थापत्य आदि के सन्दर्भ में प्रत्येक घर के चारों ओर चारों कोनों पर लोहे के छोटे खम्भे गाड़ कर तथा उसमें तार खींचकर सेतु (सीमा) के बनवाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1]

(घ) यातना गृह–

'संकिच्च जातक' एवं 'चुल्लनिद्देस' से लौह प्राकार, छत व भूमि वाले काशी के नरकगृह का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

> 'अयोपाकार परियन्ता अयसा पटि कुज्जिता ।
> तेस अयोमयाभूमि जलिता तेजसायुता समन्ता योजनसतं
> पुरा तिट्ठन्ति सव्बदा ।' अर्थात्

'उसके चारों ओर लौह प्राकार, लौहमय छत से परिवेष्ठित तथा योजन भर विस्तृत जलती हुयी लोहे की भूमि थी ।'[2]

सातवीं सदी के चीनी यात्री श्वान च्वांग ने पाटलिपुत्र एवं उज्जैन के कठोरतम कारागृह का वर्णन किया है जिसमें दरान्तियां (सताने वाले हथियार) विद्यमान होते थे । श्वान च्वांग ने पाटलिपुत्र के नरक गृह को मौर्यकाल का बतलाते हुए कहा है कि अशोक के पुराने प्रासाद के उत्तर में एक प्रस्तर स्तम्भ था जो दसियों फुट ऊंचा था । इसी स्थान के पास नरकगृह बनवाया गया था ।[3] पुरातात्विक उत्खननों में वाराणसी (राजघाट), श्रावस्ती, वैशाली, उज्जैन व मध्य एवं पश्चिम भारत के स्थलों से पकी मिट्टी के ईटों के बने भवन-अवशेष प्राप्त हुए हैं ।[4]

(च) लोहे की कील–

'निद्देसपालि' से दीवाल इत्यादि में ठोंकने के लिये लोहे की कील को उपयोग में लाये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'अयोखिलं गमेन्ति' अर्थात् 'लोहे की कील गाड़ते हैं ।'[5]

इस प्रकार द्वितीय काल के लौह निर्मित वस्तुओं के विवरणों से ज्ञात होता है कि सामान्य उपयोग की लौह वस्तुओं के साथ-साथ लौह निर्मित अस्त्र-शस्त्र का इस काल तक आते-आते उपयोग बढ़ गया था । मात्र उपयोगिता की दृष्टि से ही नहीं अपितु

---

1. अर्थशास्त्र, तृतीय अधिकरण, अध्याय 8, पृ. 350.
2. जातक, सं. 530, पृ. 64, हि. अनु., भाग-5, पृ. 355, 56. चुल्लनिद्देस, खु. नि., भाग-5, पृ. 252.
3. बील, एस. बुद्धिस्ट रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग-2, पृ. 271.
4. दि गैन्जेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 148-154.
5. महानिद्देस, पृ. 346-47, चुल्लनिद्देस, पृ. 251.

सामरिक महत्व के रक्षा उपकरणों में उत्कृष्ट कोटि के लौहइस्पात को निर्माण कार्य में प्रयुक्त किया जाने लगा था । इसी प्रकार शिल्पकारों के नवीन प्रकार के उपकरण का उल्लेख भी मिलता है । राजकीय महत्व के लौह स्थापत्य संबंधी उल्लेखों में धातु का विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाने लगा था । दोनो ही कालों से प्राप्त लौहवस्तुओं की तालिका अगले पृष्ठ में दी गयी है ।

कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में लौहमय वस्तुओं का तुलनात्मक विवेचन—

पालि ग्रन्थों के दोनों चरणों से प्राप्त लौहमय वस्तुओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सामान्य उपयोग में तथा राजकीय महत्व के लौह उपकरणों का दोनों ही कालों में उपयोग किया गया था किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करने पर ज्ञात होता है कि जहां प्रथम काल में सामान्य उपयोग की लौह वस्तुओं का ज्यादा प्रचलन था विशेषकर दैनन्दिन जीवन में प्रयुक्त होने वाले लोहे के पात्र आदि वहीं द्वितीय काल में राजकीय महत्व के लौह उपकरणों का प्रचलन बढ़ गया था । इस काल तक आते-आते राजकीय महत्व के लौह उपकरणों में नवीन प्रकार के अस्त्रों यथा खड्ग, बल्लम, लोहे का डण्डा, तोमर तथा युद्धभूमि में हस्ति एवं अश्व को नियंत्रण में रखने के लिए लोहे की अंकुसी को उपयोग में लाये जाने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार स्थापत्य संबंधी उदाहरणों के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रथम काल में जहां लौह छड़ों एवं प्राकार से यातनागृह एवं अन्नागार का निर्माण किया गया था वहीं द्वितीय काल तक आते-आते भूमिगत लौह स्थापत्य की बृहद् नियोजना पर प्रकाश पड़ता है । अतः प्रथम काल जहां सामाजिक व आर्थिक संक्रान्ति का काल प्रतीत होता है वहीं द्वितीय काल सामाजिक-आर्थिक विकास के साथ-साथ राजनैतिक विकास की प्रक्रिया का काल ज्ञात होता है ।

लौह प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोत अथवा प्राप्ति स्थल—

विश्व के सबसे समृद्ध लौह उत्पादक देशों में भारतवर्ष का प्रमुख स्थान है । भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रमुख राज्यों से लौह अयस्क को प्राप्त किया जाता रहा है । बौद्ध ग्रन्थों का कार्यक्षेत्र मुख्यतः बिहार एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश माना जाता है । इस पूरे क्षेत्र मे अत्यन्त उच्च कोटि के लौह अयस्क विशेषकर दक्षिण बिहार के पर्वतीय अंचलों से प्रचुर मात्रा में (लौह अयस्क) प्राप्त किया जाता है । इसमें हेमेटाइट व मैग्नेटाइट जैसे लौह अयस्क, जिसमें लौह धातु सर्वाधिक परिमाण अथवा प्रतिशत में प्राप्त की जाती है, इसी क्षेत्र की लौह अयस्क खानों से प्राप्त किये जाते हैं । बौद्धकालीन भारत में नगरीकरण तथा मगध साम्राज्यकी स्थापना में अन्य कारकों के साथ-साथ लौह धातु का अमूल्य योगदान रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से लौह धातु विषयक विवरणों के अध्ययन से प्राकृतिक अवस्था में लौह धातु के पाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । यद्यपि इस संबंध में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता है तथापि इस सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता कि विकसित लौह व्यवसाय के रूप में बौद्ध कालीन पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न राज्यों अथवा क्षेत्रों से लौह धातु को स्थानीय रूप से अथवा आसपास के खानों द्वारा प्राप्त किया जाता रहा होगा । प्राचीन पालि ग्रन्थों के अध्ययन से खानों से लौह प्राप्ति के अन्तर्गत पृथ्वी के भू-खनिज तत्वों के रूप में धातु की विद्यमानता एवं खुदाइयों के माध्यम से लौह धातु को प्राप्त किये जाने के संदर्भ प्राप्त होते हैं ।

(1) भू-खनिज तत्व लौह–

'अभिधम्मपिटकसाहित्य' से पृथ्वी के आंतरिक खनिज तत्वों के अंतर्गत लौह धातु की विद्यमानता का वर्णन प्राप्त होता है यथा–

'अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं' मुत्तामणि वेकुरियो संखो सिला पवाळं रजतं जातरूपं लोहितांको मसारगल्लं तिणं कट्ठं सक्खरा कठलं भूमि पाषाणो पब्बतो ।' अर्थात्

'लौह, ताम्र, रांगा, सीसा, जस्ता, मुक्ता मणि, बिल्लौर, शंख, सिला, मूंगा, रजत, जातरूप, लोहितांक, मसारगल्ल, तृण, मूंज, काठ इत्यादि आंतरिक एवं बाह्य भूमि पाषाण एवं पर्वत आदि हैं ।'[1]

(2) खुदाई से प्राप्त लौह धातु–

'जरुदपान जातक' से वाराणसी के समीप कान्तार नामक स्थल से जलाशय की खुदाई में श्रावस्ती के वणिक दल को विभिन्न धातुओं के क्रम में सर्वप्रथम लौहधातु को प्राप्त किये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'जरूदपानं खण्णमाना वणिजा उदकत्थिता । अज्झुगमुं अयसं लोहं तिपु सीसं च वाणिजा रजतं, जातरूपं च मुक्ता वेलुरियो बहु ।'[2]

'दीर्घनिकाय' के अनुसार श्रावस्ती के वणिक दल को वाराणसी गमन के समय मार्ग में क्रमशः उपरोक्त धातुएं प्राप्त हुई थीं जिन्हें वणिक दल मार्ग में ही छोड़ते हुए आगे-आगे बढ़े व अन्त में वाराणसी के समीप सुवर्ण को प्राप्त किये ।[3] अर्थशास्त्र के अनुसार ऐसे भूमिखंड जिनके जमीन चिकने पत्थरों वाले (कुरूम्ब), श्वेत एवं लाल खिले हुए निर्गुण्डी पुष्प के समान रंग वाले हों वहां तीक्ष्ण लोहे की खान समझना

1. अभिधम्मपिटक, विभंगपालि, पृ. 102. हिन्दी अनुवाद–ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, पृष्ठ–42.
2. जातकपालि, संख्या 256, पृ. 68.
3. दीघनिकाय, खंड-2, पृ. 260-61.

चाहिए । कौवे के अण्डे या भोजपत्र के तुल्य आकार वाले भू-भाग में वैकृन्तक लोहे की विद्यमानता समझी जानी चाहिए ।[1] इंडिका के अनुसार भारत में सुवर्ण, रजत व ताम्र के साथ लोहा भी प्राप्त किया जाता था जिनसे आभूषण एवं अस्त्र-शस्त्र का निर्माण किया जाता था । [2]

लौह प्राप्ति की सम्भावनाओं में पूर्वोत्तर भारत के प्रसिद्ध लौह व्यावसायिक क्षेत्र के अन्तर्गत लोहार ग्राम[3] (मगध के दक्षिणागिरि के आसपास स्थित), सुन्दरिक नदी[4] (उत्तरी कोसल की दक्षिणी सीमा पर स्थित)[5] एवं कण्णपेण्णा नदी के समीप[6] स्थलों अथवा आसपास के क्षेत्रों से लौह धातु को प्राप्त किया जाता रहा होगा । पुरातात्विक साक्ष्यों से छठीं शताब्दी ई. पू. से तृतीय-द्वितीय शताब्दी ई. पू. से प्राप्त लौह उपकरणों के रासायनिक परीक्षण से ज्ञात होता है कि उनके निर्माण में आधुनिक दक्षिण बिहार की प्रसिद्ध लौह खान सिंहभूम एवं मयूरभन्ज से प्राप्त लौह अयस्क को उपयोग में लाया गया था । [7]

लौह धातु कर्म–

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से विवेच्य काल में लौह तकनीकी ज्ञान के क्रमशः विकसित अवस्था पर प्रकाश पड़ता है । इसमें प्राकृतिक अवस्था से प्राप्त लौह को शुद्ध पिण्ड बनाए जाने (पिटवां लोहा), सामान्य व उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात के उत्पादन तथा इन्हें क्रमशः सामान्य उपयोग की एवं कठोर श्रम में प्रयुक्त होने वाली लौह उपकरणों (कृषि के फार) तथा सामरिक महत्व के रक्षा उपकरणों के निर्माण विधि में प्रयोग में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों से ज्ञात विकसित लौह तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत लौह वस्तुओं के निर्माण में 'अयोघनन' या 'तापकुट्टन' (फौर्जिग) एवं 'द्रुतशीतलन' या 'निर्वापण' (क्वेन्चिंग) विधि को प्रयोग में लाया जाता था । सामरिक महत्व के रक्षा उपकरणों के निर्माण में उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात 'सिक्कायस' को उपयोग में लाया जाता था, जो सम्भवतः उच्च

---

1. गैरोला, वाचस्पति, अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृष्ठ 169.
2. क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, पृष्ठ 241.
3. जातक, सं. 387, पृ. 138, हि. अनु., पृ. 436.
4. संयुक्त निकाय, खंड-2, पृ. 168.
5. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ. 134-35.
6. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 204.
7. शर्मा, रामशरण प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृष्ठ–143; भारद्वाज, एच. सी. : सम आस्पेक्ट्स आव अर्ली टेक्नोलौजी इन इंडिया, 'रेडियो-कार्बन एण्ड इंडियन आर्कियोलाजी, संपा. जे. पी. अग्रवाल एवं ए. घोष, बंबई, 1973, पृ. 397.

प्रत्यास्थता (हाईइलैस्टीसिटी) से युक्त लौह इस्पात था । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लौह कर्म में रत् व्यवसायिक श्रेणी को कई नामों से यथा– 'बलवान पुरुष', 'कर्मकार', 'लौहआचार्य', एवं 'लोहकार' के रूप में जाना जाता था । कर्मकार लौह धातु-कर्म के निमित्त ईंट आदि से भट्ठी को बनाते थे । जो गोलाकार तथा भूमि के अन्दर तक बने होते थे । विकसित लौह-व्यवसाय के अन्तर्गत पालि ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि इन लोहकारों का अपना अलग-कार्यक्षेत्र होता था जिसे 'कम्मारगाम' की संज्ञा दी गयी थी । इसके अतिरिक्त बहुमूल्य धातु के मिश्रण में लौह का उपयोग किया जाता था । इस प्रकार के मिश्रित लौह को आभूषण आदि के निर्माण में प्रयुक्त किया जाता था । तकनीकी ज्ञान सम्बन्धी अन्य विवरणों के अन्तर्गत उत्कृष्ट कोटि के लौह उपकरणों को जंग आदि से बचाने के लिए रखरखाव के विशेष निर्देश भी प्राप्त होते हैं । अतः पालि ग्रन्थों से ज्ञात लौह तकनीकी ज्ञान संबंधी विवरणों का मोटे तौर पर वर्गीकरण इस प्रकार है :–

1– लौह कर्म में प्रयुक्त भट्ठी, (भाथी) एवं निर्माण स्थल ।

2– शुद्ध लौह पिण्ड का उत्पादन एवं उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात को तैयार करना ।

3–मिश्रधातु के रूप में लौह का निर्माण ।

4–लौह वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रिया एवं

5– रख-रखाव संबंधी निर्देश ।

लौह कर्म में प्रयुक्त भाथी एवं निर्माण स्थल-

पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लौह वस्तुओं इत्यादि के तैयार करने में ईट आदि से बनी भट्ठी को उपयोग में लाया जाता था । इस भट्ठी के बाहरी सिरे पर वायु प्रवाह हेतु वायु नलिका एवं नलिका के सिंरे पर भाथी लगे होते थे । ये भाथी निर्माण कार्य के समय श्वास प्रक्रिया की भांति उच्च शब्द में धक्-धक् की आवाज करता था । 'संयुक्त निकाय' के 'सप्पसुत' से सर्पराज मार के श्वसनक्रिया अर्थात् श्वास छोड़ने व ग्रहण करने की उपमा तेज शब्द करने वाले लोहार की भाथी से दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कम्मार गग्गरिया धम्मानाय सद्दोहोति ।' अर्थात्
'लोहार की भाथी चलने से तेज-तेज शब्द उत्पन्न होता है ।'[1]

1. संयुक्त निकाय, खंड–1, पृ. 106, हि. अनु., भाग–1, पृ. 360

पालि ग्रन्थ में 'भस्ता' शब्द अर्थात् चमड़े की बनी धौंकनी का उल्लेख मिलता है ।[1] पाणिनी ने 'भष्ट्रा' शब्द का उल्लेख किया है ।[2] पालि निकायों से अनेक ऐसे संदर्भ दण्ड विधान की प्रक्रिया के संबंध में प्राप्त होते हैं जिनके सूक्ष्म विवेचन से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण विषयवस्तु अतिशयोक्तिपूर्ण किन्तु कठोरता जैसी सादृश्यता के आधार पर लौहकर्म में प्रयुक्त भट्ठी से ली गयी हो यथा–'अत्यन्त गहरी व सदैव प्रज्जवलित रहने वाली लौहकुम्भी यहां सभी प्रकार के लौह वस्तुएं (औजार व माप) तप्त अवस्था में सदैव विद्यमान रहते थे । ये कुम्भी संदर्भ विशेष में आकार प्रकार में अत्यन्त गहरी व कुएंनुमा आकृति का बना ज्ञात होता है ।[3]

प्राचीन काल में पकी मिट्टी के ईटों के बने गोलाकार भट्ठी के पुरातात्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं । ये भट्ठी भूमि के अन्दर तक बनी होती थी जिसमें गैस प्रवाह के लिए बाहरी सिरे पर दो छिद्र होते थे जिनमें मिट्टी के बने वायु नलिका लगे होते थे तथा नलिका के दोनों सिरे पर भाथी होती थी । इस भाथी पर दोनों पैरों से खड़े होकर क्रमशः ऊपर-नीचे उठते हुए दोनों पैरों से दबाव डाल कर वायु या गैस को ताप बनाए रखने हेतु पहुँचाया जाता था । इस प्रकार की भट्ठी को लौहपिण्ड तैयार करने के लिए एक ही बार उपयोग में लाया जाता था । और बाद में इसे तोड़ दिया जाता था । पुरातात्विक उत्खननों में छठी शताब्दी ई. पू. के उज्जैन, नैकुंड तथा हाल ही में हुए उत्खनन स्थल खैराडीह (बलिया जिला) से गोलाकार भट्टी की संरचना प्राप्त हुयी है । इनमें प्रयुक्त वायु नलिका मिट्टी की बनी थी तथा बकरी या भैंस के चमड़े की बने दो छोटे जोड़े भाथी के उपयोग में लाए जाने के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार के सातवीं शताब्दी ई. पू. की पश्चिम एशिया एवं यूरोप में भी भट्ठी की संरचना प्राप्त हुयी है ।[4] (प्राप्त संरचना एवं लौहकर्म में रत लोहार छायाचित्र को अगले पृष्ठ में संलग्न किया गया है)

निर्माण स्थल–

लौह धातु-कर्म के विकसित कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत लोहार ग्राम[5], पाटलि ग्राम[6], कोसल तथा लौह कुम्भी के संदर्भविशेष के विश्लेषण के आधार पर मगध, श्रावस्ती

---

1. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 143.
2. पाणिनीकालीन भारत, पृ. 157.
3. मज्झिमनिकाय, खंड–3, पृ. 237; अंगुत्तरनिकाय, खंड–1, पृ. 131; सुत्तनिपात, खु. नि., खंड–1, पृ. 373.; जातक, सं. 541, पृ. 197; जातक, सं. 530, पृ. 64; चुल्लनिदेस, पृ. 252.
4. डा. भानुप्रकाश : मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 30, चित्र सं. 22, 35, 37; त्रिपाठी, विभा : आयरन मेकिंग इन एन्शियंट इंडिया विथ स्पेशल रेफेरेन्स टू खैराडीह एक्सकेवेशन एट खैराडीह, इंडियन आर्कियोलॉजी के सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन में प्रस्तुत शोध पत्र, दिस. 1991, भोपाल
5. जातक, सं. 387, पृ. 138.
6. उदानपालि, खु. नि., खंड–1, पृ. 177.

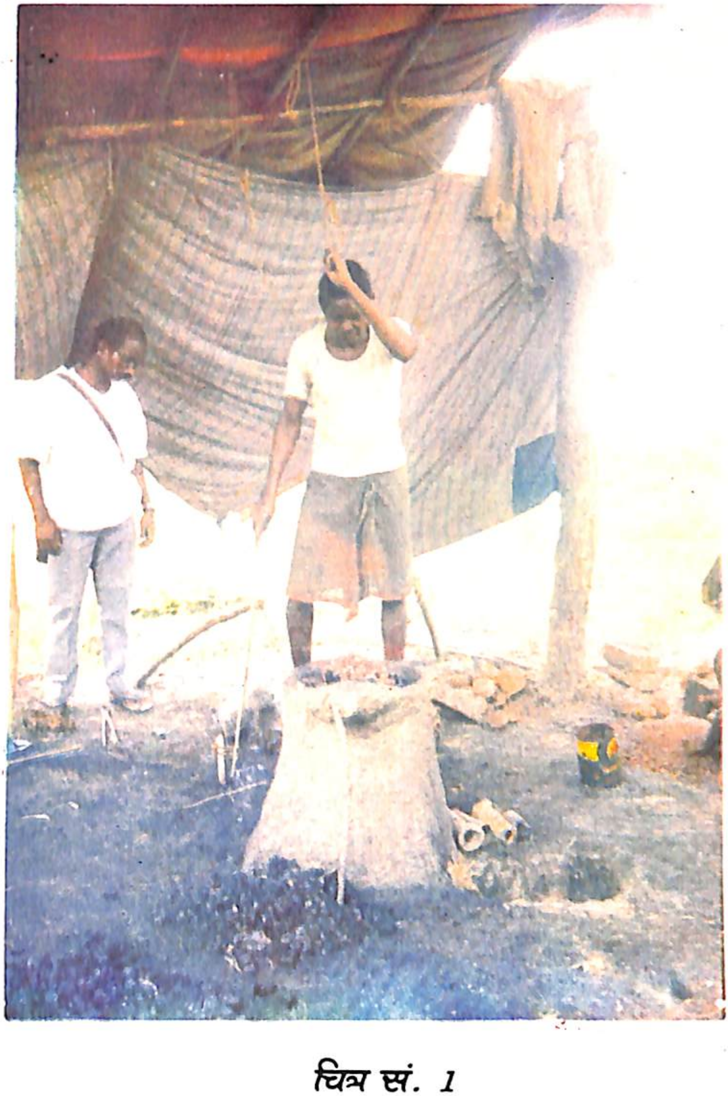

चित्र सं. 1

अगारिया जनजाति द्वारा लौहकर्म में प्रयुक्त भावी,

चित्र सं. 2

एवं वाराणसी इत्यादि स्थलों पर प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है ।[1] इसके अतिरिक्त मिलिन्दप्रश्न से तकनीकी ज्ञान के रूप में प्रयुक्त स्थल कण्णपेण्णा नदी के आसपास का क्षेत्र भी ज्ञात होता है ।[2]

प्राचीन काल में उत्तर प्रदेश (मिर्जापुर), बिहार, मध्यभारत, उड़ीसा एवं कर्नाटक के पूर्वी भागों में असुर, मंडिया एवं अगारिया जनजाति द्वारा शुद्ध लौह पिण्ड तैयार किये जाने के आधुनिक उदाहरण प्राप्त होते हैं । आधुनिक काल में भी परम्परागत लौह व्यवसाय में ये जनजाती कार्यरत् हैं । आज बिहार एवं मध्यभारत के ये जनजाती विशेष कर बस्तर के लोहपारा ग्राम में रूरल (पिछड़ा क्षेत्र) विकास परियोजना के अन्तर्गत 'विकास भारती' कार्यक्रम के अन्तर्गत परम्परागत ढंग से लौह-व्यवसाय में रत् हैं ।[3]

(2)– शुद्ध लौह पिण्ड तैयार करने की विधि–

बौद्ध पालि ग्रन्थों से शुद्ध लौह पिण्ड तैयार करने की विकसित प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है । 'दीघनिकाय' के 'पायासि राजञ्ञ सुत' से दिनभर वायु व अग्नि के संपर्क में लौहपिण्ड को तपा कर तैयार किये जाने की प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है । दिन भर तप्त लौह पिण्ड अन्त में प्रभास्वर, कमनीय एवं सुदृढ़ होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार इसके विपरीत यदि अग्नि एवं वायु का सम्पर्क बीच में ही समाप्त हो जाय तो वह लौह पिण्ड अकमनीय, देखने में भद्दा एवं भारीपन लिये हुए होता है । इस लौह पिण्ड को तप्तावस्था में तराजू पर तौलकर उसके गुणवत्ता की परख की जाती थी अर्थात् यदि वह अत्यधिक गरम है तो हल्केपन से युक्त होता था तथा यदि बीच में ही लौह पिण्ड का अग्नि एवं वायु से सम्पर्क समाप्त हो जाता है तो तौल में (वह) भारीपन लिये हुए होता था । ऐसा प्रतीत होता है कि इस तैयार शुद्ध लौह पिण्ड को अन्य वस्तुओं के निर्माण कार्य में प्रयुक्त किये जाने के साथ-साथ सम्भवतः मापक की ईकाई के रूप में भी उपयोग में लाया जाता था । यथा–

'दिवसं सन्तत्तो अयोगुलो तेजो सहगतो होति वायो सहगतो व आदित्तो सम्पज्जलितो सजोतिभूतो तदा लहु तरो च होति मृदुतरो च कम्मञ्ञतरो च । यदापन सो अयोगुळो नेवं तेजो सहगतो नेव वायो सहगातो सी तो निब्बुतो तदा गुरूतरो चहोति पतिथन्नतरो च अकम्मञ्ञतरो चा ति । पुरिसो दिवसं सन्तत्तं अयोगुलं

1. संयुक्तनिकाय, खंड–1, पृ. 168; मज्झिम. खंड–3, पृ. 237; अंगुत्तर., ख. 1, पृ. 131; जातक, सं. 530, पृ. 64, सं. 541, पृ. 197.
2. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 224.
3. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृष्ठ 31व 32; शर्मा, एम. विकास भारती, बिशुनपुर, व्यक्तिगत पत्राचार,

आदित्तं सम्पज्जलितं सजोतिभूतं तुलायं तुलेयूय तमेनं अपरेन समयेन सीतं निब्बुत तुलाय तुलेयूय । यदा वा आदित्तो समपज्जलितो सजोतिभूतो, तमेन अयोगुलो लहुत्तरो वा होति मृदुतरो च कम्मञ्ञतरो च । यदापन सो अयोगुल सीतो निब्बुतोति तमेन गुरूतरो चहोति पतिथञ्ञतरो च अकम्मञ्ञतरो चा ति ।' अर्थात्

'दिनभर तपाया लोहे का गोला अग्नि एवं वायु के साहचर्य में होता है तब वह हल्का, मृदु एवं कमनीय होता है किन्तु जब लौहपिण्ड न तो अग्नि के साथ होता है, न वायु के साथ तब वह बुझा हुआ एवं भारी होता है । कर्मकार दिनभर तप्त लोहे के गोले को तुला पर तौलता है तब वह हल्केपन, मृदु एवं कमनीयता से युक्त होता है किन्तु जब उसे बुझे अवस्था में या ठण्डी अवस्था में तौला जाता है तब वह लौह पिण्ड भारी पन लिये तथा अकमनीय होता है ।[1]

प्रमुख रसायनविद डॉ. सत्यप्रकाशजी के अनुसार,'इस्पात का **मृदुकरण** एक विशेष प्रक्रिया है जिसमें आदित्य वर्ण के तप्त लोहे को शनैः-शनैः ठंडा किया जाता है तभी इससे उपयोग गुण व्यक्त होते हैं । इस प्रक्रिया का नाम 'मृदुकरण' है । सर्वप्रथम भारतीयों ने इस कला का आविष्कार किया था ।'

लोहे को पीटना–

'उदानपालि' से तप्तावस्था में धातु को पीटने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार की प्रक्रिया द्वारा सम्भवतः लौहपिण्ड में थोड़ी बहुत उपस्थित कार्बन इत्यादि अशुद्धियां दूर कर ली जाती थीं । पीटने की प्रक्रिया में लौह वस्तु से चिन्गारी उत्पन्न होती थी । यथा–

'अयोघनहतस्सेव जलतो जातवेदसो'

'लौह घन की चोट पड़ने से जो चिंगारी उठती है वह तुरंत क्षय को प्राप्त हो जाती है ।'[2]

पुरातात्विक साक्ष्यों में सातवीं-छठीं शताब्दी ई. पू. के पूर्वोत्तर भारत के राज्यों के विभिन्न स्थलों से विशेष कर राजघाट, प्रह्लादपुर, चिराव, सोनपुर, दक्षिण बिहार एवं भागलपुर जिले में चम्पा के प्राचीन स्थल से लौह अयस्क के पिण्ड व धातुमल प्राप्त हुए हैं ।[3] बोधगया मंदिर के निकट धातुमल के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो कलकत्ता म्यूज़ियम (संग्रहालय) में सुरक्षित है । पंचानन्द नियोगी ने इसे चतुर्थ-तृतीय शताब्दी ई. पू. का मानते हुए लौह तैयार किये जाने का सबसे प्राचीनतम उदाहरण

---

1. दीघनिकाय, खंड–2, पृ. 249, हि. अनु., पृ. 204;
   संयुक्तनिकाय, खंड–2, 242, हि. अनु., भाग–3, पृ. 747., प्राचीन भा. में रसा. का विकास, पृ. 786.
2. उदानपालि, खु. नि., खंड–1, पृ. 177, हि. अनु., पृ. 127.
3. प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 167-68.

माना है तथा इसे पिटवें लौह के उत्पादन से समीकृत किया है ।[1] बैरियर के अनुसार मध्यभारत की अगारिया जनजाती लौह अयस्क को प्रगलित कर के शुद्ध लौह पिंड तैयार करते थे जबकि लोहार या लोहारिन अपने परम्परागत प्राचीन लौह व्यवसाय के अन्तर्गत रद्दी लौह को उचित तापक्रम में आकार प्रदान करके उससे विभिन्न प्रकार की वस्तुएं व उपकरण बनाते थे ।[2] आधुनिक काल में ढलवें लोहे से पिटवे लौह पिण्ड का उत्पादन किया जाता है । इसके अन्तर्गत खुले तल की भट्ठी में ढलवें लोहे को डाल देते हैं जिसमें अग्नि एवं वायु के सम्पर्क में क्रमशः शुद्ध लौह पिण्ड तैयार होता है । अग्नि के सम्पर्क में धातु पिघलने लगता है तथा उसमें उपस्थित अशुद्धियां (कार्बन इत्यादि) वायु द्वारा आक्सीकृत होकर कार्बन के बुलबुले धातुमल के रूप में पिघले लोहे से बाहर निकलने लगते हैं । अशुद्धियों के निकलने से धातु का गलनांक बढ़ जाता है और वह लेई (छोटे-छोटे पिण्ड) के रूप में परिणत हो जाते हैं । इस लौह पिण्ड को तप्तावस्था में भाप हथौड़े से पीटते हैं जिसमें उपस्थित अन्य हल्की अशुद्धियां दूर हो जाती हैं व शुद्ध लौह पिंड प्राप्त कर लिया जाता है ।[3]

(3)-- उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात का उत्पादन--

जातकपालि से प्राप्त संदर्भ विशेष का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि बौद्ध कालीन भारत में उत्कृष्ट कोटि के जंगरहित लौह-इस्पात के निर्माण में कर्मकारों ने दक्षता प्राप्त कर ली थी । इस प्रकार के लौह इस्पात से सामरिक महत्व के रक्षा उपकरण तैयार किये जाते थे । ये लौह इस्पात वर्ण में एक विशेष प्रकार की (पाठीन प्रकार) मछली के वर्ण का, औषधि तारे की तरह अत्यधिक दीप्तिमान होता था । इसे 'सिक्कायस' कहा गया है । यथा--

'पाठीनवण्णा नेत्तिंसा ।
वेल्लालिनो वीतमला सिक्कायस दळहा ।
सत्तियो तेलधोतायो अच्चिमन्ती पभस्सरा ।'[4] अर्थात्

पालि ग्रन्थों में सिक्का का तात्पर्य छीका या रस्सी अथवा तार की बनी वस्तुएं यथा–जाल, जाबा एवं झूले के पुल इत्यादि से है ।[5] 'सिक्कायस' से तात्पर्य भी

---

1. नियोगी, पंचानन्द; आयरन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 13-14.
2. बैरियर, ई.; दि अगारिया, हम्फ्री मिलफ्रेड, आक्सफोर्ड यूनि., इंडिया, 1942. प्रा. भा. में रसा. का. विकास, पृ. 786.
3. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 42.
4. जातक, संख्या, 542, हि. अनु., पृ. 490, जातक पालि, पृ. 224.
5. पालि-हिन्दी कोश, पृ. 347.

सम्भवतः ऐसे लौह प्रकार से रहा होगा जिसमें छीका अथवा तार की भांति उच्च प्रत्यास्थता (हाई इलास्टिसिटी) विद्यमान हो । अथवा छड़नुमा (इन्घट प्रकार) तैयार किया हुआ उत्कृष्ट कोटि का लौह इस्पात रहा होगा जिससे खड्ग आदि शस्त्र को अयोघनन विधि द्वारा तैयार किया जाता रहा होगा । प्रमुख रसायनविद डा. सत्यप्रकाश के अनुसार इस्पात निर्माण के लिए चुम्बकीय लौह अयस्क से पिटवां लोहा तैयार किया जाता रहा होगा । तत्पश्चात् इन्हें बंद मूषाओं में लकड़ियों एवं पत्तियों के ढेर के साथ गरम, धौंकनी व वायु की सहायतासे गरम करते रहे होंगे यह प्रक्रिया ४-५ घंटे तक चलती रही होगी इस प्रक्रिया से प्राप्त इस्पात को पुनः मूषा में बंद करके तपाते होंगे । ऐसा 2-3 बार करने से इस्पात का कार्बन यथोचित रूप से कम हो जाता होगा । बीच में पानी के छींटे देकर उसे कठोर बनाया जाता रहा होगा इस विधि को भारत के कई भागों में उपयोग में लाया जाता रहा होगा तथा आधुनिक काल में भी इसका प्रयोग किया गया होगा । लगभग 16वीं शताब्दी ई. में दक्षिण भारत में अत्यधिक कार्बन युक्त सफेद ढलवें लोहे को प्रगलन प्रक्रिया से शुद्ध बनाकर लोहे की शलाका का निर्माण किया जाता था । इस लौह शलाका को अयोघनन विधि द्वारा खड्ग निर्माण के प्रयोग में लाया जा रहा था । इस लौह इस्पात को 'डेमेस्कस स्टील' अथवा 'वुट्स स्टील' कहा गया है ।[1] आधुनिक काल में शुद्ध लौह पिण्ड तैयार करने के बाद उसमें मैग्नीज़ आदि धातु को डालकर उत्कृष्ट कोटि का लौह इस्पात तैयार किया जाता है । इस प्रकार के लौह इस्पात में तनन सामथ्र्य, उच्च प्रत्यास्थता, संक्षारण के प्रति अवरोधक गुण विद्यमान होते हैं । इसका उपयोग अस्त्र-शस्त्र तथा अन्य महत्वपूर्ण सामग्री के निर्माण में किया जाता है ।[2] इस्पातीकरण की इस प्रक्रिया को 'सीमेन्टन विधि' कहते हैं जिसमें छड़ के रूप में उत्कृष्ट कोटि का लौह इस्पात तैयार होता है । कर्टियस के अनुसार, 'सिकंदर को पोरस ने 15 सेर के लगभग तौल का इस्पात भेंट किया था । इस्पात की इस देश में प्रतिष्ठा थी तथा भारत के बाहर के देशो तक यहां का इस्पात जाया करता था ।

(4) मिश्र धातु लौह–

'अंगुत्तर निकाय' के अनुसार सुवर्ण जैसे बहुमूल्य धातु को आभूषण आदि के निर्माण में लौह आदि का मिश्रण किया जाता है । जिसे मिश्रित सुवर्ण की संज्ञा दी गई है । संदर्भ विशेष में लौह आदि को सुवर्ण का मैल कहा गया है । यथा–

---

1. लोव थैलमा एण्ड ग्रीथ थामस, आयरन ओर्स एंड आयरन इण्ड., 1892.
2. आर्थिक भू-विज्ञान, पृ. 128-29.
3. प्रा. भा. में रसा. का विकास, पृ. 780.

'पंचेहि उपक्किलेसेहि-जातरूपस्स, अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं ।'

अर्थात् 'जातरूप के पांच मैल हैं यथा–लौह, ताम्र, बंग, सीसा एवं रजत ।' ।[1]

अर्थशास्त्र के अनुसार इस्पाती लौह भी नील, पीत आदि आभूषणों के योग्य होता है । इस्पाती लोहा मोर की गर्दन के समान आकृति के काटने पर श्वेत् चमकता हुआ होना चाहिए । इस गरम करके चूर्ण बनाकर यदि एक काकणि स्वर्ण में मिलाया जाय तो सोने का रंग खिल उठता है ।[2]

(5) लौह सामग्री निर्माण की प्रक्रिया :

प्रारम्भिक बौद्ध पालि ग्रन्थ से विकसित लौह धातु कर्म के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों के निर्माण विधि के उल्लेख प्राप्त होते हैं । प्राप्त संदर्भों के अनुसार इन वस्तुओं के निर्माण में 'तापकुट्टन' या 'अयोघनन प्रणाली' एवं 'निर्वापण' अथवा 'द्रुतशीतलन' प्रक्रिया का प्रयोग किया जाता था । इसके अतिरिक्त सिक्कायस जैसे उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात से सामग्री निर्माण में सम्भवतः ढलाई विधि को उपयोग में लाया जाता रहा होगा । इन लौह उपकरणों को दिनभर आग में तपाया जाता था । इन्हें पीटा जाता था तथा अन्त में पानी में डुबोकर कड़ा किया जाता था । इस विधि से अधिक श्रम में प्रयुक्त होने वाले कृषि के उपकरण, कड़ाही, तवा, अस्त्र-शस्त्र, व अन्य अन्य लौह उपकरणों यथा–कील, नहहरनी एवं सलाई इत्यादि का निर्माण किया जाता था ।

(क) लोहे का फार :

'संयुक्तनिकाय' के 'सुन्दरिक सुत्त', 'सुत्तनिपात' के 'कसि भारद्वाज सुत्त', 'संकिच्च जातक' तथा ' विनयपिटक' के 'महावग्ग' से लोहे के फार को दिनभर तेज आग में तपाये जाने एवं उसे पानी में डुबोकर कड़ा किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा-

'फालो दिवसं सन्तत्ते उदके पक्खिपत्तो चिटचिटायति सन्धूपायति' अर्थात्

'दिनभर तपाया लोहे का फार पानी में पड़ते ही चिटचिटाते हुए भभक पड़ता है' ।[3]

---

1. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2, पृ. 250.
2. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 148.
3. संयुक्त निकाय, जि. 1, पृ. 168, सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 282, जातक सं., 530, पृ. 64, महावग्ग, पृ. 60.

डी. डी. कोसाम्बी महोदय के अनुसार ये फार लोहे का ही था । सूत्र की उपमा से स्पष्ट है कि फार को दिनभर तेज आग में तपाया जाता था व अन्त में उसे पानी में डुबोया जाता था । यदि कांसे के साथ ऐसा किया जाय तो वह काफी कमजोर व व्यर्थ हो जाएगा क्योंकि कांसा एक मुलायम धातु है ।[1] वार-बार तपा कर तथा गरम अवस्था में जल्दी से जल्दी पानी में डूबो कर कड़ा करने के बाद ही उसे किसी भी प्रकार के श्रम में उपयोग में लाया जा सकता था ।

(ख) कड़ाही निर्माण की विधि :

'मज्झिम निकाय एवं संयुक्त निकाय से लोहे की कड़ही को दिन भर तपाये जाने व उस पर बीच–बीच में पानी के छींटे दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'दिवसं सन्तत्ते अयोकटाहे द्वे वा तीणि वा उदकं फुसितानि निपातेय्य दन्धो ।' अर्थात्

'दिनभर तपाए लोहे की कड़ाही पर बीच-बाच में दो-या-तीन पानी के छींटे डालते हैं जो तुरन्त क्षय को प्राप्त हो जाता है ।'[2]

(ग) अयोकपाल :

'अंगुत्तरनिकाय' से लोहे के अर्द्धगोलाकर पात्र को दिनभर तपाने तथा उसे पीट कर स्वरूप प्रदान करने का संदर्भ प्राप्त होता है यथा–

'दिवसं सन्तत्ते अयोकपाले हञ्ञमाने पपटिका उप्पतित्वा निब्बातेय्य' अर्थात्

'दिन भर तपाए गए लोहे के तवे पर मारने से जो चिंगारी उठती है वह तुरन्त क्षय को प्राप्त हो जाती है । '[3]

'उदानपालि' से लौह (वस्तु) पर हथौड़े की चोट से उत्पन्न चिंगारी के तुरंत क्षय को प्राप्त हो जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[4]

(घ) लौह शूल :

'मिलिन्द प्रश्न' से लोहे के शूल को दिनभर आग में तपाने एवं अन्त में उसे सम्पूर्ण तौर पर कण्ण सोते में डुबोने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. कोसाम्बी, डी. डी. : दि बिगनिंग्स आव आयरन एज इन एन्शियंट इंडिया, जर्नल आव दि इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ दी ओरियेण्ट, जि. 6, पृ. 309.
2. मज्झिमनिकाय, खंड-2, पृ. 406.; संयुक्तनिकाय, खंड–4,पृ.170, हि. अन., पृ. 529.
3. अंगुत्तरनिकाय, खंड–3, पृ. 207, हि. अनु., 192.
4. उदानपालि, खु. नि., खंड-1, पृ. 177, हि. अनु., पृ. 127.

'दिवसं सन्तत्तं अयोसूलं सव्बत्थ कण्ण सोतं पविसेय्य ।'

अर्थात् 'दिन भर तपाया लोहे का भारी शूल सम्पूर्ण रूप से कण्ण सोते में (पानी का चश्मा) डुबोया जाता है ।[1]

(च) लोहे का बाण :

'धम्मपद' से उसुकार द्वारा दिन भर लोहे के बाण को तेज आग में तपाने व उसे एकदम सीध में तीक्ष्ण बनाये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'उजुं करोति उसुकारो द्वीसु व तेजनं ।' अर्थात्

'कुशल उसुकार बाण को तपाकर उसे अत्यन्त तीक्ष्ण व सीधा बनाता है ।'[2]

(छ) अन्य लौहमय वस्तुओं को तपाया जाना :

इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से सामान्य उपयोग की एवं लौह आयुघों को दिनभर आग में तपाये जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है । इन वस्तुओं के लिए प्रायः तप्तावस्था में तथा रक्तवर्ण सदृश प्रतीत होने का उल्लेख प्राप्त होता है । 'संयुक्तनिकाय' के 'आदित्यपरियाय सुत्त' से विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों के तप्तावस्था में आदित्य वर्ण के सदृश होने के संदर्भ प्राप्त होते हैं । इनमें लोहे की छुरी, शक्तिआयुध, शलाका, नहहरनी एवं कील के उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होते हैं जिनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :–

1– छुरी : 'तिण्हेण खुरेन आदित्तेन सम्पज्जलितेन' अर्थात् तीक्ष्ण प्रज्वलित आदित्य वर्ण की छुरी ।'[3]

2– शक्तिआयुध : 'तिण्हाय सत्तिया आदित्ताय सम्पज्जलिताय अर्थात् 'लहलहा कर जलती हुई आदीप्त तीक्ष्ण शक्ति आयुध'[4]

3–शलाका : 'तत्ताय अयोसलाकाय आदित्ताय सम्पज्जलिताय' अर्थात् 'तप्त होती हुयी लोहे की सलाई आदित्यवर्ण की थी ।'[5]

4– नहहरनी : 'नखच्छेदेन आदित्तेन सम्पज्जलितेन' अर्थात् 'आदीप्त जलती हुई नहहरनी ।'[6]

5–कील : 'तत्तं अयोखिलं' अर्थात् 'तप्त लोहे की कील ।'[7]

---

1. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 204.
2. धम्मपद, बुद्धिस्ट लीजेन्ड्स, 29. 2, पृ. 186.
3. संयुक्तनिकाय, खंड–4 152; हि. अनु., पृ.530.
4. वही.
5. वही. पृ. 153; मिलिन्दप्रश्न, हि. अनु., पृ. 351.
6. वही. पृ. 152.
7. मज्झिमनिकाय, खण्ड-3, पृ. 236; अंगुत्तर निकाय, खंड-1, पृ. 130; महानिद्देस, पृ. 346-47; चुल्लनिद्देस, पृ. 251.

उपरोक्त संदर्भों में वर्णित लौह उपकरणों को दण्ड विधान के अन्तर्गत यातनागृह में अपराधी व्यक्ति को दंडित करने हेतु उपयोग में लाया गया था ।

प्रो. एन. आर. बनर्जी के अनुसार लौह धातु-कर्म में तापकुट्टन अथवा अयोघनन विधि का विकास पांचवीं शताब्दी ई. पू. से द्वितीय शता. ई. पू. में हुआ ।[1] आधुनिक काल में लौह वस्तुओं के निर्माण में अयोघनन या तापकुट्टन तथा निर्वापण (द्रुतशीतलन) विधि को उपयोग में लाया जाता है । इस विधि के अन्तर्गत सर्वप्रथम लौह इस्पात को उसमें प्राप्त उच्च व कम कार्बन के अनुरूप ताप में तपा कर तैयार किया जाता है । तत्पश्चात् व्यवसायिक कार्यों में प्रयुक्त होने वाले कृषि के उपकरणों आदि तथा कठोर श्रम में प्रयुक्त होने वाले वस्तुओं का निर्माण किया जाता है । औजार या वस्तु को तपाने तथा द्रुतशीतलन (क्वेन्चिंग विधि) करने पर उसमें कठोरता, स्थायित्व एवं चर्मलता की वृद्धि होती है । 'अयोघनन' प्रणाली में तप्तावस्था में प्राप्त लौह धातु को पीट कर आकार प्रदान किया जाता है । इस प्रक्रिया से अत्यन्त तीक्ष्ण कर्तनोपकरण अथवा सामग्री बनायी जाती है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि कठोर श्रम में प्रयुक्त होने वाले कृषि आदि के उपकरणों के निर्माण में अधिक कार्बन वाले लौह इस्पात को उपयोग में लाया जाता रहा होगा जबकि हल्के भार वाले तथा सामान्य श्रम में प्रयुक्त होने वाले लौह वस्तुओं में संभवतः कम कार्बन युक्त लौह इस्पात को उपयोग में लाया जाता रहा होगा ।

(4) जंग आदि से लौह उपकरणों के बचाव एवं रखरखाव संबंधी निर्देश :

पालि ग्रन्थों से विशेष महत्व के लौह उपकरणों तथा सूई, एवं सामरिक महत्व के रक्षाउपकरणों के जंग से बचाव हेतु विभिन्न उपायों के निर्देश प्राप्त होते हैं । 'धम्मपदपालि' लौह वस्तु पर जंग लग कर नष्ट होने का उल्लेख करता है । यथा – 'अयसा वा मलं पि समुट्ठितम उत्थाय' अर्थात् लोहे का मैल उसी को खा जाता है ।'[3] अतः वस्तुओं के प्रकार के आधार पर उन्हें जंग से बचाव के लिए नलिका (आवरण), पत्थर का चूर्ण, ईस्ट पाउडर तथा मोम आदि का लेप किये जाने तथा अस्त्र शस्त्र को जंग से बचाने के लिए उन्हें तेल में डुबो कर रखने का संदर्भ प्राप्त होता है ।

1– सूई के बचाव के निर्देश :

'चुल्लवग्ग' में सूई को मोर्चा आदि से बचाव हेतु विशिष्ट उपाय सुझाए गए हैं । यथा –

---

1. बनर्जी, एन. आर. : दि आयरन एज इन इंडिया, पृ. 178, 179.
2. डॉ. दयास्वरूप, इस्पात का उत्पादन, पृ. 254.
3. धम्मपदपालि, खु. नि., खंड-1, पृ. 93 व 143 ; हिन्दी अनुवाद, पृ. 143.

'अनुजानामि, सूचिं ति । सूचियों पि कण्णकितायो होन्ति अनुजानामि सूचिनालिकं ति । सूचि नालिकाय पि कण्णकितायो होन्ति, अनुजानामि किण्णेन पूरेतुं ति । किण्णे पि कण्णकितायो होन्ति अनुजानामि सत्तुया पूरेतूं ति । सत्तुआ पि कण्णकितायो होन्ति अनुजानामि सरितकं ति । सरितके पि कण्ण कितायो होन्ति अनुजानामि मधुसित्थकेन सारेतुं ति । सरितकं परिभिज्जति । अनुजानामि सरितकसिपाटिकं ति ।'[1] अर्थात्

'सूई के उपयोग की आज्ञा देता हूँ । सूई में यदि जंग लगे तो अनुमति देता हूँ सूई नलिका की । सूई नलिका में भी यदि जंग लगे तो अनुमति देता हूँ किण्ण (यीस्ट) चूर्ण की । किण्ण चूर्ण से भी जंग लगे तो अनुमति देता हूं सतुआ भरने की । ऐसा करने पर भी यदि जंग लगे तो उस पर मोम का लेप करना चाहिए । ऐसा करने से सरितक टूट जाता है । अतः सरितक और सिरित सिपाटिक (गोंद) दोनों को साथ में रखकर नलिका में भरना चाहिए ।[2]

2– रक्षा उपकरणों के बचाव के निर्देश :

'महाउम्मग्गजातक' से उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात से निर्मित रक्षा उपकरणों को तेल में डुबो कर रखे जाने का वर्णन प्राप्त होता है । उपयोग के समय लायी जाने वाली इन अस्त्रों को तेल से निकाला जाता था जिससे ये अस्त्र मध्यान्ह सूर्य की भांति अत्यधिक चमकदार प्रतीत होते थे । यथा–

'पाठीन वण्णा नेत्तिंसा, तेलधोतायोपभस्सरा' ।
वेल्लालिनो वीतमला सिक्कायसमया दळहा,
सत्तिया तेल धोतायो अच्चिमन्ती पभस्सरा ।' अर्थात्

'पाठीन वर्ण की तलवार तेल से धुली हुयी अत्यधिक चमकदार, मध्यान्ह सूर्य की किरणों की भांति सिक्कायसमय खड्ग तथा तेल से धुली हुयी शक्तिआयुध दीप्तिमान होती थी ।'[3]

इसप्रकार उपरोक्त लौह धातु-कर्म संबंधी विवरणों के अध्ययन से अत्यन्त विकसित एवं अत्याधुनिक तकनीकी ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है । बौद्ध कालीन भारत में क्रमशः बढ़ते महत्व एवं प्रभाव के कारण लौह तकनीकी क्षेत्र में उत्तरोत्तर विकास परिलक्षित होता है ।

---

1. चुल्लवग्गपालि, पृ. 204.
2. चुल्लवग्ग, हि. अनु., पृ. 91.
3. जातक, सं. 542, पृ. 224; हि. अनु., पृ. 490 व 450.

लौहमय वस्तुओं की तालिका

	प्रथम काल	द्वितीय काल
(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त लौह वस्तुएं		
(क) **लोहे के पात्र :**		
कटोरेनुमा पात्र एवं कमण्डल	1	2
थाली	0	2
मटका (लौह वारक एवं माणक)	2	0
लौह तुम्बा	1	0
लौह खण्ड	1	0
कड़ाही (कटाह)	3	1
द्रोणी :		
1- सामान्य आकार का	0	1
2- विशाल आकार का	2	0
कुम्भी :		
1- घट प्रकार	1	0
2- अत्यधिक गहरा व लम्बे आकृति वाला	4	4
तवा	1	0
सण्डासी	2	0
(ख) **प्रसाधन की वस्तुएं :**		
केश कर्तनोपकरण-छुरी	2	0
नहहरनि	1	0
कुण्डल	1	1
(ग) **सिलाई-बुनाई के उपकरण**		
सूई	2	2
कैंची	2	0
सलाई	1	1
(घ) **वित्त उपकरण :**		
लोहे की मुद्रा	1	0
संपत्तिमूलक धनराशि	0	1
तराजू एवं	2	0
लोहे का बाट (माप)	5	2

(च) **अन्य प्रकार के लौह उपकरण :**		
मंच	1	0
पीढ़ा	1	0
जंजीर	2	2
जाल	0	1
वाहन	0	2
खिलौना	0	1
(छ) **व्यावसायिक जीवन में प्रयुक्त लौह उपकरण :**		
लोहे का फार	3	2
फरसा	1	0
कुदाल	1	0
कुल्हाड़ी	1	0
बसूला	1	0
खुरपी (खनती)	1	0
हथौड़ा	1	1
छेनी	0	1
(2) **राजकीय महत्व के लौह-उपकरण :**		
(क) **अस्त्र-शस्त्र :**		
बर्छी	4	1
शूल	1	3
कूट (गदा)	1	3
बाण	1	1
खड्ग	0	3
तोमर	0	1
डण्डा (बल्लम प्रकार)	0	1
भाला (शक्ति आयुध)	1	2
(ख) सुरक्षा कवच :		
लौहपट्ट या अभेद्य कवच	1	2
ढाल	0	1
बाजुबन्द रूपी कवच (कायूर)	0	1

अंकुसी एवं पांचा	0	2
(ग) लौह स्थापत्य :		
यातना गृह	2	2
कैदखाना (सीखचों वाला)	0	1
अन्नागार	1	0
भूमिगत लौहशाला	0	1
लौह घर	0	1
ताला	1	0
सिटकनी	1	0
कील	2	2

लौहमय वस्तुओं की दी गई उपरोक्त तालिका तत्कालीन समाज के प्रायः सभी आवश्यक क्षेत्रों में यथा–घरेलु, कृषि एवं शिल्पव्यवसाय तथा सामरिक क्षेत्र में विभिन्न प्रकार के उपकरणों में धातु का उपयोग प्रचुरता से किये जाने को दर्शाता है । प्रथम काल में जहाँ सामान्य जीवन में प्रयुक्त लौह उपकरणों का ज्यादा उपयोग किया जा रहा था वहीं परवर्ती चरण में लौह धातु का सामरिक दृष्टि से महत्व बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है । न केवल उपयोगिता की दृष्टि से अपितु युद्धोपयोगी लौह शस्त्रों एवं सुरक्षा कवचों के निर्माण में उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात को उपयोग में लाए जाने के वर्णन भी प्राप्त होते हैं । तालिका से परवर्ती काल में नवीन प्रकारों में लौह उपकरणों की अभिंवृद्धि तथा राजकीय महत्व के स्थापत्य आदि (यातनागृह, भूमिगत रहस्यमय गुप्तशालाएं एवं लौह प्रासाद) में धातु का विभिन्न रूप में उपयोग किया जाने लगा था, यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है ।

लौहमय वस्तुओं के तथा धातुकर्म के समग्र विवेचन से तत्कालीन समाज के चतुर्दिक विकास में लौह धातु की भूमिका महत्वपूर्ण प्रतीत होती है । यद्यपि कुछेक विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होते हैं यथा- अत्यधिक तप्त लौहकुम्भी में मनुष्य को दीर्घ अवधि तक लटकाए जाने तथा योजन भर विस्तृत, योजन भर ऊँची लौहमय छत एवं प्रकार वाली यातना गृह, लौह प्रासाद एवं अन्नागार इत्यादि । इन संदर्भों को विश्लेषित करके इसमें छिपे तथ्य को स्पष्ट करने की प्रारम्भ में चेष्टा की गई है ।[1] किन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों से कम्मारग्राम जैसे लौह व्यावसायिक केन्द्र की पुष्टि तथा अत्याधुनिक अयोघनन एवं द्रुतशीतलन प्रणाली को लौहपिण्ड एवं वस्तुओं के निर्माण में उपयोग में लाए जाने संबंधी विवरण लौह धातु के अत्यंत विकसित अवस्था में प्रचलित होने का संकेत देता है ।

---

1. विस्तृत अध्ययन हेतु देखें - अध्याय-4, पृ. 233, 263.

पंचम अध्याय

अन्य धातुएं

अन्य धातुएं

प्रस्तुत अध्याय में प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में वर्णित अन्य धातुओं के सीमित उल्लेखों पर प्रकाश डाला गया है । इनमें मूल धातु ताम्र, सीसा, रांगा एवं जस्ता तथा मिश्र धातु कांस्य एवं पीतल के उल्लेख प्रमुख रूप से ज्ञात होते हैं । पीतल धातु को छोड़ कर अन्य सभी धातुएं पालि त्रिपिटक में वर्णित हैं । पीतल का उल्लेख द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के पालि ग्रन्थ मिलिन्दप्रश्न में प्राप्त होता है । इससे ज्ञात होता है कि संभवतः इस कालतक आते-आते पीतल धातु का उत्पादन किया जाने लगा था । यह धातु मूल रूप से ताम्र एवं जस्ते के मिश्रण से तैयार किया जाता है । मिश्र धातु कांस्य भी ताम्र एवं रांगे के मिश्रण से तैयार की जाती है । इन धातुओं में सर्वाधिक विवरण कांस्यनिर्मित वस्तुओं के प्राप्त होते हैं जिनका प्रचलन तत्कालीन समाज के सामान्य एवं उच्च दोनों ही वर्गों में ज्ञात होता है । अन्य धातुओं में ताम्र का अत्यन्त सीमित उल्लेख संभवतः उसका बड़े पैमाने पर मिश्र धातु कांस्य के उत्पादन के कारण रहा होगा । सीसा एवं जस्ता अत्यन्त मृदु होने के साथ-साथ अन्य धातुमय वस्तुओं के निर्माण में अनिवार्य रूप से प्रयुक्त किये जाने के कारण सीमित रूप से उल्लिखित है । इनसे स्वतंत्र वस्तुओं का निर्माण करना संभव नहीं है । अतः पालि ग्रन्थों में प्रसंगवशात् एकाध उदाहरण सीसेमयी एवं रांगेमयी वस्तुओं के प्राप्त होते हैं । इनमें धातु का उपयोग संभवतः उसे चमकदार बनाए जाने के लिए द्रव के रूप में किया जाता रहा होगा । प्रायः बौद्ध धर्म के नियम-निर्देश के अनुरूप इन धातुओं से बौद्ध भिक्षुओं को विरत रहने का उल्लेख प्राप्त होता है जिससे इन धातुओं से निर्मित वस्तुओं को मूल्यवान वस्तुओं की श्रेणी में रखा जा सकता है ।

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम ताम्र एवं क्रमशः कांस्य, सीसा, रांगा, जस्ता एवं पीतल धातु का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

ताम्र धातु

भारतवर्ष में धातुकीय सभ्यता का प्रारम्भ ताम्र धातु से ही माना जाता है । लगभग 5वीं-चतुर्थ सहस्राब्दी ई. पू. के नव-पाषाण युग से ही ताम्र धातु का ज्ञान प्राप्त होता है । लोहित वर्ण की इस धातु को अतिप्राचीन काल से ही विभिन्न प्रकार के उपकरणों के निर्माण में विशाल पैमाने पर उपयोग में लाया जाने लगा था जिसके कारण नवपाषाण कालीन सभ्यता का यह युग 'ताम्र-पाषाण युग' कहा जाने लगा । पुरातात्विक साक्ष्यों से चतुर्थ-तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. से ही राजस्थान की प्रसिद्ध

ताम्रखान खेतड़ी से धातु को प्राप्त करने एवं उससे उपकरण बनाए जाने की पुष्टि होती है ।[1] लगभग प्रथम सहस्राब्दी ई. पू. के काल तक फलीभूत होती हुयी ताम्र धातु का छठी-पांचवीं शताब्दी ई. पू. के बौद्ध कालीन भारत में भी पर्याप्त प्रचलन ज्ञात होता है । यद्यपि बौद्ध पालि ग्रन्थों से पूर्वकाल की भांति ताम्र के उपयोग के सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसका कारण सम्भवतः नवीन धातु लौह का आविष्कार रहा होगा । यह धातु उपयोगिता की दृष्टि से सामान्यतः अधिक व्यवहारिक सिद्ध हुई तथा बौद्धकालीन पूर्वोत्तर भारत के प्रमुख राज्यों से खानों के माध्यम से लौह धातु की प्राप्ति के कारण इसका प्रचलन बढ़ता चला गया । इसके अतिरिक्त ताम्र धातु का मिश्र धातु कांस्य के उत्पादन के रूप में बहुलता से उपयोग किया जाना इस धातु के सीमित उपयोग का एक कारण रहा होगा । पालि ग्रंथों में प्रायः बहुमूल्य धातुओं से विरत रहने के संदर्भ में ताम्र धातु का उल्लेख प्राप्त होता है जो इसकी बहुमूल्यता का भी सूचक है ।

प्रस्तुत अध्याय में सर्वप्रथम ताम्र धातु एवं धातु-कर्म विषयक विवरणों को प्रस्तुत किया गया है । इसके अन्तर्गत तत्कालीन समाज में ताम्र धातु से निर्मित वस्तुओं का दैनिक जीवन में उपयोग, प्रचलन एवं महत्व को विवेच्य काल में प्रस्तुत किया गया है । एवं अन्त में विवेच्य काल से प्राप्त धातु के उपयोग एवं क्रमशः परिवर्द्धन का तुलनात्मक विवेचन किया गया है । तत्पश्चात् धातु प्राप्ति की सम्भावित प्राकृतिक संसाधनों एवं धातु तकनीकी ज्ञान पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में ताम्र धातु के लिए धातु बोधक 'लोह' तथा 'तम्बलोह' अथवा 'सम्बलोह' जैसे शब्द व्यवहृत हुए हैं । 'अयस' शब्द को यद्यपि धातु बोधक लौह एवं ताम्र के अर्थ में उल्लिखित किया गया है किन्तु संदर्भ विशेष के आधार पर अयस शब्द को प्रायः लौह सूचक अर्थों में ही प्रयुक्त किया गया है । इस संबंध में पालि ग्रन्थों से एकाध ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्हें संदर्भ विशेष के विश्लेषण के आधार पर ताम्र सूचक अर्थों में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है । यथा 'दीघनिकाय' से भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके देह को विशाल आकार की अयस द्रोणी में रखे जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] इस संदर्भविशेष में 'अयस' शब्द को ताम्र मान कर अनुवादक ने इसे ताम्र द्रोणी कहा है ।[3] ऐसा सम्भवतः व्यक्ति विशेष (महापुरुष) के महत्व के कारण किया गया है जो

1. मार्शल, जान : एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा एण्ड मोहनजोदारो, 1931.
2. दीघनिकाय, 2.3, खंड-2, पृ. 110.
3. वही, हि. अनु., पृ. 142.

उचित प्रतीत होता है । 'लोह' शब्द को एक ही संदर्भ में ताम्र सूचक एवं लौह सूचक अर्थो में उल्लिखित किया गया है किंतु जहां लोह सामग्री को बहुमूल्यता के अर्थ में उल्लिखित किया गया है वहां उसका तात्पर्य ताम्र धातु से ज्ञात होता है । यथा 'विनयपिटक' से ज्ञात एक संदर्भ में बौद्ध भिक्षु द्वारा बहुत से लोह पात्रों के संचयन का उल्लेख प्राप्त होता है । भगवान बुद्ध बौद्ध भिक्षुओं द्वारा इस प्रकार के पात्रों के संचयन पर आपत्ति प्रकट करते हुए उन्हें विशेषकर ताम्र लोहमय पात्रों से विरत रहने का निर्देश देते हैं । यथा 'छब्बग्गिया भिक्खु उच्चावचे पत्ते धारेतब्ब न भिक्खवे तम्बलोहमयो पत्तो धारेतब्बो ।'[1] 'भिक्खवे बहुं लोहभण्डं सन्निचयं करोन्ति सेय्यथापि कंसपत्थकारिका । यो धारेय्य आपत्ति दुक्कुटस्स ।'[2] ऐसे संदर्भ में लोह शब्द ताम्र एवं लौह दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । इसके अतिरिक्त कुछेक संदर्भ ऐसे भी प्राप्त होते हैं जिनमें अयः एवं लोह को भिन्न-भिन्न धातु के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए एक ही संदर्भ में उल्लेख किया गया है । यथा- 'न तत्थं सञ्ञायति अयो न लोहं' अर्थात् चिरकाल में भी अयस लोह नहीं बन सकता ।[3] चूंकि अयः शब्द प्रायः लौह सूचक अर्थों में प्राप्त होता है अतः ऐसे संदर्भविशेषण में भी क्रमशः लौह (अयः) एवं ताम्र (लोह) अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । अतः उपरोक्त संदर्भ विशेष को ध्यान में रखते हुए पालि ग्रन्थों से प्राप्त ताम्र धातु विषयक विवरण को प्रस्तुत किया गया है ।

पालि ग्रन्थों में ताम्र को लोहित वर्ण की धातु कहा गया है । प्रायः इसकी उपमा रक्त वर्ण नेत्रों से दी गई है ।[4] पालि ग्रन्थों में ताम्र धातु से निर्मित सामग्री के अन्तर्गत प्रायः दैनिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले ताम्र पात्रों, सौंदर्य प्रसाधन की वस्तुएं यथा ताम्रमयी कर्णमलहरणी एवं ताम्रमयी चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं इसके अतिरिक्त ताम्र धनराशि अर्थात् सम्पत्तिमूलक एवं मुद्रासूचक अर्थों में तथा ताम्रमय शस्त्र (कूट) के उल्लेख भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं । इन वस्तुओं का उपयोग यद्यपि स्पष्ट रूप से धनाढ्य वर्ग में ज्ञात नहीं होता है तथापि बौद्ध भिक्षुओं को इसप्रकार की बहुमूल्य धातु से बनी वस्तुओं से विरत् रहने का निर्देश दिया गया है जिसके आधार पर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि ताम्रमयी वस्तुएं ऊंचे दामों वाली रही होंगी ।

उपरोक्त ताम्रमयी वस्तुओं का मोटे तौर पर वर्गीकरण इस प्रकार किया है :

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 201, 225-26 यहाँ 'लोहे' शब्द धातु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है ।
2. वही, हि. अनु., पृ. 441.
3. जातक, संख्या 542, खु. नि., खंड-3, भाग-2, पृ 251; हि. अनु., भाग-6, पृष्ठ-251.
4. 'तम्बनखा', जातक, सं. 531, पृ. 385. (रक्त वर्ण नाखून) ('तम्बक्खि' अर्थात् ताम्रवर्ण नेत्र, विमानवत्थु, खु. नि., खंड-2, पृ. 39-40.

(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली ताम्रमयी वस्तुए :

(क) तांबे के पात्र

(ख) ताम्रमयी कर्णमलहरणी

(ग) ताम्रमयी चरणपादुका

(2) ताम्रमयी शस्त्र (कूट) :

(3) ताम्र धनराशि :

(ख) सम्पत्तिमूलक (लोह)

(ख) मद्रासूचक (ताम्र माषक)

(4) धातु प्राप्ति के सम्भावित स्रोत एवं तकनीकी ज्ञान :

उपरोक्त ताम्रमयी वस्तुओं में धातु का उपयोग विभिन्न प्रकार से किये जाने की सम्भावना व्यक्त की गयी है । यथा मूल धातु ताम्र को पात्र एवं मुद्राराशि के रूप में उपयोग में लाया जाना, ताम्र के तार को अलंकरण के लिए (चरणपादु का आदि के लिए) तथा पात्रादि जोड़ने के लिए तथा पात्र आदि के रूप में भी (जोड़ने के) किया जाता रहा होगा ।

प्रथम काल :

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से ताम्रमयी वस्तुओं के विभिन्न उपयोगों पर प्रकाश पड़ता है । इन वस्तुओं में सर्वाधिक विवरण दैनिक जीवन में प्रयुक्त् होने वाले गृहस्थोपयोगी तांबे के पात्रों, ताम्रमयी कर्णमलहरणी, अलंकरण की वस्तु में ताम्रमयी चरणपादुका, धनराशि में मुद्रासूचक ताम्रमासक एवं ताम्रशस्त्र के क्रमशः उल्लेख प्राप्त होते हैं । प्रायः ताम्रमयी वस्तुओं से बौद्ध भिक्षुओं को विरत रहने का निर्देश दिया गया है तथा इसे ऊंचे दामों वाली वस्तु के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है ।

(1) तांबे के पात्र :

प्रथम काल से ताम्र पात्रों के अन्तर्गत 'पत्त' अथवा 'पाति' एवं भाण्ड़ों के उपयोग पर प्रकाश पड़ता है । ये उल्लेख प्रायः पूर्वोत्तर भारत के बौद्ध भिक्षुओं की आचार संहिता के संदर्भ में प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त पालि निकाय से नाद प्रकार के विशाल पात्र 'अयस द्रोणी' का उल्लेख भी प्राप्त होता है । इसके अंतर्गत 'लोहपत्तं', 'तम्बलोहमयपत्तं' 'लोहमण्डं' एवं 'आयसाय तेलद्रोणिं' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनमें 'लोहपत्त पाति प्रकार का पात्र ज्ञात होता है जबकि भाण्ड खाद्यान्न पकाने अथवा इनके संचयन आदि कार्यों में प्रयुक्त किया जाने वाला पात्र प्रकार ज्ञात होता है । द्रोणी एक विशाल आकृति का नाद प्रकार का पात्र था जिसमें मृतक शरीर को रखा जाता था । इसे शवाधान कर्म में प्रयुक्त किया गया था ।

(क) लोह पत्तं एवं तम्बलोहमयपत्तं :

'चुल्लवग्ग' से राजगृह के षड्वर्गीय भिक्षुओं द्वारा बहुत सी लोह निर्मित पात्रों का संचयन किये जाने तथा इन भिक्षुओं को लोह पात्रों के अन्तर्गत ताम्रलोहमय पात्र से विरत् रहने के संदर्भ में लोहपत्त का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

'छवबग्गिया भिक्खु उच्चावचे पत्ते धारेतब्बा सेयूयथापि कंसपत्थ-कारिका । यो धारेयूय आपत्ति दुक्कुटस्स । न भिक्खवे, तम्बलोहमयोपत्तो धारेतब्बो ।' अर्थात्

'षडवर्गीय भिक्षु बहुमूल्य लोह पात्रों को धारण करते थे -जैसे कंसेरा कांस्यपात्रों का संचयन करता था । जो इसे ग्रहण करे वह दुक्कुट का (संघ से निष्कासन) का दोषी है । भिक्षुओं ताम्र लोहमय पात्र को नहीं धारण करना चाहिए ।'[1]

उपरोक्त संदर्भ में ही भिक्षुओं को लोहे एवं मिट्टी के पात्रों को ग्रहण करने की अनुमति दी गयी है ।[2] पालि निकाय में 'पत्त' को पाति अथवा थाली प्रकार का भोजन आदि ग्रहण करने वाला पात्र कहा गया है ।[3] जातक से बौद्ध भिक्षुओं के पास पत्त, कड़ाही एवं पानी भरने के पात्र को सदैव अपने पास रखने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] चुल्लवग्ग में एक अन्य संदर्भ में पत्त को अन्य पात्रों (भाण्ड इत्यादि) से भिन्न पात्र प्रकार कहा गया है ।[5] अतः उपरोक्त संदर्भ में पत्त बौद्ध भिक्षुओं द्वारा एवं सामान्य जीवन में प्रयुक्त किया जाने वाला पात्र ज्ञात होता है । पुरातात्विक उत्खननों में उ. कृ. मा. सं. के द्वितीय चरण से तांबे की बनी तश्तरी नावदा टोली से प्राप्त हुई है ।[6]

लोह मण्डं :

'चुल्लवग्ग' से उरूवेला के तट पर भिक्षु संघ को बहुत से लोहे के भाण्डों को प्राप्त किये जाने तथा बौद्ध भिक्षुओं को लोह भाण्डों से विरत रहने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनका क्रमशः विवरण दिया गया है :

1– 'उरूवेलाकस्सपे बहुं लोहमण्डं दारूमण्डं मत्तिकामण्डं उत्पन्नं होति ।' अर्थात् 'उरूवेला के तट पर भिक्षु काश्यप को प्रवजित होने पर बहुत से लोह, लकड़ी एवं मिट्टी के भाण्ड प्राप्त हुए ।'[7]

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 201, हि. अनु., पृ. 422.
2. वही, हि. अनु., पृ. 441.
3. थेरगाथा, खु. नि., खंड-2, पृ. 354, हि. अनु., पृ. 206.
4. उपासक सी. एस. : डिक्शनरी आफ अर्ली बुद्धिस्ट मोनास्टिक टर्म्स, पृ.- 133.
5. चुल्लवग्ग, पृ. 266.
6. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1951.
7. चुल्लवग्ग, पृ. 233, हि. अनु.; पृ. 449.

2– 'छव्वग्गिया भिक्खु बहुं लोहमण्डं सन्निचयं करोन्ति । सेय्यथापि कंसपत्थकारिका । यो धारेय्य आपत्ति दुक्कुट्स्स ।' अर्थात्
'षडवर्गीय भिक्षु कसेरे की भांति बहुत से लोह भाण्डों का संचयन करते थे । भिक्षुओं जो इसे धारण करता है वह दुक्कुट का दोषी है ।[1]

'संयुक्तनिकाय' से 'ओक्खा' नामक पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है[2] जिसे काश्यप जी ने चावल पकाने का पात्र कहा है ।[3] मज्झिमनिकाय से भोजन पकाने वाले 'परियोग' नामक पात्र का उल्लेख मिलता है ।[4] इसे रीजडेविस ने परियोग को भोजन पकाने का हण्डा कहा है ।[5] ताम्र भाण्ड भी संभवतः इन्ही प्रकार के खाद्यान्न संचयन एवं पकाने का पात्र रहा होगा । पुरातात्विक साक्ष्यों में उ. कृ. मा. सं. के दोनों चरणों से ताम्र के बड़े आकार के बर्तन प्राप्त हुए हैं । ये मुख्यतः उ. प्र के शृंगवेरपुरम् एवं नासिक से प्राप्त हुए हैं । नासिक से प्राप्त ताम्र बर्तन भग्नावस्था में है किन्तु बाहरी भाग अलंकृत है । इस टूटे हुए भाग को तांबे के तार से जोड़ा गया है । विशेषकर ऊपर के निकले किनारी वाले भाग को ।[6]

3– आयसाय तेलदोणिया :

'दीघनिकाय' के 'महापरिनिब्बानसुत्त' से भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनके शरीर को बडे आकार की आयस की बनी द्रोणी में रखे जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'भगवतो शरीरं वेठेत्वा आयसाय तेलदोणिया पक्खिपित्वा अन्निसा आयसाय दोणिया पटिकुन्जित्वा सव्व गन्धानं चितकं करित्वा भगवतो शरीरं चितकं आरोपेसुं ।' अर्थात्

'भगवान के शरीर को ताम्र की तेलवाही द्रोणी में रख कर के एवं दूसरी ताम्र द्रोणी से ढककर समस्त गन्धों की चिता बनाकर उसे अग्नि को समार्पित किया ।'[7]

---

1. वही, पृ. 225–26, हि. अनु., पृ. 442.
2. संयुक्तनिकाय, जि. 2, पृ. 220.
3. वही, भिक्षु काश्यप : एवं भिक्षु धर्मरक्षित, संयुक्तनिकाय, हि. अनु., जि. 1, पृ. 307.
4. मज्झिम निकाय, घटिकार सुत्त, हि. अनु. पृ.331.
5. डेविड्स रीज, पालिइंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 434.
6. लाल, बी. बी. : एवं दीक्षित के. एम. : एक्सकेवेशन्स एट शृंगवेरपुरम्, इंडियन आर्कियोलाजी, ए रिव्यू, 1977-78, 1978--79, पृ. 54, 56, 57, 58. संकालिया, एस. डी.; एवं देव, एस. बी.; रिपोर्ट आन द एक्सकेवेशन्स एट नासिक एण्ड जोर्वे, 1950-51, पृ. 109, फिगर-51 ए.
7. दीघनिकाय, खड-2, पृ. 110, हि. अनु., पृ. 142.

अनुवादक राहुल सांकृत्यायन जी ने यहां अयस शब्द का अर्थ ताम्र से लिया है[1] । यह सम्भव है कि विशिष्ट व्यक्ति अर्थात् महापुरूष भगवान प्रतिष्ठा केअनुरूप उनके पार्थिक शरीर को ताम्र द्रोणी में रखा गया हो । इस प्रकार यहां अयस को ताम्र के अर्थ में मानना समीचीन प्रतीत होता है । अंगुत्तर निकाय में भी शवाधान कर्म में प्रयुक्त अयस द्रोणी का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] रीज डेविड्स ने द्रोणी को लकड़ी का एक प्रकार पात्र का कहा है ।[3] चाइल्डर्स ने इसे बड़े आकार का अथवा नाद (टब) प्रकार का पात्र कहा है ।[4] उपरोक्त संदर्भ में अयस द्रोणी को नाद प्रकार के विशाल आकृति का पात्र मानना समीचीन प्रतीत होता है ।

(2) ताम्र निर्मित प्रसाधन की वस्तुएं :

इसके अन्तर्गत पालिग्रन्थों से ताम्रमयी कर्णमलहरणी एवं अलंकरण की वस्तु यथा - ताम्रमयी चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत 'लोहमयं कण्ण मलहरणादीनि' एवं 'तम्ब लोहमया पादुका' इत्यादि शब्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनका उल्लेख बौद्ध भिक्षुओं के बहुमूल्य वस्तुओं से विरत रहने के संदर्भ में प्राप्त होता है । इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है -

(क) 'छब्बग्गिया भिक्खू उच्चावचा कण्णमलहरणिया धारेन्ति सोवण्णमया रूपियमया ..लोहमयं । न भिक्खवे लोहमयं कण्णमलहरणादीनि धारेतब्बा ।'[5]

कर्णमलहरिणी का उपयोग दैनिक जीवन में कानों के मैल को साफ करने के निमित्त किया जाता था ।[6]

(ख) 'न भिक्खवे तम्बलोहमया पादुका धारेतब्बो ।' अर्थात्

'भिक्षुओं ताम्र-लोहमयी चरणपादुका को नहीं धारण करना चाहिए । '[7]

'महावग्ग पालि' में आए उपरोक्त संदर्भ में ही सुवर्णमय, रजतमय, कांस्यमयी, सीसामयी एवं ताम्रमय चरणपादुका के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं ।[8] ताम्रमयी चरणपादुका से तात्पर्य सम्भवतः ताम्र की तार को खड़ाऊ के अग्रभाग में जड़ित कर उसे अलंकृत एवं ताम्रमयी बनाये जाने से रहा होगा । सांची के अर्द्धचित्रों में खड़ाऊं

---

1. वही, पृ. 142.
2. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2 पृ. 322, हि. अनु., पृ. 285.
3. पालि-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. 331.
4. डिक्शनरी आव पालि लैग्वेज, पृ. 126.
5. चुल्लवग्ग, पृ. 225.
6. वही, हि. अनु., पृ. 441.
7. महावग्ग, पृ. 209-10.
8. वही.

प्रकार के चरणपादुका का अंकन प्राप्त होता है ।[1] नेवासा से उ. कृ. मा. सं. के चरण से तांबे के तार प्राप्त हुए हैं ।[2] जिसका उपयोग अन्य प्रकार के साथ-साथ संभवतः उपरोक्त प्रकार की चरणपादुका को अलंकृत करने के लिए भी संभवतः किया जाता रहा होगा ।

(3) ताम्र निर्मित शस्त्र :

'मज्झिमनिकाय' के 'देवदत्त सुत्तंन्त' से सामाजिक दण्ड विधान की प्रक्रिया के अन्तर्गत यातनागृह में तप्तताम्रमयलोह से अपराधी व्यक्ति को सताए जानने का संदर्भ प्राप्त होता है । यथा–

'तत्तंसम्बलोहं मुखं असिजन्ति ।' अर्थात् 'तप्त ताम्र लोह को मुख में डालते हैं ।[3]'

(4) मुद्रासूचक ताम्र धनराशि :

पाली ग्रन्थों से मुद्रासूचक धनराशि के रूप में ताम्रधातु के सामान्य व्यवहार में व्यवहृत किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके अन्तर्गत 'लोहमासको' शब्द प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त 'कहापण' प्रकार की मुद्रा का उल्लेख भी प्राप्त होता है जिसे रजत की मुद्रा कहा गया है । किन्तु कुछेक संदर्भ ऐसे भी प्राप्त होते हैं जहां कहापण को रूपिय से भिन्न प्रकारकी मुद्रराशि के रूप में प्रयुक्त किया गया है । संभवतः रजत एवं ताम्र के मिश्रण से बनी मुद्रा कहापण थी ।

(क) लोहमासको :

'चुल्लवग्ग' से लोहनिर्मित मासक मुद्रा का उल्लेख प्राप्त होता है जो संभवतः तांबे एवं लोहे की मुद्राराशि रही होगी । भिक्षुओं को इसके उपयोग की मनाही थी । यथा-

'जातरूपं नाम सत्थुवण्णे वुच्चति रजतं नाम कहापणो । लोहमासको दारूमासको जतुमासको ये वोहारं गच्छन्ति ।' अर्थात्

'जातरूप सत्थुवर्ण (शास्ता के वर्ण की) मुद्रा है । कहापण रजत की, लोहमासक अर्थात् ताम्र एवं लोहे की मुद्रा, लकड़ी से बना मासक एवं लाख से बना मासक व्यवहार में प्रयुक्त किये जाते थे ।'[4]

---

1. मार्शल जान, दि मौन्युमेण्ट्स आफ सांची, प्लेट, 52.
2. इंडियन आर्कियोलाजी, 1955.
3. मज्झिमनिकाय, खं-3, पृ. 258, हि. अनु., पृ. 547.
4. चुल्लवग्ग, पृ. 339, हि. अनु., पृ. 19.

'चुल्लवग्ग' से वैशाली के 'वज्जिपुत्तक' भिक्षुओं द्वारा कांसे के पात्र में बहुत सी कहापण, अर्थ, पाद एवं मासक धनराशि को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा– 'कहापणर्द्ध भाग पद मासक रूपं पि ।'[1] यहाँ मासक इत्यादि मुद्रा के आगे 'रूप' शब्द व्यवहृत हुआ है । अष्टाध्यायी में रूप शब्द का अर्थ चिन्ह से लिया गया है । पाणिनी ने मासक प्रकार के मुद्रा का उल्लेख करते हुए अर्द्धमासक का उल्लेख भी किया है ।[2] अर्थशास्त्र में मासक को ताम्र की मुद्रा कहा गया है । कौटिल्य के अनुसार ताम्र का एक अलग सिक्का होना चाहिए जिसमें एक चौथाई (1/4) भाग चांदी, 1 हिस्सा लोहा एवं सीसा तथा 11 भाग ताम्र होना चाहिए । इस सिक्के को मासक कहा गया है जिसका वजन 16 मासा होता है । इसका भी अर्द्धमासक तैयार करवाना चाहिए तथा पाद मासक एवं अष्ट भाग मासक के लिए काकणी एवं अर्द्धकाकणी सिक्के बनवाने चाहिए ।[3] आधुनिक विद्वानों ने मासक को रजत एवं ताम्र के कहापण मुद्रा से समीकृत किया है ।[4] चूंकि उपरोक्त संदर्भ में मासक को कहापण से भिन्न मुद्रा कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि मासक ताम्र की मुद्रा थी जो रजत मुद्रा के अन्तर्गत रूपिय प्रकार की भांति रहा होगा । चूंकि रूपिय शुद्ध रजत की बनी मुद्रा थी एवं व्यवहारिक तौर पर इसका ज्यादा उपयोग संभवतः अलाभकर था जबकि मासक व्यवहारिक रूप में अलाभकर नहीं रहा होगा तथा सामान्यतः ये कहापण की भांति प्रचलित रहा होगा । उपरोक्त संदर्भ में सम्भवतः इसी अर्थ में मासक की सादृश्यता कहापण से बतलायी गई है । पुरातात्विक साक्ष्यों में छठीं-पाचंवी शताब्दी ई. पू. से तृतीय शता. ई. पू. तक ही मूल धातु ताम्र से बनी आहत मुद्राएँ कौशाम्बी एवं अहिच्छत्रा से प्राप्त हुई हैं जिनके रासायनिक परीक्षण से ज्ञात होता है कि ताम्र की आहत मुद्राओं में 85.70% एवं 95.24% तक ताम्रधातु है । इन पर स्वस्तिक, त्रिशूल, पेड़ आदि बने है ।[5]

(ख) कहापण :

'विनयपिटक' में दीक्षा आदि में कहापण को ग्रहण करने का उल्लेख प्राप्त होता है । यहाँ कहापण को रूपिय से भिन्न मुद्रा राशि के अर्थ में उल्लिखित किया गया है । यथा–

1. चुल्लवग्ग, पृ. 416.
2. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 262.
3. अर्थशास्त्र, द्वि. अधि. प्रकरण 28, अध्याय-12, पृ. 170-71.
4. पाणिनीकालीन भारतवर्ष, पृ. 262.
5. सत्य प्रकाश : क्वाएन एज़ इन एन्शियेंट इंडिया, पृ. 462-64, तालिका-21.1,22.2, 22.3.22. 5, 22. 6 व 22. 7., शर्मा, गोवर्धन राय : द एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, 1957-,59.

'मे कहापणं देहि ति । तथेव मयं रूपियं पट्टिग्गहणन्ती यदेव समण सक्युपुत्तिया रूपियं पट्टिग्गणहन्ती ।'[1]

उपरोक्त संदर्भ के आधार पर बी. एस. पाठक महोदय ने रूपिय को शुद्ध रजत की मुद्रा एवं कार्षापण को ताम्र की मुद्रा कहा है । कर्ष से तात्पर्य भार से लिया है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि रूपिय शुद्ध रजत की मुद्रा थी, जबकि कार्षापण ताम्र एवं रजत की बनी अथवा ताम्र की बनी एवं उसपर रजत की पालिश चढ़ी हुई मुद्राराशि थी । इसी वजह से कहापण को प्रायः ताम्र एवं रजत की बनी मुद्राराशि के अन्तर्गत व्यवहृत करना अनुचित नहीं रहा होगा । पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस प्रकार की आहत मुद्राएं प्राप्त हुई हैं जो छठीं शता. ई. पू. से चतुर्थ-तृतीय शता ई. पू. तक की हैं ।[3] (कृपया देखें, अध्याय-2 पृ. 141, 142, 143) ।

इस प्रकार प्रथम काल से विभिन्न प्रकार की ताम्रमय वस्तुओं के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है, विशेषकर विनयपिटक से दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले ताम्रपात्रों का । इसके अतिरिक्त मुद्राराशि के रूप में ताम्रमासक का व्यवहार मे प्रचलन ज्ञात होता है यद्यपि कहापण, ताम्र एवं रजत के मिश्रण से बनी मुद्रा का भी व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन ज्ञात होता है । अलंकरण की कुछ एक वस्तुएं भी प्रथम काल से ज्ञात होती हैं, किन्तु सर्वाधिक उल्लेख ताम्रपात्रों के ही ज्ञात होते हैं । इन वस्तुओं को बहुमूल्य कहकर उनसे विरत् रहने का निर्देश दिया गया है । इससे ज्ञात होता है कि प्रथम काल में ताम्र वस्तुएं बहुमूल्य थीं ।

द्वितीय काल (चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक) :

पालि ग्रन्थों के द्वितीय चरण से ताम्र धातु-विषयक विवरणों के अत्यन्त सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत विशेष रूप से मुद्रा राशि, कहापण, सम्पत्तिमूलक ताम्र धनराशि तथा मनोरंजन की वस्तु पर प्रकाश पड़ता है । मनोरंजन की वस्तु के लिए 'लोहमय सस' शब्द प्राप्त होता है । जिसे लौह एवं ताम्र दोनों ही धातु से बनी वस्तु के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । (कृपया देखें–अध्याय-4, पृ. 195 पर)

(क) कहापण :

मुद्रासूचक धनराशि के अन्तर्गत एकमात्र कहापण का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका उपयोग इस काल तक आते-आते क्रय-विक्रय अथवा व्यापार वाणिज्य में

---

1. पराजिक पालि, विनयपिटक, पृ. 12.
2. पाठक, वी. एस.: आहत, ए सेमान्तिक स्टडी, पृ. 7.
3 क्वाएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 386.

बहुलता से किया जाने लगा था । ऐसा प्रतीत होता है कि कहापण मासक से भिन्न ताम्र एवं रजत के मिश्रण से बनी आहत मुद्रा रही होगी । इनका उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है :

1. 'मिलिन्दप्रश्न पालि' से संख्यावाचक अर्थ में कहापण के उल्लेख मिलते हैं । यथा–

'न कहापणवस्सेन तित्ति कामेसु विज्जति' अर्थात्
'कहापणों की वर्षा से भी कामनाओं की पूर्ति नहीं होती ।'[1]

एक अन्य संदर्भ में 'मिलिन्दप्रश्न पालि' से वैभवशाली सागल नगरी के धनधान्य से सम्पन्न होने के संदर्भ में बहुमूल्य धातुओं एवं कहापण का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

2 'कहापण रजत सुवण्ण कंसपत्थरपरिपूरं' अर्थात्
'कहापण, रजत, सुवर्ण एवं कंसेरों से परिपूर्ण वह नगरी थी ।'[2]

'मिलिन्दप्रश्न' में कार्षापण का उल्लेख एक निश्चित आकार की वस्तु के रूप में प्राप्त होता है । इसकी तुलना मांस के टुकड़े से की गयी है । अर्थात कार्षापण की भांति टुकड़े-टुकड़े में मांस को (मनुष्य) काट दिये जाने की निन्दा की गयी है ।[3] 'महासुपिन जातक' से कहापण व अन्य प्रकार की मुद्राराशि का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

2 कहापणद्धा पादा माशा रूपादीनि' अर्थात्
'कहापण, अर्द्ध, पाद, माशा, रूप इत्यादि' ।[4]

मनु ने ताम्र कार्षापण का उल्लेख किया है जो तोल में एक कर्ष अर्थात् 80 रत्ती का हो वह पण कहलाता है ।[5] कात्यायन ने कार्षापण का नया नाम 'प्रति' दिया है एक कार्षापण में मोल ली हुई अर्थात् प्रति कार्षापण के हिसाब से वस्तु को 'प्रतीक' कहने लगे थे । कार्षापण का प्रति नाम इसके चालू सिक्के होने को और भी पुष्ट करता है ।[6] इसके अतिरिक्त पालि ग्रन्थों से जुर्माना राशि के रूप में एक

---

1. मिलिन्द प्रश्न पालि, पृ. 258, हि. अनु., पृ. 407.
2. वही, भूमिका, हि. अनु., पृ. 20.
3. वही, हि. अनु., पृ. 241.
4. जातक, संख्या 488, पृ. 279, हि. अनु., पृ. 104.
5. पाणिनीकालीन भारत वर्ष, पृ. 257.
6. वही.

कार्षापण का उल्लेख[1] तथा बावेरू जातक से क्रय-विक्रय के संदर्भ में, थेरीगाथा से एक गणिका को उसके एक दिन की कीमत मगध नरेश द्वारा बीस कार्षापण दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] इन विवरणों से कार्षापण एक प्रचलित मुद्राराशि ज्ञात होती है जो मूल धातु रजत, ताम्र अथवा सुवर्ण की न होकर इनके मिश्रण से बनी अथवा मिश्रित धातु से बनी मुद्राराशि ज्ञात होती है । पुरातात्विक साक्ष्यों से द्वितीय प्रथम शताब्दी ई. पु. की मित्र शासकों की ताम्र मुद्राएं प्राप्त हुई हैं ।[3] (देखिए. पृ. सं. 141, 142, 143) .)

(ख) सम्पत्तिमूलक ताम्र धनराशि :

'महाजनक जातक' मिथिला नरेश के अपार धनराशि के संदर्भ में ताम्र सूचक धनराशि का उल्लेख भी प्राप्त होता है यथा–

'अजिनं दन्त भण्डञ्च लोहं कालायसं बहु ।' अर्थात्

'अजित (चर्म), हाथीदांत से बना भांड बहुत सा तांबा व लोहा था ।'[4]

यद्यपि पूर्वोक्त संदर्भ में लोह शब्द ताम्र धनराशि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जो एक निश्चित आकार की ताम्रवस्तु का बोधक है किन्तु ये वस्तु किस प्रकार की रही होगी यह कहना कठिन प्रतीत होता है ।

इस प्रकार द्वितीय काल से ताम्रमयी वस्तुओं के अन्तर्गत धनराशि के ही उल्लेख प्राप्त होते हैं । विशेषकर कहापण मुद्राराशि के जो इसकाल में क्रय-विक्रय के रूप में सर्वाधिक प्रचलित मुद्राराशि के रूप में व्यवहृत की जाने लगी थी । ये मुद्राराशि रजत व ताम्र के मिश्रण से बनी अथवा ताम्र की बनी एवं उस पर रजत की परत चढ़ी हुई ज्ञात होती है । जिसका व्यवहार में उपयोग आर्थिक दृष्टि से अलाभकर नहीं रहा होगा जबकि रूपिय एवं ताम्र मासक इसकी अपेक्षा बहुमूल्य रहे होंगे ।

कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में ताम्रमयी वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन :

विवेच्य काल से ज्ञात ताम्रमयी वस्तुओं के संदर्भ में मोटे तौर पर जो सामान्य बात ज्ञात होती है वह है इस धातु का बहुमूल्य होना । प्रथम काल में यहाँ श्रमणों के विधान के अन्तर्गत ताम्रवस्तुओं के उपयोग से विरत रहने का संदर्भ प्राप्त होता है क्योंकि यह ऊंचे दामों वाली थी, वहीं द्वितीय काल में भी लोहधनराशि का

1. मिलिन्दप्रश्न, हि. अनु., पृ. 235.
2. जातक, संख्या - 449, पृ. 47; थेरीगाथा, पृ. 20.
3. क्वाएन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, पृ. 386.
4. जातक, संख्या - 539, खु. नि., भाग-3, खंड-2, पृ. 177.

राजघराने में उपयोग परिलक्षित होता है । प्रथमकाल से ताम्रमयी वस्तुओं के विशेषकर ताम्रपात्रों के उल्लेख मिलते हैं वहीं द्वितीय काल में इन वस्तुओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है इसका कारण संभवतः लौह धातु से निर्मित वस्तुओं का व्यापक प्रचलन एवं ताम्र का कांस्य धातु के रूप में बहुलता से उत्पादन किया जाता रहा होगा । अगले अध्याय में कांस्य धातु संबंधी विवरणों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि बौद्धकालीन भारत में ताम्र की अपेक्षा ताम्र के मिश्रण से बनी कांस्य वस्तुओं का उच्च धनी वर्ग एवं सामान्य वर्ग में प्रचलन बढ़ गया था ।

ताम्र धातु की प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोत :

सुवर्ण एवं रजत की भांति पालि ग्रन्थों से ताम्र वर्ण की पर्वत शृंखला के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर ऐसे पर्वतीय प्रदेश के आस-पास ताम्र धातु की विद्यमानता की संभावना व्यक्त की गयी है । इसके लिए जातक पालि से 'तम्बानि हिमवतो पव्बतस्स' शब्द प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त भू-खनिज तत्व के रूप में ताम्रधातु की विद्यामानता एवं खुदाईयों के माध्यम से ताम्र धातु को प्राप्त किये जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है ।

(क) तम्बानि हिमवतो पव्बतस्स :

'चन्दकिन्नर जातक' से हिमवन्त पर्वत शिखर की विभिन्न श्रेणियों के अन्तर्गत क्रमशः सुवर्णमय, श्वेत वर्ण के एवं ताम्रमयी हिमाच्छादित पर्वतशृंखला का उल्लेख प्राप्त होता है । ऐसे पर्वतीय प्रदेश में किन्नर प्रजाति के लोग निवास करते थे । यथा–

> 'तम्बानि हिमवतो पव्बतस्स, सेतानि हिमवतो पव्बतस्स ।' अर्थात्
> 'ताम्रमयी हिमवान पर्वत शिखर एवं श्वेतमय हिमवान पर्वत शिखर ।'[1]

उपरोक्त संदर्भ में यद्यपि इन पर्वत शृंखलाओं को हिमाच्छादित कहा गया है तथापि इनके पूर्व श्वेत वर्ण एवं ताम्रवर्ण शब्द व्यवहृत हुआ है । इस वर्ण वैभिन्यता के अर्थ में पर्वत शिखरों का उल्लेख संभवतः यहां से प्राप्त विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों से भी रहा होगा । अर्थात् श्वेतमयी पर्वत के आस-पास रजत धातु एवं ताम्रवर्ण के हिमाच्छादित पर्वत शिखर के आसपास संभवतः ताम्रधातु की विद्यमानता रही होगी । आधुनिक काल में भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित किन्नौर प्रदेश में किन्नर प्रजाति के लोग बसते हैं । जातक पालि से ज्ञात ताम्रमयी पर्वत शृंखलाओं की उ. पू. भारत विशेषकर हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग की ओर

---

1. जातक, सं. 485, पृ. 273, हि. अनु., पृ. 490.

फैले अथवा उससे आगे तक विस्तृत पर्वत शृंखलाओं में से रहा होगा । प्राचीन काल में सिक्किम, नेपाल, उत्तरप्रदेश के अल्मोड़ा, जिले एवं बिहार के सिंहभूमि जिले के पर्वतीय भाग से ताम्रप्राप्ति के प्रमाण प्राप्त हुए हैं । आधुनिक काल में भी यहां से ताम्रधातु को प्राप्त किया जाता है ।[1]

(ख) भू-खनिज तत्व ताम्र :

'अभिधम्मपिटक' के 'विभंग पालि' से पृथ्वी के खनिज पदार्थों में से एक ताम्र धातु का उल्लेख भी प्राप्त होता है । यथा–

'अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं रजत जातरूपं...भूमि पाषाण पव्वतो ।'

अर्थात् 'लौह, ताम्र, रांगा, सीसा, जस्ता, चाँदी एवं सोना इत्यादि पृथ्वी के आंतरिक एवं पाषाण पर्वत बाह्य तत्व हैं ।'[2]

'जरूदपान जातक' से श्रावस्ती से वाराणसी के मार्ग में (वाराणसी के ज्यादा निकट) वणिक दल को बहुत सी धातुओं के क्रम में जलाशय को खोदते हुए ताम्र धातु को प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] प्राचीन भारत में राजस्थान के प्रसिद्ध खेतड़ी खान से ताम्र को प्राप्त किया जाना तथा अरावली पर्वत श्रेणी के आसपास धातु को प्राप्त किये जाने के प्रमाण प्राप्त हुए हैं ।[4]

ताम्र धातु कर्म :

पालि ग्रन्थों से ताम्र के तकनीकी ज्ञान के अत्यन्त सीमित प्रक्रियाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसके अन्तर्गत मुख्यतः तांबे के प्रगलन, ताम्र वस्तु को पकाए जाने तथा सुवर्ण के मिश्रण को तैयार करने के लिए ताम्र को उपयोग में लाए जाने के संदर्भ मिलते हैं ।

(क) प्रगलित ताम्र :

'पानीय जातक' से प्रगलित अवस्था में ताम्र धातु का उल्लेख मिलता है यथा–

'तम्ब लोह विलीनं व कामादुक्खतरा ति ।' अर्थात्

'पिघला हुआ तांबा जितना कष्ट देता है कामभोगों का दुख उससे भी अधिक कष्टकर होता है ।'[5]

---

1. भानुप्रकाश मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 27; डून, जे. ए.: बुलेटिन आव दि जियोलाजिकल सर्वे नं. 23 (देहली, 1965).
2. विभंग पालि, पृ. 102,. हि. अनु., डा. ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, पृ. 42.
3. जातक, संख्या 256, पृ. 68.
4. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 27.
5. जातक, संख्या 459, पृ. 227, हि. अनु., पृ. 319.

आर जे. फार्बस ने ताम्र प्रगलन आदि पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि सर्वप्रथम प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त ताम्र धातु को पीटकर टुकड़े में विभक्त करते हैं । तत्पश्चात् चारकोल चूर्ण आदि को डालकर तांबे को गलाते हैं ।[1]

(ख) ताम्र वस्तु को तपाया जाना :

'मज्झिम निकाय' से तप्त अवस्था में ताम्र, लोह का उल्लेख प्राप्त होता है। तप्तावस्था में प्राप्त इस वस्तु का उपयोग अपराधी व्यक्ति को दंडित करने के लिए किया गया था । यथा–

'तत्तम्बलोहं मुखं असिजन्ति ।' अर्थात्
'तप्त ताम्रलोह को मुख में डालते हैं ।'[2]

(ग) मिश्र धातु ताम्र :

'अंगुत्तरनिकाय' से सुवर्ण में मिलाए जाने वाले ताम्र धातु का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार के सुवर्ण को नकली कहा गया है तथा उसमें मिश्रित ताम्र आदि धातु को सुवर्ण का मैल कहा गया है । यथा–

'येहि उपक्किलेसेहि उपक्किलिट्ठं जातरूपं न चेव मृदु होति न च कम्मनियं न च पभस्सरं पभंगु च, न च सम्मा उपेति कामाय । येहि .....अयोलोहं तिपु सीसं सज्झं ।' अर्थात्

'जातरूप के पाँच प्रकार के मैल होते हैं जिनसे संयुक्त हो सुवर्ण न मृदु होता है, न कोमल होता है, न कमाया जा सकने वाला होता है, न प्रभास्वर होता है तथा टूटने वाला होता है एवं ठीक से काम में न लाया जा सकने वाला होता है । ये हैं लौह, ताम्र रांगा, सीसा, एवं रजत ।'[3]

अर्थशास्त्र में ताम्र आदि को मिलाकर सुवर्ण को आभूषण के लिए तैयार किये जाने का उल्लेख मिलता है । इसमें स्वर्णकार द्वारा सोने में चाँदी की जगह ताम्र एवं सोने की जगह चाँदी भरकर उतना ही सुवर्ण हड़प लिया जाता है ।[4] इस प्रकार पालि ग्रंथों से ताम्र धातु के सीमित किन्तु विकसित प्रक्रिया के (प्रगलन) एकाध उदाहरण प्राप्त होते हैं । परवर्ती चरण में ताम्र धातु कर्म में रत् कर्मकार को

---

1. फार्बस, आर जे. स्टडीज़ इन एन्शियंट टेक्नालाजी, खंड-8, पृ. 16-19.
2. मज्झिम निकाय, खंड-3, पृ. 258, हि. अनु. पृ. 547.
3. अंगुत्तरनिकाय खंड-2, पृ. 286, हि. अनु., पृ. 250.
4. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 179.

लोहकार कहा गया है ।[1] जो एक विकसित व्यवसायिक श्रेणी के रूप में स्थापित होने का सूचक है ।

अन्य धातुओं से निर्मित वस्तुओं की तालिका

ताम्रमयी वस्तुएं

वस्तुएं	प्रथम काल	द्वितीय
(क) पात्र :		
(1) पाति	1	-
(2) भाण्ड	1	-
(3) द्रोणी	1	-
(ख) दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुएं :		
(1) कर्णमलहरणी	1	-
(2) शास्त्र-कूट	1	-
(3) मुद्रा		
ताम्रमासक	2	2
कहापण	3	5
(ग) मनोरंजन की वस्तु :		
(1) ताम्रमयी शश		1

उपरोक्त ताम्रमयी वस्तुओं की तालिका से ज्ञात होता है कि ताम्र का सर्वाधिक उपयोग मुद्राराशि के रूपमें किया जा रहा था । परवर्ती काल में सामान्य प्रचलन की कहापण मुद्रा का उपयोग बढ़ गया था । यद्यपि ताम्रमय वस्तुओं के अत्यन्त सीमित उपयोग प्राप्त होते हैं । किन्तु प्रसंगवशात् प्राप्त इन एकाध उदाहरणों में बहुत से ताम्र भाण्डों का उल्लेख उनके अत्यधिक संख्या में प्रचलित होने का संकेत देते हैं । यथा–बहु लोह मण्डं सन्निचयं करोन्ति ।'

कांस्य धातु

सभ्यता–संस्कृति के प्रारम्भिक चरणों से ही मिश्र धातु कांस्य की प्राचीनता ज्ञात होती है । मूल धातु ताम्र में पांच प्रतिशत से पच्चीस प्रतिशत तक रांगे का

---

1. मिलिन्दप्रश्न, पृ. 234 (हि. अनु.) .

मिश्रण करके इस धातु को तैयार किया जाता है । लगभग तृतीय सहस्राब्दी ई. पू. से ही कांस्य धातु से निर्मित विभिन्न प्रकार के पात्र, औजार एवं अलंकरण की वस्तु (मूर्ति) प्राप्त होते हैं । बाद के प्रथम सहस्राब्दी ई. पू. के काल में भी कांस्यमयी वस्तुओं की उपयोगिता बनी रही । इस धातु को 'घण्टिका धातु' के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि रांगे के मिश्रण से तैयार इस धातु में ध्वनि संचारण का विशेष गुण विद्यमान होता है । अतः जहाँ कांस्यमयी वस्तुओं को पीटने पर उससे तेज आवाज़ निश्चित होती है वहीं इन वस्तुओं के टूटने पर उसके ध्वनि संचारण में अवरोध उत्पन्न हो जाता है । प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से अपने इसी मौलिक गुण में ज्ञात कांस्य धातु से निर्मित वस्तुओं के सामाजिक प्रचलन पर बहुलता से प्रकाश पड़ता है । ताम्रधातु की अपेक्षा कांस्य धातु का ज्यादा प्रचलन संभवतः ताम्र धातु के सीमित होने का एक कारण रहा होगा अथवा कांस्य उत्पादन के कारण ताम्र धातु का सीमित उल्लेख प्राप्त होता है ।

प्रस्तुत अध्याय में ताम्र धातु के बाद प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों में वर्णित कांस्य धातु विषयक विवरणों का अध्ययन किया गया है । पालि ग्रन्थों से कांस्य धातु के विभिन्न प्रकार के दैनिक उपयोग में लाए जाने वाले वस्तुओं के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । उपयोगिता की दृष्टि से वर्णित कांस्य धातु संबंधी विवरणों के अन्तर्गत सर्वप्रथम विवेच्य काल में वस्तुओं के प्रचलन एवं महत्व तथा विवेच्य काल के अन्त में उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । तत्पश्चात् तत्कालीन समाज में विकसित अवस्था में ज्ञात कांस्य व्यवसाय पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है ।

प्राचीन बौद्ध पालि ग्रन्थों से कांस्य धातु के लिए 'कंस' शब्द प्राप्त होता है । प्राचीन पालि ग्रन्थों के अध्ययन से इस बात की स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है कि कांस्य धातु मूल रूप में कठोर होने के साथ-साथ[1] अपने मौलिक गुण में तेज ध्वनि का संचारण करता है[2] तथा वस्तुओं के टूटने पर उसमें ध्वनि संचारण का यह विशेष गुण समाप्त हो जाता है अथवा वस्तु पीटने पर वह निशब्द हो जाता है ।[3]

---

1. 'कंसो सिगालो च कुम्भो पोक्खरिणी च अपाकचन्दनं लाम्बूनि सीदन्ति' अर्थात् कांसा, स्यारी, घड़ा, पुष्करिणी, अपक्व चंदन, एवं तंबू पानी में डूबते हैं ।' : जातक, सं. 77, खु. नि., भाग-1, पृ. 18-19. हि. अनु., प्र. भा., पृ. 481.
2. 'कंसथालं आकोटितं पृच्छा अनुरवति, अनुसद्दायति' अर्थात्
'कांसे की थाली को पीटने से उससे आवाज निकलती है ।'
मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 50; हि. अनु., पृ. 76, 376.
3. 'सचे, नेरेसि अत्तानं, कंसो उपहतो यथा ।' अर्थात्' टूटे हुए कांसे के समान निःशब्द करलो (अपने आपको) ।' --धम्मपद, खु. नि., खंड-1, पृ. 30, 74, हि. अनु. पृ. 74.

पालि ग्रन्थों से विभिन्न प्रकार के दैनिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले कांस्यमयी वस्तुओं के अन्तर्गत गृहस्थोपयोगी कांस्य के पात्रों, अलंकरण की वस्तुएं एवं मुद्राराशि के रूप में कांस्य को व्यवहार में लाए जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन वस्तुओं का प्रचलन मोटे तौर पर धनाढ्य एवं सामान्य वर्ग में परिलक्षित होता है । किन्तु जहाँ पात्रों एवं अलंकरण की वस्तु का उपयोग धनाढ्य वर्ग में दिखाई पड़ता है वहीं सामान्य वर्ग में मात्र कांस्य पात्रों का प्रचलन विशेष रूप से ज्ञात होता है । सामान्य वर्ग में कांस्य पात्रों का विशेष महत्व था क्योंकि प्रायः इनके द्वारा विशिष्ट व्यक्तियों के (भगवान बुद्ध) आतिथ्य सत्कार के समय उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं ।

मोटे तौर पालि ग्रन्थों से ज्ञात कांस्य धातु संबंधी विवरणों का इस प्रकार वर्गीकरण किया गया है :–

(1) दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाले कांस्य पात्र यथा : भाण्ड, थाली एवं कटोरा ।

(2) अलंकरण की वस्तुएं यथा - कांसे की घण्टी एवं कांस्यमयी चरणपादुका ।

(3) कांस्य मुद्राराशि एवं

(4) कांस्य व्यवसाय ।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन वस्तुओं में मिश्र धातु कांस्य का उपयोग पात्रों एवं मुद्राराशि के रूप में मुख्य रूप से किया जाता था जबकि मनके अथवा तार आदि से अलंकरण की वस्तु को तैयार किया जाता रहा होगा । इसके अतिरिक्त एक अन्य संभावना सुनहरे वर्ण के कांस्यमय चमकदार पालिश को चढ़ा कर भी संभवतः कांस्य वस्तुओं विशेषकर पात्र को बनाया जाता रहा होगा क्योंकि पालि निकायों से 'कंसकूट' अर्थात् 'कांसे की ठगी'[1] से विरत रहने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

---

1. कंसमान. कूटमान विरतति ।' अर्थात्
'कांसे की ठगी से विरत रहना चाहिए ।'
दीघनिकाय, खंड-1, ब्रह्मजालसूत्र, पृ. 20.; म. नि. खं-, पृ. 231 अ. नि., खड-4 पृ. 250 : 'कांस्यकूट' से तात्पर्य सुवर्ण की भांति चमकदार पालिश को अर्थात सुनहरे वर्ण के पालिश चढ़ाकर कांस्यपात्रों को तैयार किया जाना ।

प्रथमकालः (6ठीं-5वीं शता ई.पू. से चतुर्थ शता ई. पू. तक) :

प्रथम काल के पालि ग्रन्थों से कांस्यमयी वस्तुओं के विभिन्न उपयोगों पर प्रकाश पड़ता है । इन वस्तुओं में गृहस्थोपयोगी कांस्य के पात्रों, कांसे की घण्टी एवं कांस्यमयी चरणपादुका के उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि धनाढ्य वर्ग में जहाँ सभी प्रकार के कांस्य वस्तुओं का प्रचलन ज्ञात होता है वहीं सामान्य वर्ग में कांस्य पात्रों को ही उपयोग में लाए जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं ।

(1) कांस्य निर्मित पात्र :

प्रथम काल से कांस्य पात्रों के बहुलता से उल्लेख प्राप्त होते हैं । इन पात्रों को धनाढ्य एवं सामान्य दोनों ही वर्गों द्वारा प्रयुक्त किया जाता था । सामान्य वर्ग में कांस्यमयी पात्रों का विशेष महत्व ज्ञात होता है । पालि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कांस्य पात्र सस्ते नहीं होते थे । प्रायः बौद्ध श्रमणों को इनसे विरत रहने का निर्देश दिया गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि बहुमूल्यता के क्रम में सुवर्ण एवं रजत के बाद कांस्य धातु का स्थान था जो बहुमूल्य तो थी किंतु अपेक्षाकृत (सुवर्ण रजत) कम । संभवतः सामान्य वर्ग के आर्थिक स्थिति के अनुरूप कांस्यपात्रों की उपलब्धता संभव होने का यही कारण रहा होगा । इन पात्रों के अन्तर्गत कांसे के बड़े पात्र अथवा भाण्ड, कांस्यपाती अथवा थाली के उल्लेख प्राप्त होते हैं । इनके लिए 'कंसमण्डं', 'कंसपत्तं', 'कसपाति', 'महतिया कंसपाति', 'कोसालिका कंसपाति' एवं' कंसथालं' इत्यादि शब्दों के उल्लेख मिलते हैं । पालि निकायों में कोशल की बनी कांसे की पाति का विशेष प्रचलन ज्ञात होता है ।

(क) कंसमण्डं :

'चुल्लवग्ग' से षडवर्गीय भिक्षुओं के कांस्यपात्रों के संचयन किये जाने तथा भगवान बुद्ध द्वारा इनके संचयन पर आपत्ति प्रगट किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार राजगृह के मनुष्य इन भिक्षुओं द्वारा कांस्यपात्रों के संचयन पर आश्चर्यचकित थे । यथा

'भिक्खु बहुं लोहमण्डं कंसमण्डं सन्निचयं करोन्ति । मनुस्सा विहारचारिकं आहिण्ता पस्सित्वा उज्झायन्ति खिप्पयन्ति विपायन्ति । समणासक्युपुत्तिया बहुलोहमण्डं कंसमण्डं सन्निचयम् करिस्सन्ति सेयूयथापि कंसपत्थरिका' ति ।' यो धारेयूय आपत्ति दुक्कटस्स ।' अर्थात्

'भिक्षु बहुत से लोह भाण्ड एवं कांस्य भाण्डों का संचयन करते हैं । मनुष्य उन्हें देखकर आश्चर्यचकित होते हैं । श्रमण शाक्यपुत्र बहुत से लोहभाण्ड एवं

चाइल्डर्स, आर. सी., डिक्श. आव पा. लैं., पृ. 187.

कांस्यभाण्डों का संचयन करते हैं । कंसेरे की भांति । भिक्षुओं जो इसे ग्रहण करे वह दुक्कुट का दोषी है ।'[1]

'विनयपिटक' से 'वारक' एवं 'मारक' नामक बड़े आकार के पात्रों का उल्लेख मिला है[2] जिसे सांकृत्यायन जी ने मटका कहा है ।[3] कांस्यनिर्मित भाण्ड भी संभवतः खाद्यान्न संचयन अथवा पकाने के लिए उपयोग में लाया जाने वाला पात्र प्रकार रहा होगा । पुरातात्विक उत्खननों में कौसाम्बी एवं राजघाट से कांस्यनिर्मित बड़े आकार के पात्र के टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनके रासायनिक परीक्षण से क्रमशः 76.50% ताम्र एवं 14.76% रांगा, 79.21% ताम्र एवं 19.13% रांगा, 86.90% ताम्र एवं 7.83% रांगा तथा तक्षशिला से प्राप्त घट प्रकार के कांस्य पात्र भी प्राप्त होते हैं जिनमें 56.39 % ताम्र एवं 4.25% रांगे का मिश्रण ज्ञात होता है ।[4] इनकी तिथि छठी-पांचवीं शता. ई. पू. से चतुर्थ शता. ई. पू. तक की आंकी गयी है ।

(ख) कंसपत्तं :

'चुल्लवग्ग' से षडवर्गीय भिक्षुओं के बहुमूल्य पात्रों से विरत रहने के संदर्भ में कांस्यपात्र का उल्लेख प्राप्त होता है जो भिक्षुओं के भोजन आदि ग्रहण करने वाला पात्र प्रकार रहा होगा । यथा–

> 'छब्बग्गिया भिक्खु उच्चावचे पत्ते धारेन्ति सोवण्णमयं रूपियमयं-...
> कंसमयं । न भिक्खवे कंसमयो पत्ते धारेतब्बो ।' अर्थात्

'षडवर्गीय भिक्षु बहुमूल्य धातु के बने सुवर्णमय, रजतमय एवं कांस्यमय पात्रों को धारण करते थे । भिक्षुओं को कांस्य पात्रों को नहीं ग्रहण करना चाहिए' ।[5]

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 225, 226, हि. अनु. पृ. 442.
2. चुल्लवग्ग, पृ. 266.
3. वही, हि. अनु., पृ. 470.
4. शर्मा, गोवर्द्धन राय : एक्सकेवेशनूस एट कौशाम्बी, 1949-50; इंडियन आर्कियोलाजी, 1953, ए रिव्यू 1954-55, दि गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 168; तालिका-नं02, सी एस आर, मोनोग्राफ, नं. 10, 1965, भारद्वाज़, एच. सी., पुरातत्व नं.2, 1968-69, पृ. 32, मार्शल जान, तक्षशिला, खंड-3, पृ.79; एन्शियेन्ट ई. क्वाएन एज इन एन्शियंट इंडिया, तालिका, 21. 2, पृ. 526.
5. चुल्लवग्ग, पृ. 225, हि. अनु., 441 .

उपरोक्त संदर्भ में ही सुवर्णमय, रजतमय, लोहमय, रांगेमय, सीसामय एवं कांस्यमय पात्रों से भी भिक्षुओं को विरत रहने का निर्देश प्राप्त होता है ।[1] थेरगाथा में 'पत्त' पाति प्रकार के पात्र के अन्तर्गत उल्लिखित हुआ है ।[2] अतः उपरोक्त संदर्भ में उल्लिखित कंसपत्त भी पाती या तश्तरी प्रकार का भोजन आदि ग्रहण करने वाला पात्र ज्ञात होता है ।

(ग) कंसपाति :

पालि ग्रन्थों के प्रथम चरण से सर्वाधिक उल्लेख पाति प्रकार के कांस्य पात्रों के ज्ञात होते हैं । इनका उपयोग वैशाली के वज्जिपुत्तको, धनी गृहपति वर्ग द्वारा दान आदि कार्यों में सहस्रों की संख्या में दिये जाने तथा कंसेरे द्वारा विक्रय के संदर्भ में प्राप्त होता है जिनका क्रमशः उल्लेख दिया गया है ।

1. चुल्लवग्ग' से वैशाली के वज्जिपुत्तक द्वारा भिक्षु संघ में जल से भरे कांसे की थाली को रखे जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

 'कंसपाति उदकेन पूरेत्वा मज्झे भिक्खुसंघस्य ठपेत्वा ।' अर्थात्
 'जल भरी कांस्य की पाती को लेकर भिक्षु संघ के मध्य बैठकर ।'[3]

2. 'अंगुत्तरनिकाय' से श्रावस्ती के धनी वेलाम नामक ब्राह्मण गृहपति द्वारा महादान के अवसर पर सहस्रों की संख्या में हिरण्य से परिपूर्ण कांसे की थाली को दान में दिये जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

 'चतुरासीति कंसपाति सहस्सानि अदासि हिरण्यपूरानि ।' अर्थात्
 'हिरण्य से पूर्ण चौरासी हजार कांसे की थाल को दान में दिया ।'[4]

3. 'मज्झिमनिकाय' से कंसेरे द्वारा कंसपाति को विक्रय करने का वर्णन् प्राप्त होता है– यथा

'कंसपाति आभता आपणा व कम्मारकुला वा रजेन वा मलेन च परियोनद्धा ।' अर्थात्

---

1. वही, हि. अनु., पृ. 441.
2. थेरगाथा, खु. नि. खंड-2, पृ. 354, हि अनु. पृ. 206.
3. थेरगाथा, खु. नि. खंड-2, पृ. 354, हि अनु. पृ. 206.
4. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2, पृ. 36, हि. अनु. पृ. 33.

'कांसे की थाली रज एवं मल से लिप्त दुकान से या कसेरे के घर से लायी जाय ।'[1]

चाइल्डर्स ने पाति को थाली या तश्तरी दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त किया है ।[2]

(घ) महतिया कंसपातिया :

'सुत्तनिपात' के 'कसिभारद्वाज सुत्त' से मगध के एकनाला ब्राह्मण ग्राम के कसि भारद्वाज नामक कृषक द्वारा भगवान बुद्ध के आतिथ्य सत्कार में बड़ी सी कांसे की थाली में खीर परस कर दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'महतिया कंसपातिया या पायासं वड्ढेत्वा भगवतो उपभामेसि ।' अर्थात्

'एक बहुत बड़ी कांसे की थाली में भगवान को खीर परस कर दिया[3] ।

डा. अखिलेश्वर मिश्र ने उपरोक्त संदर्भ में कंसपाति से तात्पर्य कांसे के गिलास से ग्रहण किया है[4] । किन्तु संदर्भ विशेष के आधार पर उनका मत समीचीन प्रतीत नहीं होता ।

(च) महती कोसालिका कंसपाति :

संयुक्तनिकाय' के 'सप्पसुत्त' से सर्पराज मार की अत्यधिक चमकदार आंखों की उपमा कोसल की बनी विशाल आकार की कांस्यपाती से दी गई है । यथा–

'महती कोसालिका' कंसपाति, एवमस्स अक्खिनी भवन्ति ।' अर्थात्

'कोशल की बनी बड़ी कांसे की थाली के समान उसकी आंखे थीं ।'[5]

उपरोक्त संदर्भ में दो बातें मुख्य रूप से ज्ञात होती हैं । अर्थात् कोसल कांस्य पात्रों का प्रसिद्ध स्थल था तथा कांस्यपात्र का वर्ण सुनहरे अथवा सर्प आंखों के वर्ण विशेष की भांति था ।

(छ) पालि निकायों से नापित द्वारा स्नान चूर्ण को तैयार करने के लिए कांसे की थाल को उपयोग में लाए जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा–

'दक्खो न्हापको न्हापकन्तेवासी वा कंसथाले न्हानीय चुण्णानि
आकिरित्वा उदकेन परिप्फोसेयूयकं सन्नेयय् ।' अर्थात्

---

1. मज्झिमनिकाय, खंड-1, पृ. 34, हि. अनु., पृ. 17-18-19-20.
2. चाइल्डर्स, आर.सी. डिक्श. आव पा. लैं., पृ. 358.
3. सुत्तनिपात, खु. नि., खंड-1, पृ. 281, हि. अनु., पृ. 21.
4. मिश्र, अखिलेश्वर : सुत्त पिटक में वर्णित भौतिक जीवन का एक अध्ययन, 1986, पृ. 320.
5. संयुक्त निकाय, खंड-1, पृ. 106, हि. अनु. पृ. 32.

'दक्ष न्हापक अथवा उसके पुत्र द्वारा कांसे की थाल में स्नानचूर्ण को रखकर पानी से सींचा जाता है ।[1]

पालि निकायों से 'कंसकूट' अर्थाट कांसे की ठगी से विरत रहने का उल्लेख प्राप्त होता है । चाइल्डर्स के अनुसार सुवर्ण की भांति सुनहरे वर्ण की पालिश चढ़ाकर (कांस्यवर्ण) कांस्यपात्रों को विक्रय करने का उल्लेख ठगी के संदर्भ में प्राप्त होता है । 'कंसकूट' का तात्पर्य चाइल्डर्स ने इसी प्रकार से लिया है ।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि कंस थाल संभवतः परात प्रकार का बड़ा पात्र रहा होगा तथा उसपर कांस्यवर्ण के चमकदार पालिश को चढ़ाया जाता रहा होगा जो सामान्य वर्ग के व्यवहार में व्यवहृत किया जाता रहा होगा ।

पुरातात्विक उत्खननों में तक्षशिला एवं पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न भागों से लालिमा युक्त अत्यधिक चमकदार एवं धूसर मृद भाण्ड प्राप्त हुए हैं ।[3] 'कंसकूट' से तात्पर्य संभवतः इसी प्रकार के पात्रों से रहा होगा ।

(ख) कांस्यमयी अलंकरण की वस्तुएं :

प्रथम काल से कांस्यमयी अलंकरण की वस्तुओं के अन्तर्गत कंसआभरण, घण्टिका एवं कांस्यमयी चरणपादुका के उल्लेख प्राप्त होते हैं । कांसे की घंटी को धनी गृहपति द्वारा एवं राजप्रसाद में पोषित पशु (गाय) द्वारा वैभव के प्रतीक स्वरूप धारण किये होने का उल्लेख प्राप्त होता है जबकि कांस्यमयी चरणपादुका का उल्लेख बौद्ध भिक्षुओं को बहुमूल्य धातुओं की वस्तुओं से विरत रहने के संदर्भ में प्राप्त होता है ।

1 कांसे की घण्टी :

'दीघनिकाय' के 'महासुदस्सनसुत्त' से कुसीनारा नरेश के राजप्रसाद में राजकीय पशु गौ के अलंकरण हेतु एवं' अंगुत्तरनिकाय' के 'वेलाम सुत्त' धनी गृहपति ब्राह्मण द्वारा दुग्धधारी कांसे की घण्टी पहने गायों को दान में दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. दीघनिकाय, खंड-1, पृ. 29, हि. अनु., पृ. 19; म. नि., खंड-3, पृ. 153; अं. नि., खंड-2, हि. अनु., पृ. 255-,256.
2. दीघनिकाय, प. 20, म. नि., खं 7, 231, डिक्शनरी आव पालि लैंग्वेज, पृ. 187.
3. मार्शल जान : एक्सकेवेशन्स एट भीटा, एनुअल रिपोर्ट आव आर्कि. सर्वे आव इंडिया, पृ. 40; नारायण, ए. के, व राय, टी. एन., एक्सकेवेशन्स एट राजघाट, 1957-58, 1960-65, भाग-2, वाराणसी, पृ. 566-9; आई. ए. आर. 1974-75, पृ. 77, 1963-64, पृ.8, 1961 (वैशाली), पृ. 5, 1970-71, पृ. 45.

'चतुरासीति धेनु सहस्सानि अहेसुं दुहसन्धनानि कंसूप धारणानि अहेसुं ।' अर्थात्

'कांसे की घण्टी पहने हुए चादर ओढ़े हुए दूध देने वाली चौरासी हजार गायें थीं ।'[1]

श्रावस्ती से उ. कृ. मा. सं. के प्रारम्भिक चरण से घण्टी के आंतरिक भाग में लगी हुई पिण्डी, प्रकाश से खोखली घण्टिका तथा कौशाम्बी से भी परवर्ती चरण से घण्टिका प्राप्त हुई है । इनके रासायनिक परीक्षण से लगभग 61. 32% ताम्र, एवं 19. 43% रागे का मिश्रण आंका गया है तथा इसे कांसे की श्रेणी में रखा गया है ।[2]

2 कांस्यमयी चरणपादुका :

'महावग्ग' से भिक्षुओं के बहुमूल्य धातु से निर्मित वस्तुओं से विरत् रहने के संदर्भ में कांस्यमयी चरणपादुका का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'न कंसमया पादुका धारेतेव्बा' अर्थात्

'कांस्यमयी पादुका को नहीं धारण करना चाहिए ।'[3]

संभवतः ताम्र-कांस्य तार अथवा मनके से चरणपादुका को जड़ित कर उन्हें अलंकृत बनाया जाता रहा होगा ।

इस प्रकार प्रथम काल से कांस्यमयी वस्तुओं मे विशेष रूप से कांस्य पात्रों का प्रचलन ज्ञात होता है । इन पात्रों को कांस्य से बनाए जाने के साथ-साथ प्रायः इनपर कांस्यमयी सुनहरे वर्ण के पालिश को चढ़ाकर भी उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । बौद्ध भिक्षुओं को कांस्यमयी वस्तुओं से विरत रहने का संदर्भ प्राप्त होता है । इससे ज्ञात होता है कि इस काल में कांस्यधातु सस्ती नहीं थी ।

द्वितीय कालः (चुतर्थ शता. ई. पू. से प्रथम शता. ई. पू. तक) :

इस काल तक आते-आते नवीन प्रकार के कांस्यवस्तुओं पर प्रकाश पड़ता है जो इसके बढ़ते महत्व एवं प्रचलन का सूचक है । इसके अन्तर्गत नवीन प्रकार के कांस्यपात्र यथा कटोरेनुमा पात्र तथा कंसमुद्रा राशि को प्रयोग में लाए जाने के

---

1. दी. नि., खं.2, पृ. 136-37: हि. अनु., पृ. 156; अंगु., खं.2, पृ.36, हि. अनु., पृ. 33.
2. सिन्हा, के. के.; एक्सकेवेशन्स ऐट श्रावस्ती -1959; राय, त्रिभुवननारायण, दि गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 156; 168; अथानाले, वी. टी.; आइ. ए., नं., 20 व 22, पृ. 131-136.
3. महावग्ग, पृष्ठ - 209, 210.

उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । इस काल में भी कांस्यवस्तुओं का प्रचलन उच्च एवं धनाढ्य वर्ग के साथ-साथ सामान्य वर्ग में भी ज्ञात होता है ।

(क) कांस्यपात्र :

कांस्यपात्रों के अन्तर्गत तश्तरी अथवा थाली एवं कटोरे का उल्लेख प्राप्त होता है । थाली के लिए प्रायः 'महती' अर्थात् विशाल आकार की होने का उल्लेख मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पाती अथवा थाली मध्यम आकार की तथा उससे कुछ बड़े आकार की (परात प्रकार की) बनती रही होगी । इन पात्रों के लिए 'महती कंसपाति', 'कंसथालं', 'कंस' एवं 'कंसमल्लके' इत्यादि शब्द प्राप्त होते हैं ।

1. महती कंसपाति :

'अपदानपालि' से बौद्ध भिक्षुणी द्वारा भगवान बुद्ध के आतिथ्य सत्कार में विशाल आकार की कांसे की थाली में खीर परस कर दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

> 'महच्चा कंसपातिया, वडढेत्वा पायासं अहं'[1] अर्थात्
> 'बड़ी कांसे की थाली में खीर परस कर दिया ।'

2. कंसथालं :

जातक एवं मिलिन्द प्रश्न से कांसे की थाल का उल्लेख प्राप्त होता है । 'चूलधनुग्गहजातक' से चौरकर्म के संदर्भ में कांसे की थाली का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

> 'यो हरे मत्तिकं थालं, कंसथालं पि सो हरे' अर्थात्
> 'जो मिट्टी की थाली चुराता है वो कांसे की थाली को भी चुराता है ।'[2]

मिलिन्दप्रश्न से कांसे की थाली का उल्लेख प्राप्त होता है जिसके पीटने पर उससे तेज ध्वनि का संचारण होता है । यथा–

> 'कंसथालं आकोटितं पुच्छा अनुरवति अनुसद्दायति' अर्थात्
> 'कांसे की थाली पीटने से दूर-दूर तक आवाज़ जाती है ।'[3]

---

1. अपदान, खु. नि. खंड-6, पृ. 183.
2. जातक, सं. 374, पृ. 126, हि. अनु., पृ. 384.
3. मिलिन्दपन्ह, पृ. 50., हि. अनु., पृ. 76, 376.

उपरोक्त संदर्भ में कांस्यधातु में विद्यामान ध्वनिसंचारण के विशेष गुण का उल्लेख प्राप्त होता है सोनपुर से उ. कृ. मा. सं. के परवर्ती चरण से कास्यंपात्रों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं ।[1]

3. कंसं :

'थेरगाथा' एवं 'महाजनक जातक' से बहुमूल्य पात्रों के संदर्भ में कंसं शब्द व्यवहृत हुआ है । जातक से प्राप्त संदर्भ के अनुसार मिथिला नरेश बहुमूल्य धातु कांसे से बने पात्र को त्याग कर मिट्टी के पात्रों को ग्रहण करते हैं । ऐसा वे प्रवज्या ग्रहण करने के बाद करते हैं । यथा–

'हित्वा सतफलं कंसं, सोवण्ण सतराजिकं ।
अग्गही मत्तिकं पत्तं, तं दुतियाभिसेचनं ।।' अर्थात्

कांसे के सुन्दर पात्र एवं सतराजिक भार वाले सुवर्ण पात्र को त्यागकर मैंने मिट्टी का पात्र ले लिया है, यह मेरा दूसरा अभिषेक है ।[2]

काश्यप जी ने 'कंस' शब्द को कटोरे के अर्थ में गृहीत किया है ।[3]

4. कंसमल्लके :

'सुजाता जातक' से काशी नरेश ब्रह्मदत्त के कांस्य निर्मित कटोरेनुमा पात्र में बेर आदि फल रखकर खाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'किमण्डका इमे देव निक्खिता कंसमल्लके उपलोहितका वग्गू ।'[4]

अनुवादक आनन्द कौसल्यायन जी ने 'कंसमल्लके' का अभिप्राय सोने की थाली से ग्रहण किया है । ऐसा संभवतः उन्होंने राजघराने में प्रयुक्त पात्र के कारण कांसे को सुवर्ण के अर्थ में प्रयुक्त किया है ।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि फल आदि रखने के लिए 'कंसमल्लके' कटोरेनुमा पात्र प्रकार रहा होगा जो पाती अथवा थाली से भिन्न था । पुरातात्विक स्थल तक्षशिला से तृतीय शताब्दी ई. पू. से कांसे का कटोरा प्राप्त

---

1. सिन्हा, बी. पी.: एवं बर्मा, बी.एस.: सोनपुर एक्सकेवेशन्स, 1956- 59-62. दि गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 168, तालिका नं. 2.
2. थेरगाथा, खु. नि. खंड-2, पृ. 354, हि. अनु., पृ. 206; जातक, सं. 539, पृ. 170, हि. अनु. पृ. 60.
3. थेरगाथा, हि. अनु. पृ. 206.
4. जातक, सं. 306, पृ. 88, हि. अनु., पृ. 191.
5. जातक, सं. 306, हि. अनु., पृ. 478.

हुआ है । इसके रासायनिक परीक्षण से लगभग 76.76 % ताम्र एवं 21. 55% रांगे का मिश्रण आंका गया है ।[1]

इस प्रकार द्वितीय काल से ज्ञात कांस्यमयी वस्तुओं में कुछ नवीन प्रकार के पात्रों यथा कटोरेनुमा पात्र प्रकार का उल्लेख भी ज्ञात होता है । इनका प्रयोग विशेषतः राजघराने में किया जाता था ।

(ख) कंसमुद्रा राशि :

'उदयजातक' से कांस्य निर्मित मुद्राराशि का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार काशी के नरेश अपनी पुत्रवधू को जो अपने प्रवजित बोधिसत्व पति के साथ राजभवन को छोड़कर जाने को तैयार होती है, कांस्य से परिपूर्ण रजत थाली को देने का लोभ देते हैं । यथा–

'ददामि ते रूपियं कंस पूरं ।' अर्थात्
'मैं तुम्हें कांसे से परिपूर्ण रजत की थाली दूंगा ।'[2]

अनुवादक कौसल्यायन जी ने यहाँ कंस धनराशि से तात्पर्य सुवर्ण से लिया है ।[3] किन्तु पूर्वोक्त संदर्भ में एक निश्चित परिमाण वाले कांसे की मुद्राराशि के अर्थ में ग्रहण करना समीचीन प्रतीत होता है । राजघाट से चतुर्थ शता. ई. पू. से द्वितीय शता. ई. पू. की कांसे की मुद्रा प्राप्त हुई है जिसमें 86.90% ताम्र एवं 7.83% रांगे का मिश्रण रासायनिक परीक्षण से ज्ञात हुआ है ।[4]

इस प्रकार द्वितीय काल से नवीन प्रकार के कंसपात्रों के अतिरिक्त कांस्यमुद्राराशि का प्रचलन भी ज्ञात होता है यद्यपि इसका उपयोग राजघराने तक ही सीमित ज्ञात होता है ।

कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में कांस्य धातु का तुलनात्मक विवेचन :

विवेच्य काल में कांस्य धातु से निर्मित वस्तुओं के विवरण से सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि उच्च एवं सामान्य दोनों ही वर्गों में उनका प्रचलन था । प्रथम काल में जहाँ कांस्य वस्तुओं में अलंकरण की वस्तु एवं पाती प्रकार के पात्र का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं द्वितीय काल तक आतेआते कांस्यपात्रों के नवीन प्रकारों पर भी प्रकाश पड़ता है । द्वितीय काल में कांस्यमुद्राराशि को भी व्यवहार में लाया

---

1. प्राचीन भारत में रसायन का विकास, पृ. 778.
2. जातक, सं. 458, पृ. 223., हि. अनु., पृ. 308-9.
3. जातक, सं. 458, हि. अनु., पृ. 308-09.
4. भारद्वाज, एच. सी.; पुरातत्व नं. 2, 1968-69, पृ. 32.

जाने लगा था जो इस काल तक आते-आते कांस्यमयी वस्तुओं के क्रमशः बढ़ते प्रचलन का संकेत देता है । अन्य धातुविषयक विवरणों की भांति कांस्यधातु से निर्मित वस्तु का उल्लेख भी प्रथम काल में जहाँ बौद्ध संघ के निषेधात्मक विधान के अन्तर्गत प्राप्त होता है । वहीं द्वितीय काल में इसके उच्च वर्ग एवं श्रावक वर्ग में स्वतंत्र उपयोग पर प्रकाश पड़ता है ।

कांस्य व्यवसाय :

पालि ग्रन्थों से यद्यपि कांस्य तकनीकी ज्ञान के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु कांस्य व्यवसाय अत्यन्त उन्नत अवस्था में ज्ञात था, इसमें कोई संदेह नहीं है । कांस्य कर्म में रत एक स्वतंत्र विकसित व्यवसायिक श्रेणी के रूप में उनका समाज में स्थान बन चुका था जिन्हें धातुकार सूचक 'कम्मार' तथा 'कंसपत्थकारिका' इत्यादि नामों से जाना जाता था । ये व्यवसायिक श्रेणी कांस्यवस्तुओं का निर्माण एवं इनका विक्रय करते थे । इनके अपने पूरे पूरे कुल होते थे जिसके कारण से इनके लिये 'कम्मारकुल' शब्द व्यवहृत हुआ है जो एक अलग व्यवसायिक वर्ग के सामूहिक रूप से विकसित होने का सूचक है ।

'मिलिन्दप्रश्न' से वैभवपूर्ण एवं सभी प्रकार के धनधान्य से संपन्न साकल नगरी के अनिवार्य कारकों में से एक 'कंसेरे' का भी उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कहापण रजत सुवण्ण कंसपत्थ परिपूरं' अर्थात्

'कार्षापण चांदी, सोना एवं कांस्य आदि से परिपूर्ण वह नगरी थी ।[1]

कम्मारकुल :

'मज्झिमनिकाय' से कांस्यपात्रों के निर्माण एवं विक्रय में रत कम्मारकुल का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कंसपाति आभता आपणा व कम्मारकुलेन व रजेन च मलेन च परियोनद्धा ।' अर्थात्

'कांस्यपाती रज एवं मल से युक्त दुकान से अथवा कम्मारके घर से लायी जाय ।'[2]

'विनयपिटक' से कंसेरे द्वारा बहुत से कांस्यभांडों के संचयन किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'कंसमण्डं सन्निचयं करोन्ति सेय्यथापिकंसत्थप्पकारिक' अर्थात् 'कांस्यभाण्डों का संचयन बौद्धभिक्षु कसेरे की भांति करते हैं ।'[3]

---

1. मिलिन्दप्रश्न, हि. अनु., पृ.
2. मज्झिम नि., खंड-1, पृ. 34, हि. अनु., पृ. 17, 18, 19-20.
3. चुल्लवग्ग,पृ. 225, हि. अनु., पृ. 441.

इसके अतिरिक्त पालि निकाय से कांस्य वस्तु के विशेषकर पात्रों के निर्माण स्थल के अन्तर्गत कोसल एक प्रसिद्ध स्थल के रूप में ज्ञात होता है । यहां की बनी कांस्य थाली अत्यधिक चमकदार होती थी ।[1] संभवतः कसेरा कांस्यमयी सुनहरे वर्ण की पालिश आदि को भी पात्र आदि पर चढ़ाकर उनका विक्रय करते थे । यद्यपि इसके लिये 'कंसकूट' शब्द व्यवहृत हुआ है किंतु ये कर्म कसेरे द्वारा किये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है ।

इस प्रकार बौद्ध काल में एक विकसित कांस्य व्यवसाय के स्थापित होने की पुष्टि होती है । यद्यपि पालि ग्रन्थों से कांस्य धातु को तैयार किये जाने की विधि का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि कांस्यवस्तुओं के विभिन्न उपयोगों एवं व्यवसायिक श्रेणी कसेरा द्वारा उनका बहुलता से निर्माण एवं विक्रय किये जाने संबंधी उल्लेख से विकसित कांस्यकर्म पर प्रकाश पड़ता है ।

कांस्यमय वस्तुएंः

वस्तुएंः	**प्रथम काल**	**द्वितीय काल**
(क) पात्रः		
(1) भाण्ड	1	–
(2) थाली	6	6
(3) कटोरा	1	–
(ख) अलंकरण की वस्तुएंः		
(1) कांसे की घण्टी	2	–
(2) चरणपादुका	1	–
(ग) कांस्यमुद्रा		

उपरोक्त दी गयी तालिका को देखने से स्पष्ट रूप से यह ज्ञात होता है कि परवर्ती काल में नवीन रूपों में कांस्यमयी वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा था । ताम्रमयी वस्तुओं की भांति यद्यपि एकाध उदाहरण कांस्यभाण्डों एवं मुद्राराशि के प्राप्त होते हैं किन्तु बहुसंख्यक रूप में उनका उल्लेख सीमित उल्लेखों में भी तत्कालीन समाज में अत्यधिक प्रचलित होने का संकेत देता है । यथा–'बहुं लोहमण्डं कंसमण्डं सन्निच्चयं करिस्सन्ति' ।

---

1. संयुक्तनिकाय, खड-1, पृ. 106, हि. अनु., पृ. 32.

सीसा धातु

काले रंग की अत्यधित चमकदार धातु सीसे को अतिप्राचीन काल से ही ताम्र-कांस्य वस्तुओं के निर्माण में उपयोग में लाए जाने के पुरातात्विक प्रमाण प्राप्त होते हैं । 8वीं–9वीं शता. ई. पू. के ब्राह्मण साहित्य में भी सीसा धातु को औजार आदि के निर्माण में उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं जिसमें सीसा को अत्यन्त मृदु धातु कहा गया है । सीसा का एक नाम 'नाग' भी ज्ञात होता है ।[1] बौद्ध पालि ग्रन्थों से भी सीसे को स्वतंत्र रूप से अत्यन्त सीमित रूप में उपयोग में लाए जाने पर प्रकाश पड़ता है ।

प्राचीन पालि ग्रन्थों में इस धातु को 'सीसा' कहा गया है । इसका उपयोग पात्रों को बनाने एवं चरणपादुका को अलंकृत किये जाने के लिए किया जाता रहा होगा । पालि ग्रन्थों में सीसामयी वस्तुओं के अतिरिक्त इसके संभावित प्राकृतिक स्रोत, शोधन प्रक्रिया तथा सुवर्ण आदि में सीसे को डालकर उसे मिश्रित बनाए जाने के विवरण भी प्राप्त होते हैं ।

पालि ग्रन्थों से सीसामयी वस्तुओं के अन्तर्गत एकाध उदाहरणों में पात्र एवं चरणपादुका के उल्लेख मिलते हैं । इन वस्तुओं में धातु का उपयोग भिन्न प्रकार से किये जाने की संभावना ज्ञात होती है । अर्थात् पात्र आदि को अत्यधिक चमकदार बनाए जाने के लिए उसकी पालिश में तरल सीसे को डालकर उसे तैयार किया जाता रहा होगा । इस परत को पात्र पर चढ़ाया जाता रहा होगा । इसके अतिरिक्त संभवतः ताम्र-कांस्यमयी पात्रों के निर्माण में भी सीसे का उपयोग किया जाता रहा होगा । ऐसे पात्र (ताम्र-कांस्यमयी) जिसमें सीसे का अन्य मिश्र धातु की अपेक्षा ज्यादा उपयोग किया जाता रहा होगा उसे सीसेमयी पात्र की श्रेणी में रखना अनुचित नहीं रहा होगा ।

1– सीसेमयी चरणपादुकाः

'महावग्ग' से बौद्ध भिक्षुओं को बहुमूल्यधातु से बने पादुकाओं से विरत् रहने के संदर्भ में सीसेमयी चरणपादुका का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

'न सीसमय पादुका धारेतव्बा ।'[2]

संभवतः सीसे आदि से तैयार काली चमकदार पालिश से पादुका को अलंकृत किया जाता रहा होगा ।

---

1. प्राचीन भारत में रसायन शास्त्र, पृष्ठ - 31-32.
2. महावग्ग, पृ. 209-10.

2— सीसामय पात्रः

'चुल्लवग्ग' से राजगृह के षडवर्गीय भिक्षुओं को सीसेमय पात्र से विरत् रहने का निर्देश प्राप्त होता है । यथा–

'न सीसमये पत्तो धारेतब्बो ।'[1]

पूर्वोत्तर भारत से अत्यधिक चमकदार काले रंग के मृद्‌भाण्ड प्राप्त हुए हैं जिनकी संज्ञा वर्णविशेष के आधार पर 'कृष्ण मार्जित' की गयी है । आधुनिक विद्वानों के लिए यद्यपि कृष्णमार्जित पात्रों की तकनीक रहस्यमयी बनी हुई है तथापि एक संभावना इन पात्रों के निर्माण में यह भी व्यक्त की जी सकती है कि अत्यधिक काली एवं चमकदार पालिश तैयार किये जाने में तरल सीसे को भी उपयोग में लाया जाता रहा होगा तथा उसे पात्र में चढ़ाकर कृष्णमार्जित बनाया जाता रहा होगा । सोनपुर से कृष्णमार्जित संस्कृति के परवर्ती चरण से कांस्यपात्र के टुकड़े प्राप्त हुए हैं जिनके रसायनिक परीक्षण से 87.98% ताम्र के अतिरिक्त 1.88% रांगा एवं 6.98% सीसे का मिश्रण आंका गया है ।[2]

पालि ग्रन्थों के परवर्ती चरण से सीसा धातु से निर्मित वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं । यद्यपि अपदान पालि से 'सीसकारा'[3] एक स्वंतत्र व्यवसायिक श्रेणी के रूप में उल्लिखित है जो संभवतः सीसामय मुद्राराशि (जातकअट्ठकथा में (काले कार्षापणों का वर्णन प्राप्त होता है)[4] आदि को तैयार करे रहे होंगे । अथवा काली चमकदार सीसायुक्त पालिश को घरेलू वस्तुओं (पात्रआदि) के अलंकरण के रूप में तैयार करने का काम करते रहे होंगे । परवर्ती चरण से सीसे के स्वतंत्र रूप से वस्तु निर्माण के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं इसका कारण संभवतः सीसा धातु को ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं के निर्माण में मिश्रधातु के रूप में बहुलता से उपयोग में लाया जाना रहा होगा ।

---

1. चुल्लवग्ग, पृ. 225.
2. दि गैंगेज़ सिविलाइजेशन, पृ. 195-196-197; तालिका नं. – 2, पृ. 168; रासायनिक परीक्षण-रसायन विभाग, पटना वि. विद्यालय, इंडियन आर्कियोलाजिकल रिव्यू, 1976-77, पृ. 89, 1963-64, पृ. 8, 1965-66, पृ. 11, 1971-72,पृ. 5, 1977-78, पृ. 18. विस्तृत तालिका के लिये प्रा. भा. में भौ. प्र. एवं सा. संर., पृ. 244 देखें.
3. 'मालाकारा सुवण्णकारा सज्झुकारा सीसकारा, तिपुकारा लोहकारा वद्धकारा अयोकारा मणिकारा'– मिलिन्दपन्ह, पृ. 234.
4. कुणालजातकअट्ठकथा के अनुसार कोलिय एवं कपिलवस्तु गणराज्य में काले कार्षापणों का उल्लेख क्रय-विक्रय हेतु किया जाता था । जातक अट्ठकथा, सं. 536, हि . अनु., भाग-६, पृ. 501.

सीसा धातु की प्राप्ति के सम्भावित प्राकृतिक स्रोत :

सुवर्ण, रजत एवं ताम्र की भांति पालि निकायों से पर्वतीय प्रदेश के आसपास सीसा धातु की विद्यमानता पर प्रकाश पड़ता है । इस संबंध में जातक पालि से प्राप्त संदर्भ के अनुसार अनेक खनिज सम्पदाओं से युक्त पर्वतीय प्रदेश में इस काली धातु का भी उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'अंजन. . मनोसिला हरिताल हिंगुलक हेमरजत कनकानेक धातु
सत्त विनद्धा पटिमण्डितप्पदेसे ।'[1]

कुणाल जातक में आए उपरोक्त संदर्भ में हिमालय पर्वत की शृंखलाओं को इन खनिज सम्पदाओं से युक्त कहा गया है ।[2] बाद के संस्कृत ग्रन्थ में काली अथवा नागवर्ण की धातु को सीसा धातु कहा गया है ।[3] अंजन से तात्पर्य भी सभवतः काली धातु अथवा सीसा से रहा होगा । अर्थशास्त्र के अनुसार जो भूमि भाग कौवे के समान काला, कबूतर तथा गोरोचन की आकृति वाला, सफेद रेखाओं से युक्त एवं दुर्गन्धपूर्ण हो, वहां सीसे की खान समझनी चाहिए ।[4] पालि ग्रन्थों में श्रावस्ती के वणिक दल को वाराणसी के निकट बहुत सी धातुओं के क्रम में सीसे को खुदाई के माध्यम से प्राप्त किये जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है ।[5] प्राचीन काल में उत्तर प्रदेश के पर्वतीय भागों अर्थात् टिहरी गढ़वाल एवं अल्मोड़ा जिले में सीसा प्राप्ति के प्रमाण मिले हैं ।[6]

प्राचीन बृहत्तर भारतवर्ष में विहित आधुनिक नेपाल के मध्य तटवर्ती भाग से प्रभूत मात्रा में सीसा धातु को प्राप्त किये जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं ।[7]

सीसा धातु-कर्म :

इसके अन्तर्गत पालि ग्रन्थों से सीसे की शोधन प्रक्रिया एवं मिश्रित सुवर्ण तैयार किये जाने में सीसे को उपयोग में लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं ।

शोधन प्रक्रिया :

"अंगुत्तर निकाय" के "उपोसथ सुत्त" से मैले सीसे को शोधित करने की प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

---

1. जातक, सं. 337, पृ. 120.
2. वही.
3. प्राचीन भारत में रसायन का वि., पृ. 561.
4. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 168.
5. जातक, सं. 256, पृ. 68.
6. डा. धर्मेन्द्र कुमार : खनिज जगत, पृ. 155-56.
7. शर्मा, सी. के., जियोलाजी आव नेपाल, पृ. 75.

"कम्मं च पटिच्च, मत्तिकं च पटिच्च, उदकं च पटिच्च पुरिसस्स
च तज्जं वायामं पटिच्च, सीसस्स उपक्किलि परियोदापना होति ।" अर्थात्

"तेल से, राख से (मिट्टी), बालों के गुच्छे से, एवं आदमी के प्रयत्न से मैला सीसा क्रमशः साफ होता है ।[1]

आधुनिक धातुविदों द्वारा सीसे के शोधन प्रक्रिया में "तेल-उत्लावन विधि" (आयल फ्लोटेशन मैथड) द्वारा सीसे की अशुद्धियों को दूर किये जाने की विधि ज्ञात होती है । इसमें सीसे के खनिज गैलेना के पृथक्कीकरण हेतु पानी के साथ-साथ कई बार न्यूनाधिक मात्रा में तेल का भी उपयोग किया जाता है ।[2]

सीसे का मिश्रित सुवर्ण में योगदान :

'अंगुत्तर निकाय' के 'उपक्किलेस सुत्त' से सुवर्ण के मैल के संदर्भ में सीसा धातु का उल्लेख प्राप्त होता है । अर्थात् सीसे के योग से तैयार सुवर्ण शुद्धता की कोटि में नहीं आता था । यथा–

'पञ्च जातरूपस्स उपक्किलेसा . . . ये हि अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं' अर्थात् 'जातरूप के पांच मैल हैं यथा–लौह, ताम्र, वंग, सीसा एवं चांदी ।'[3]

उपरोक्त संदर्भ में पालि निकायों के अनुसार इन पंच धातुओं से तैयार सुवर्ण न तो मृदु होता है, न कोमल, न ठोस, न प्रभास्वर एवं न ही कमाया जा सकने वाला होता है ।[4] अर्थशास्त्र में 'अप्राप्तक सुवर्ण' अर्थात् अच्छे सोने को गला कर पृथक् कर लेने के बाद उसके शेष बचे हुए पीला एवं सफेदी लिये हुए अंश में सीसा आदि धातु का एक चौथाई भाग मिला कर शुद्ध सुवर्ण प्राप्त किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । कौटिल्य ने सीसे के पत्रों को सोने के पत्रों से जोड़कर (लाख आदि से) सुवर्ण अपहरण की विधि का उल्लेख किया है । इसे 'गाढ़ पेटक' कहते हैं ।[5]

इस प्रकार पालि ग्रन्थों में यद्यपि सीसा धातु से संबंधित मात्र एकाध उदाहरण ही प्राप्त होता है किन्तु इन संदर्भ विशेषों के आधार पर सीसा धातु को बहुमूल्यता की श्रेणी में ही रखा गया है । अत्यन्त सीमित सीसे का स्वतंत्र उपयोग न होने का प्रमुख कारण इस धातु का अत्यन्त मृदु होना रहा होगा । इसका उपयोग ताम्र, कांस्य इत्यादि से वस्तु निर्माण में आवश्यक तत्व के रूप में मिश्रित किया जाता रहा होगा

---

1. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2, पृ. 191, हि. अनु., पृ. 215.
2. डॉ. नरसिंहम शाह; रसायन दर्शन, पृ. 61, अनुवादक-श्री श्याम संन्यासी, सरदार पटेल यूनिवर्सिटी.
3. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2,पृ. 286, हि. अनु., पृ. 250.
4. वही, हि. अनु., पृ. 250.
5. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 175.

तथा पात्र आदि को चमकदार बनाने के लिए इसका उपयोग पालिश आदि के रूप में भी किया जाता रहा होगा ।

त्रपु धातु

त्रपु अथवा बंग धातु का उपयोग भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही ज्ञात होता है । तृतीय सहस्राब्दी ई.पू. के मिश्र धातु कांसे के उत्पादन के रूप में त्रपु धातु का प्रमुख रूप से उपयोग किया जाता था । यद्यपि साहित्यिक संदर्भों में त्रपु धातु से निर्मित वस्तुओं के प्रथम सहस्राब्दी ई. पू. के काल में स्वतंत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों में इस धातु का उपयोग स्वतंत्र वस्तु निर्माण के रूप में ज्ञात नहीं होता है । त्रपु धातु को रांगा धातु के नाम से जाना जाता है । ताम्र वस्तुओं को कठोरता प्रदान करने के लिए उसमें त्रपु धातु को मिलाया जाता था ।[1]

बौद्ध पालि ग्रन्थों से भी त्रपु धातु के एकाध उदाहरण प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों में त्रपु धातु के लिए 'तिपु' शब्द व्यवहृत हुआ है । सीमित विवरणों के अन्तर्गत रांगेमयी पात्र एवं चरणपादुका का उल्लेख प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त भू-खनिज तत्व के अन्तर्गत तिपु धातु एवं मिश्रित सुवर्ण को तैयार करने के लिए भी इसे उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है ।

1–तिपुमय पात्र :

'विनयपिटक' से बौद्ध भिक्षुओं के बहुमूल्य पात्रों से विरत् रहने के संदर्भ में रांगेमयी पात्र को उल्लेख प्राप्त होता है । यथा–

'न तिपुमयो पत्तो धारेतब्बो' अर्थात् 'रांगेमयी पात्र को नहीं धारण करना चाहिए ।'[2]

विनयपिटक में पात्र प्रकारों के संदर्भ में पत्त शब्द उल्लिखित हुआ है[3] जिसका तात्पर्य भोजनादि ग्रहण करने वाले पाति प्रकार के पात्र से ज्ञात होता है ।

2–तिपुमय पादुका :

बौद्ध भिक्षुओं के बहुमूल्य धातु से बने चरणपादुकाओं से विरत् रहने के संदर्भ में रांगेमयी चरणपादुका का उल्लेख प्राप्त होता है यथा–

'न तिपुमया पादुका धारेतब्बा' अर्थात् 'तिपुमय पादुका को नहीं धारण करना चाहिए ।'[4]

---

1. विस्तृत अध्ययन के लिए कांस्यधातु संबंधी विवरणों को देखिये ।
2. चुल्लवग्ग, पृ. 225, हि. अनु., 441.
3. चुल्लवग्ग, हि. अनु., पृ. 370.
4. महावग्ग, पृ. 209-10.

उपरोक्त तिपुमयी वस्तुओं में धातु का उपयोग संभवतः तार, मनके अथवा श्वेत चमकदार रांगे के वर्ण की परत को चढ़ाकर एवं उससे अलंकृत करके बनाया जाता रहा होगा ।

पालि ग्रन्थों के परवर्ती चरण से रांगेमयी वस्तुओं के उल्लेख प्राप्त नहीं होते यद्यपि एक विकसित व्यवसायिक श्रेणी के रूप में त्रपुकार का अस्तित्व ज्ञात होता है जो संभवतः रांगे के तार अथवा मनके इत्यादि से वस्तु को अलंकृत करने का काम करते थे ।

त्रपु धातु की प्राप्ति के संभावित प्राकृतिक स्रोत :

पालि ग्रन्थों से यद्यपि किसी स्पष्ट भूभाग का उल्लेख त्रपु धातु को प्राप्त किये जाने के संदर्भ में ज्ञात नहीं होता है तथापि भू-खनिज तत्वों में से एक त्रपु धातु भी था इसमें कोई संदेह नहीं । विभंग पालि में इस बात के उल्लेख मिलते हैं । यथा–

'अयोलोहं तिपु सीसं सज्झं रजतं जातरूपं ... भूमि पाषाण पव्बतो ।'[1]

'जरूदपान जातक' से श्रावस्ती के वणिक दल को वाराणसी के समीप बहुत सी धातुओं को जलाशय को खनते समय प्राप्त किये जाने के संदर्भ में भी त्रपु धातु का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] अर्थशास्त्र के अनुसार जो भूमि-भाग ऊसर जमीन की भांति कुछ सफेदी लिये हुए हो अथवा पके हुए ढेले के रंग का हो वहाँ त्रपु की खान समझना चाहिए ।[3] आधुनिक काल में छोटा नागपुर से त्रपु धातु को प्राप्त किये जाने के साक्ष्य मिलते हैं । यहाँ से प्राचीन काल में भी रांगा धातु को प्राप्त किया जाता था ।[4]

त्रपु धातु–कर्म :

पालि ग्रन्थों से त्रपु धातुकर्म के अन्तर्गत एकमात्र उल्लेख मिश्रित सुवर्ण को तैयार किये जाने के लिए रांगे को मिश्रण स्वरूप उपयोग में लाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । प्राप्त संदर्भ में रागे को सुवर्णका मैल कहा गया है ।
यथा –

'ये हि पञ्चेहि उपक्किलेसेहि ... अयोलोहं तिपुसीसं सज्झुं ।' अर्थात्,
'जातरूप के पांच मैल हैं, लौहा, तांबा, रांगा, सीसा एवं रजत ।' ।[5]

---

1. विभंग, अभिधम्म पिटक, पृ. 120.
2. जातक, संख्या 256, पृ. 68.
3. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधिकरण, पृ. 168.
4. मेटल एण्ड मेटलर्जी, पृ. 70.
5. अंगुत्तर निकाय, खंड-2, पृ. 286;.

अर्थशास्त्र में 'लोहाध्यक्ष द्वारा तांबा, सीसा, त्रपु, इस्पात पीतल, कांसे इत्यादि धातुओं को अपनी देखरेख में उससे सामग्री निर्माण करने का उल्लेख प्राप्त होता है ।[1]

इस प्रकार पालि ग्रन्थों से त्रपु धातु के अत्यन्त सीमित उल्लेख प्राप्त होते हैं किन्तु इससे बौद्धकालीन भारत में त्रपु धातु के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है । त्रपु धातु का सीमित उल्लेख संभवतः उसका मिश्रधातु कांस्य आदि के उत्पादन के रूप में किये जाने के कारण ज्ञात होता है । यद्यपि परवर्ती चरण से 'त्रपुकार' एक स्वतंत्र व्यवसायिक श्रेणी के रूप में ज्ञात होता है किन्तु इनका रांगेमयी वस्तुओं के निर्माण में किस प्रकार योगदान था ? यह स्पष्ट नहीं हो पाया है । तथापि 'तिपुकार'[2] के अस्तित्व से (रांगेमयी वस्तुओं के निर्माणकर्ता) यह कहा जा सकता है कि संभवतः स्वतंत्र रूप से रागेमयी वस्तु का किसी न किसी रूप में निर्माण अवश्य किया जाता रहा होगा ।

सीसामयी-रांगामयी वस्तुएं

वस्तुएं	प्रथम काल	द्वितीय काल
(क) सीसेमयी एवं रांगेमयी पात्र :		
(1) पाती	1	–
(ख) सीसेमयी एवं रागेमयी चरणपादुका :	1	–

प्रसंगवशात् एकाध उदाहरण के रूप में प्राप्त उपरोक्त धातुओं का वस्तु निर्माण में उपयोग संभवतः द्रव्य के रूप में किया जाता रहा होगा ।

यशद (जस्ता) धातु

अत्यधिक श्वेत, चमकदार वर्ण की यशद धातु का उपयोग भारतवर्ष में अतिप्राचिन काल से किया जाता रहा है । प्रकृतिमें इस धातु की उपस्थिति प्रायः सीसे के साहचर्य में प्राप्त की जाती है । मूल रूप में यशद धातु का उपयोग मिश्र

---

1. अर्थशास्त्र, द्वितीय अधि., पृ. 170.
2. 'कम्मारा सोण्णकारा च, तिपु लोहकारा तथा' : अपदान पालि, भाग–1, पृ. 398.

धातु (पीतल) के उत्पादन, धातुमय वस्तुओं (रजत एवं ताम्र) के निर्माण में किया जाता है । प्राचीनतम साहित्यिक साक्ष्यों में इस धातु के लिए कोई स्पष्ट शब्द ज्ञात नहीं होता है । बौद्ध पालि ग्रन्थों से भी इस प्रकार की कठिनाई का आभास होता है तथापि पालि ग्रन्थों से कुछेक ऐसे संदर्भ भी प्राप्त होते हैं जिनके विश्लेषण से यशद अथवा जस्ता धातु की विद्यमानता पर प्रकाश पड़ता है ।

पालि ग्रन्थों में प्रायः भू-खनिज तत्वों के संदर्भ में बहुत सी धातुओं का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार के उल्लेख में क्रमशः 'सज्झं' एवं 'रजतं' शब्द प्राप्त होते हैं । सज्झं को रजत धातु माना गया है किन्तु जहां पर एक ही संदर्भ में इन दोनों धातुओं का उल्लेख हुआ है वहां सज्झं से तात्पर्य संभवतः रजत की भांति श्वेत, चमकदार, जस्ता धातु से ज्ञात होता है । यथा–

'अयो लोहं तिपु सीसं सज्झं रजतं जातरूपं ।'[1] अर्थात्

'लौह, ताम्र, रांगा, सीसा, जस्ता, चांदी एवं सोना ।'

उपरोक्त संदर्भ में सज्झं शब्द रजत से भिन्न धातु के अर्थ में ज्ञात होता है । इसके अतिरिक्त पालि निकाय से मिश्रित सुवर्ण को तैयार किये जाने के लिए भी उपरोक्त क्रम में धातुओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं किंतु यहां सज्झुं के पश्चात् रजत शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है यथा–

'अयोलोहं तिपु सीसं सज्झं' अर्थात्
'लोह, ताम्र, रांगा, जस्ता, सीसा एवं रजत ।'

अनुवादक कौसल्यायन जी ने धातुओं के क्रम में सज्झं को रजत के अर्थ में प्रयुक्त किया है । किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त ग्रन्थ विभंगपालि में सज्झं के बाद रजत शब्द व्यवहृत हुआ है तथा 'सज्झं' को जस्ते के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । इस प्रकार यदि उपरोक्त संदर्भ में उल्लिखित 'सज्झं' शब्द को जस्ते के अर्थ में गृहीत किया जाय तो मिश्रित सुवर्ण तैयार करने में जस्ते को भी उपयोग में लाए जाने की तकनीकी पर प्रकाश पड़ता है । भारतवर्ष में यशद अथवा जस्ते का प्रयोग विश्व की अन्य सभ्यताओं की अपेक्षा सबसे पहले हुआ था । राजस्थान की प्रसिद्ध जवार खानों के निकट बड़ी मात्रा में तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई. पू. से ही जस्ते के प्रयोग के साक्ष्य प्राप्त होते हैं । इस धातु को चांदी में भी मिश्रित करने के लिए उपयोग में लाया जाता था ।[2]बौद्ध पालि ग्रन्थों में यद्यपि इसके स्पष्ट रूप से उल्लेख का अभाव

1. अंगुत्तरनिकाय, खंड-2, पृ. 286; हि. अन., पृ. 250.
2. प्राचीन भारत में रसायन का विः पृ. 743.

है तथापि तकालीन समाज में धातुकार इस धातु से अपरिचित रहे होंगे ऐसा नहीं माना जा सकता ।

वृत्त (पीतल) धातु

पुरातात्विक साक्ष्यों से लगभग प्रथम शताब्दी ई. पू. में पीतल धातु की प्राचीनता ज्ञात होती है । ब्राह्मण साहित्य में इसे 'वृत्त' धातु कहा गया है । इस धातु का उत्पादन मूल रूप से ताम्र में 15% तक जस्ते का मिश्रण करके किया जाता है । लगभग द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई. पू. के पालि ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्नपालि से प्रसंगवशात पीतल धातु का उल्लेख प्राप्त होता है । मिलिन्दप्रश्न के अनुसार शाकल नगरी के भौतिक विकास में अनिवार्य कारकों में पीतल कर्म करने वाले धातुकर्मी भी गृहीत थे । यद्यपि इस संबंध में अत्यन्त सीमित अथवा मात्र एकाध उदाहरण ही प्राप्त होते हैं जो सन्दर्भों के अभाव के कारण हुआ होगा किन्तु इस उल्लेख से प्रथम शताब्दी ई. पू. तक एक नवीन मिश्र धातु का उत्पादन भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में किया जा रहा था, इस पर प्रकाश पड़ता है ।

मिलिन्दप्रश्न से शाकल नगरी की समृद्धि के वर्णन में विभिन्न व्यवसायिक श्रेणियों के क्रम में पीतल कर्म करने वाले 'वट्टकार' के अस्तित्व पर प्रकाश पड़ता है । यथा –

> 'मालाकारा सुवण्णकारा सज्झुकारा सीसकारा तिपुकारा लोहकारा वट्टकारा अयोकारा मणिकारा रमणीयत नगरं पस्सिस्वा अनुमाने ।'[1]

पुरातात्विक उत्खनन में भारत के उ. प. प्रान्त गांधार से लगभग 20 किमी. दूर रावलपिंडी के पास मणिक्याला बौद्ध स्तूप की खुदाई से पीतल के पात्र प्राप्त हुए हैं जिसकी तिथि प्रथम शताब्दी ई. के लगभग ज्ञात होती है ।[2]

धातु-विषयक विवरणों का एक विश्लेषण

पालि ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न धातुमयी वस्तुओं की सामाजिक उपादेयता एवं उनमें क्रमशः परिवर्द्धन के तुलनात्मक विवेचन से ज्ञात होता है कि उपयोग एवं परिमाण की दृष्टि से सर्वाधिक विवरण सुवर्ण धातु के प्राप्त होते हैं । यद्यपि सुवर्णमयी वस्तुओं की सर्वाधिक विवरणों के पीछे ग्रन्थों की मूल विषयवस्तु उत्तरदायी ज्ञात होती है । क्योंकि प्रायः विशिष्ट व्यक्तियों के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं धनाढ्य वर्ग के ऐश्वर्य को अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करने के परिणामस्वरूप

---

1. मिलिन्दप्रश्नपालि, पृ. 234.
2. प्राचीन भारत में रसायन का वि; पृ. 783.

संगणनात्मक दृष्टि से इनके विवरण अधिक प्राप्त होते हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि धनाढ्य वर्ग के वैभव को प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न प्रकार की स्वर्णमय वस्तुओं को उपयोग में लाया जाता रहा है । प्रायः सभी प्रकार की वस्तुएं चाहे अलंकरण की वस्तुएं हों, मुद्राराशि को सहस्रों की संख्या में इच्छानुसार प्रयुक्त किये जाने से सम्बन्धित प्रसंग हों, घरेलू उपकरण हों अथवा स्वर्णमय द्रव्यों से अलंकृत राजकीय व्यक्तिगत वाहन हों, सभी में उनके वैभव को प्रदर्शित करने के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वर्णित किया हुआ प्रतीत होता है । अतः परिमाण एवं नवीन प्रकारों में अभिवृद्धि की दृष्टि से सर्वाधिक विवरण स्वर्णमय वस्तुओं के प्राप्त होने पर भी तत्कालीन समाज के आर्थिक सामाजिक विकास में विशेष महत्वपूर्ण योगदान दिखलाई नहीं पड़ता है । इसके विपरीत उपयोगिता की दृष्टि से लौह, ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं का तत्कालीन समाज के विशाल जनसमूह का नेतृत्व करने वाली सामान्य वर्ग एवं विशेष स्थान रखने वाली बौद्ध श्रवण वर्ग पर (लौह वस्तुएं) इनका व्यापक प्रभाव एवं प्रचलन दिखलाई पड़ता है । ये वस्तुएं तत्कालीन समाज के भौतिक विकास में अनिवार्य रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए प्रतीत होते हैं ।

सुवर्ण धातु के साथ-साथ रजतमयी वस्तुओं का उपयोग भी उच्च वर्ग में दिखलाई पड़ता है किन्तु कुछेक वस्तुएं विशेषकर रजत की मुद्राएं संभवतः तत्कालीन समाज की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त किये जाने के कारण महत्वपूर्ण थीं । इनमें कहापण, अर्द्ध-कहापण एवं पाद जैसी संभवतः रजत-ताम्र के मिश्रण से निर्मित मुद्राएं क्रय-विक्रय अथवा व्यापार-वाणिज्य में सामान्य रूप से प्रचलित थीं । प्रारम्भिक काल में जहाँ कहापणों को रजत की मुद्रा के अन्तर्गत उल्लिखित किया गया है, परवर्ती काल में इसके रजत से भिन्न अन्य प्रकार की मुद्राराशि के रूप में वर्णन मिलता है । मिलिन्दप्रश्नपालि में कहापण को रजत से भिन्न मुद्रा कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में सामान्य रूप से आर्थिक लेन-देन में प्रचलित होने के कारण ताम्र आदि धातुओं में भी इनका निर्माण किया जाने लगा था । शुद्ध रजत की निर्मित मुद्रा 'रूपिय' ज्ञात होती है । जिनका उपयोग स्वर्णनिष्क की भांति धनाढ्य वर्ग तक ही सीमित ज्ञात होता है किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त सन्दर्भों से स्पष्ट होता है सुवर्ण-हिरण्य, रूपिय मुद्रा की अपेक्षा अधिक मूल्यवान थी । इसी प्रकार जहाँ सुवर्ण धातु धनाढ्य वर्ग के ऐश्वर्य को प्रदर्शित करने के लिए प्रायः इनसे संबंधित प्रत्येक वस्तुओं के सन्दर्भ में प्रयुक्त की जाती हुई दिखलाई पड़ती है वहीं रजत का व्यवहार स्थापत्य आदि तथा बौद्ध श्रमणों के भिक्षा आदि में बहुमूल्य वस्तुओं के संचयन से विरत रहने के सन्दर्भ में प्राप्त होता है । इससे प्रतीत होता है कि रजत धातु सुवर्ण की अपेक्षा संभवतः कम मूल्य वाली रही होगी ।

पालि ग्रन्थों में ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं को भी बहुमूल्य कहा गया है । प्रायः बौद्ध भिक्षुओं को इस धातु से निर्मित वस्तुओं के उपयोग से विरत रहने का निर्देश दिया गया है किन्तु सामान्य वर्ग में कांस्यमयी वस्तुओं को उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये वस्तुएं बहुमूल्य तो रही होंगी परन्तु सुवर्ण एवं रजत की भांति नहीं थीं अपितु बहुमूल्यता के क्रम में उनके बाद की स्थिति ज्ञात होती है । इस कारण से संभवतः सामान्य वर्ग की आर्थिक स्थिति के अन्तर्गत इनको क्रय करना तथा उपयोग में लाया जाना असंभव नहीं रहा होगा ।

सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण धातु लौह ज्ञात होती है जिसका उपयोग प्रायः सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में अनिवार्य रूप से किया जा रहा था । लौहमय वस्तुओं को एक ओर जहाँ सामान्य वर्ग के घरेलू एवं व्यवसायिक जीवन में आवश्यक रूप से उपयोग में लाया जा रहा था वहीं अस्त्र-शस्त्र, सुरक्षा-कवच इत्यादि लौह उपकरण को आन्तरिक दण्डनीति एवं सामरिक महत्व को ध्यान में रखते हुए निर्मित किये जाने पर प्रकाश पड़ता है । राजकीय महत्व के स्थापत्य आदि में लौह धातु का विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जा रहा था । कृषि के क्षेत्र में लौह उपकरणों का उपयोग निश्चित रूप से पूर्वोत्तर भारत के भागों में क्रान्तिकारी आर्थिक परिवर्तन की सूचना देते हैं ।

धातु-तकनीकी विकास संबंधी विवरणों से यद्यपि सुवर्ण तकनीकी ज्ञान के अत्यन्त विकसित अवस्था में प्रयुक्त किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं,तथापि लौह तकनीकी के अन्तर्गत शुद्ध लौह पिण्ड को तैयार करने के साथ-साथ प्रायः सभी प्रकार के लौह उपकरणों को अत्याधुनिक विकसित तकनीक द्वारा निर्मित किया जा रहा था । संभवतः लौहमय वस्तुओं की बढ़ती उपयोगिता के कारण अधिक से अधिक लौह वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा था । इस शृंखला में लौह धातुविदों द्वारा उत्कृष्ट कोटि के लौह इस्पात को तैयार करने में सिद्धहस्तता प्राप्त करने तथा उससे अत्यन्त महत्वपूर्ण सामरिक महत्व के रक्षाउपकरणों का निर्माण भी किया जाने लगा था ।

सुवर्ण एवं लौह-तकनीकी के अत्यन्त विकसित अवस्था में होने के साथ-साथ धातु-कर्म में रत अन्य व्यवसायिक श्रेणियों यथा - 'कंसेरा', 'तिपुकार', 'सीसाकार' इत्यादि के उल्लेख भी मिलते हैं जिनके द्वारा ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं के निर्माण के साथ-साथ इन धातुमय वस्तुओं पर कांस्य वर्णमयी द्रव्य को चढ़ा कर तैयार किये जाने के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं । पालि ग्रन्थों में वर्णित 'कांस्यकूट' शब्द के विश्लेषण से उपरोक्त संभावना बलवती होती दिखाई पड़ती है क्योंकि इस प्रकार की वस्तुओं को 'कांसे की ठगी कहकर' उल्लिखित किया गया है । इसी प्रकार

सीसामयी एवं रांगेमयी द्रव्य को तैयार करने के लिए भी इन धातुओं का उपयोग किया जाता था । पालि ग्रन्थों से ज्ञात सीसेमयी एवं रांगेमयी पात्र विशेष के संदर्भ में इस प्रकार की तकनीक को (अन्य प्रकार से निर्मित पात्र पर सीसामयी एवं रांगेमयी द्रव्य को चढ़ाकर) उपयोग में लाए जाने की संभावना पर प्रकाश पड़ता है । धातु-कर्म के निरन्तर विकसित हो रहे नवीन प्रक्रियाओं के क्रम में परवर्ती काल तक आते-आते ताम्र एवं जस्ते के मिश्रण से नवीन धातु पीतल के उत्पादन पर भी प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार विकसित धातु-कर्म संबंधी उल्लेखों के साथ-साथ धातुकर्म के रूप में विकसित पूरे-पूरे व्यावसायिक क्षेत्र पर भी प्रकाश पड़ता है जिन्हें 'कम्मारग्राम' एवं 'कम्मारकुल' की संज्ञा दी गयी है ।

इस प्रकार धातुविषयक विवरणों के विश्लेषण से न केवल सुवर्ण, रजत, लौह, ताम्र, कांस्य, सीसा, रांगा, जस्ता एवं पीतल इत्यादि धातुओं के विभिन्न उपयोगों एवं तकनीकी विकास पर प्रकाश पड़ता है अपितु तत्कालीन समाज का आर्थिक एवं सामाजिक जीवन भी पूर्णतः प्रभावित दिखलाई पड़ता है । जहां एक ओर सुवर्णमय वस्तुओं का उपभोग करने वाले उच्च वर्ग में ही वर्ग भेद एवं विभिन्न वर्गों के बीच प्रचलित जीवन शैली पर प्रकाश पड़ता है वहीं लौह-ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं के उपयोग एवं प्रचलन से तत्कालीन समाज में सामान्य जीवनयापन करने वाले विभिन्न वर्गों तथा उनसे जुड़े सामाजिक-आर्थिक क्रियाकलापों पर भी वृहद् रूप से प्रकाश पड़ता है । सामरिक क्षेत्र में उत्कृष्ट कोटि के लौह औजारों का उपयोग राजनैतिक शक्ति के विस्तार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हुआ प्रतीत होता है । अतः धातुओं की विभिन्न रूपों में प्रचलित उपयोगिता तथा धातु-विषयक संदर्भों को केन्द्र में रखकर अंतिम अध्याय में उपसंहार-स्वरूप तत्कालीन समाज के आर्थिक-सामाजिक स्थितियों की एक समीक्षा करते हुए शोध प्रबन्ध को नवीन रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । अन्त में शोध अध्ययन के माध्यम से धातु एवं धातु-कर्म संबंधी विवरणों के जिन प्रमुख कारकों पर प्रकाश पड़ता है उनका सारांश रूप में विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

षष्ठ अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

धातु-विषयक सन्दर्भों के विश्लेषण के अन्त में दिये गये विवरण को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत अध्याय को दो भागों में विभाजित करके अध्ययन किया गया है । सर्वप्रथम तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों में धातु के योगदान की समीक्षा की गयी है तथा अन्त में शोध अध्ययन के माध्यम से उद्‌भासित प्रमुख विवरणों को सारांश रूप प्रस्तुत में किया गया है ।

(1) सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन : धातुओं का योगदान : एक समीक्षा :

धातु-विषयक सन्दर्भों का एक नये दृष्टिकोण से विश्लेषण करके तत्कालीन समाजिक, आर्थिक जीवन को एक भिन्न आयाम में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । इसके अन्तर्गत उच्च एवं सामान्य वर्ग से संबद्ध विभिन्न वर्गों के व्यक्तिगत जीवनपद्धति तथा उनसे सम्बद्ध तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों पर प्रमुखरूप से प्रकाश डाला गया है । सामाजिक जीवन के अन्तर्गत वर्ग-विभाजन विभिन्न वर्गों के रहन-सहन, खान-पान अथवा व्यक्तिगत जीवन शैली, महिलाओं की स्थिति, अन्तर्जातीय विवाहों, सामाजिक मान्यताओं एवं शिक्षा प्रणाली पर प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है । आर्थिक स्थिति के अन्तर्गत समाज में प्रचलित मुद्रा प्रणाली , विभिन्न वर्गों से सम्बद्ध वाणिज्य-व्यवसाय, प्रमुख व्यवसायिक केन्द्रों, व्यवसायिक श्रेणियों तथा अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आयात-निर्यात की नीति पर प्रमुख रूप से प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है ।

सामाजिक स्थिति :

धातु-विषयक सन्दर्भों के अध्ययन से तत्कालीन समाज में वर्ग-विभाजन की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । मोटेतौर पर तीन वर्ग ज्ञात होते हैं । प्रथम, तत्कालीन समाज में विशिष्ट स्थान रखने वाले बौद्ध श्रमण वर्ग, द्वितीय उच्च वर्गीय धनाढ्य वर्ग, इसमें राजकार्य में प्रवृत्त क्षत्रिय वर्ग, हिन्दू धर्म के पोषक कर्मकाण्डों को संचालित करने वाले धनी ब्राह्मण गृहपति वर्ग एवं बौद्ध धर्म के कट्टर समर्थक तथा व्यापार-वाणिज्य में रत वैश्य श्रेष्ठी वर्ग व तृतीय, सामान्य जीवन व्यतीत करने वाले विभिन्न व्यवसायिक वर्ग । इनका वर्ग-विभाजन मूलतः कर्म पर आधारित था जिसमें लोहार, कांस्यकार, काष्ठकार, कृषक वर्ग, चर्मकार एवं आखेट कर्म में रत व्यवसायिक वर्ग थे ।

प्रथम वर्ग अर्थात् बौद्ध श्रमणों का तत्कालीन समाज में विशिष्ट स्थान ज्ञात होता है । लौहमय घरेलू उपकरणों के संदर्भ में आए प्रसंगों से बौद्ध श्रमणों के दैनिक क्रियाकलापों, उनकी आचार संहिताओं पर प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है । श्रमणों का दैनिक जीवन अत्यन्त सादगी पूर्ण था । ये प्रायः सामूहिक रूप से जीवन यापन करते थे तथा भिक्षादि में प्राप्त सामग्री से अपना पोषण करते थे । लौहमयी वस्तुएं उनके जीवन का अभिन्न हिस्सा थीं । विनयपिटक में लौहमयी घरेलू उपकरणों के साथ-साथ कृषि उपकरणों को भी श्रावस्ती के भिक्षुओं को अपने पास रखने के निर्देश दिये गये थे । संभवतः विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करके जीवनयापन करने वाले बौद्ध श्रमण शाक-सब्जी आदि उगाने के लिए कृषि उपकरणों को अपने पास रखते थे । बहुमूल्य वस्तुओं से इन्हें विरत रहने का निर्देश प्राप्त था । लौह शस्त्रों का उपयोग अहिंसा नीति के अन्तर्गत बौद्धश्रमण नहीं कर सकते थे । संघ के निर्देशानुसार भिक्षादि में सुवर्ण-रजत के व्यवहारकी मनाही थी किन्तु वैशाली के भिक्षुओं का एक वर्ग भिक्षा में हिरण्य स्वर्ण एवं रजतको प्राप्त करते थे । इससे ज्ञात होता है कि इन बौद्ध श्रमणों का समाज में विशिष्ट स्थान था जिससे भिक्षादि दैनिक कर्म में बहुमूल्य सुवर्ण-रजत धातु को प्राप्त करने की क्षमता रखते थे । धनाढ्य वर्ग के व्यक्ति के बौद्ध संघ में प्रवेश करने अथवा प्रवज्या ग्रहण करने के लिए अपने समस्त हिरण्य-सुवर्ण का परित्याग करना होता था किन्तु परवर्ती काल में इनके रहन-सहन पर ऐश्वर्य का प्रभाव बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है । 'अपदान पालि' में अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिसमें बौद्ध श्रावकों के दैनिक जीवन में बहुमूल्य सुवर्ण-रजत मय वस्तुओं का स्वच्छन्दता पूर्वक उपयोग किया जा रहा था । श्रावक वर्ग बौद्ध पूजा के निमित्त स्वर्णमय स्तूप, चैत्य आदि का निर्माण करवाते थे । इन्हीं कर्मों के विपाक स्वरूप बहुमूल्य धातुमय वस्तुओं का सुख उन्हें प्राप्त था । अतः परवर्ती चरण में बौद्ध धर्म के लोक धर्म के रूप में विकसित होने, धर्म पर ऐश्वर्य के बढ़ते प्रभाव के साथ-साथ बौद्ध श्रावकों के जीवन शैली में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखलाई पड़ता है ।

दूसरा वर्ग धनाढ्य क्षत्रिय नरेशों, ब्राह्मण गृहपतियों एवं श्रेष्ठियों का था । यद्यपि इनके दैनिक जीवन में भौतिक संसाधनों की कोई कमी नहीं थी तथापि उनके रहन-सहन का अपना अलग ढंग ज्ञात होता है ।

धनाढ्य क्षत्रिय वर्ग में तत्कालीन नरेशों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जो राजकार्य में प्रवृत्त होने के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन में समस्त सुख-ऐश्वर्य का भरपूर उपयोग करते थे । इन राजाओं का पद वंशानुगत था तथा युवराज के राज्याभिषेक के अवसर पर पवित्र सामाजिक विधानों को अमल में लाया जाता था । 'दीघनिकाय' से

प्राप्त एक सन्दर्भ के अनुसार कुशीनारा नरेश के राज्याभिषेक के अवसर पर हिरण्य-कलश में गंगा नदी के पवित्र जल को भर कर मंत्रोच्चार के बीच में युवराज पर दाहिने हाथ से जल को छिड़का गया था। धातु विषयक सन्दर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सुवर्ण-रजत मय वस्तुओं का सर्वाधिक उपभोग इसी वर्ग द्वारा किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐश्वर्य की पराकाष्ठा को व्यक्त करने के लिए अतिशयोक्ति पूर्ण ढंग से इनके व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध सभी वस्तुओं को सुवर्णमय-रजतमय कहा गया है। इनमें सुवर्ण-रजतमय घरेलू उपकरणों यथा - पात्र, आसन, अंलकरण की वस्तुएं, वेशभूषा, सुवर्ण चित्रों से अलंकृत राजकीय वाहन तथा वैभव के प्रतीक स्वरूप सुवर्ण चूर्ण, सुवर्णमय द्रव्य से अलंकृत भूमि, सोपान, इष्टका आदि से निर्मित राजभवन एवं पुष्करिणी इत्यादि सभी कुछ विद्यमान था। इन राज्यों में कुशीनारा, मगध तथा परवर्ती काल में काशी, चम्पा एवं कोरव्य आदि राज्यों एवं नरेशों के सन्दर्भ उल्लेखनीय हैं। सुख-ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले तथा राजघराने से सम्बद्ध इन राजाओं द्वारा आतिथ्य सत्कार किये जाने की अपनी परम्परा थी। प्रायः स्वर्णाभूषणों से सजी-धजी परिचारिकाएं विशिष्ट व्यक्तियों के आगमन पर हाथों में स्वर्ण थाल में विविध व्यञ्जनों, दूध एवं सुरा आदि को लेकर उनका मनोरंजन एवं स्वागत करती थीं। नागराज्यों (चम्पा, कौरव्य एवं महिंसक राष्ट्र) में यह परम्परा अपनी चरम सीमा पर दिखलाई पड़ती है। काशी के राजघराने में अन्य राज्यों की अपेक्षा विलासिता की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक दिखलाई पड़ती है जबकि यहां के वाणिज्य व्यवसाय की उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गयी है। विलासिता पूर्ण जीवन से परे तत्कालीन नरेशों द्वारा बौद्ध सभागारों को बनवाने तथा दान-दक्षिणा में भी प्रवृत्त होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

उच्च धनाढ्य वर्ग में दूसरा प्रकार तत्कालीन समाज में हिन्दू कर्मकाण्डों के आधार पर जीवन यापन करने वाले महाशाल ब्राह्मण गृहपतियों का ज्ञात होता है। उनके पास हिरण्य-सुवर्ण आदि धन सम्पदा की कोई कमी नहीं थी। प्रायः निकायों में ब्राह्मण गृहपतियों को महाभोगवान तथा ऐश्वर्यशाली कहा गया है। हिन्दू कर्मकाण्डों यथा यज्ञ, धर्म आदि के निमित्त दान-दक्षिणा में प्रवृत्त होने के कारण बौद्ध समर्थकों की दृष्टि में निन्दा के पात्र थे। 'अंगुत्तरनिकाय' से प्राप्त एक सन्दर्भ में श्रावस्ती के प्रसिद्ध धनी ब्राह्मण गृहपति द्वारा पूर्णिमा के दिन महादान के अवसर पर रजत पात्रों में अपार सुवर्ण धनराशि भरकर तथा स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत हस्ति को दान में दिये जाने का आलोचना पूर्ण ढंग से वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार मगध के कूटदन्त नामक महाशाल ब्राह्मण गृहपति द्वारा यज्ञादि में धनराशि

को व्यय करने एवं भूरिदत्त जातक में यज्ञादि के माध्यम से धन-धान्य की प्राप्ति की निन्दा की गयी है । इस प्रकार हिन्दू कर्मकाण्डों में प्रवृत्त होने के कारण भले ही ब्राह्मण गृहपति वर्ग आलोचना के पात्र कहे गये हैं किन्तु धन-धान्य से परिपूर्ण उनके उच्चस्तरीय सामाजिक जीवन में कोई कमी ज्ञात नहीं होती है । धातु विषयक विवरणों में प्रसंगवशात् प्राप्त इन सन्दर्भों की विवेचना से तत्कालीन समाज में ब्राह्मण गृहपतियों एवं बौद्ध धर्मावलम्बियों के मध्य वर्ग-वैमनस्य की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है ।

धनाढ्य वर्ग में ही सर्वाधिक प्रभावशाली लोग व्यापार वाणिज्य में रत अथवा तत्कालीन समाज के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले वैश्य अथवा श्रेष्ठि वर्ग का ज्ञात होता है । बौद्ध धर्म को पूर्ण समर्थन इसी वर्ग से प्राप्त था । सम्भवतः इसी कारण से बौद्ध श्रमणों के लिए भिक्षा आदि में स्वर्ण-रजत जैसी बहुमूल्य वस्तु को प्राप्त करना सम्भव रहा होगा । इनका विशेष प्रभाव तत्कालीन नरेशों पर भी था । अपार हिरण्य सुवर्ण धनराशि वाले श्रेष्ठि वर्ग विशेष परिस्थितियों में तत्कालीन नरेश को सुवर्ण आदि धनराशि भी प्रदान करते थे । 'दीघनिकाय' में कुशीनारा नरेश द्वारा अपने राज्याभिषेक के अवसर पर नगर श्रेष्ठी से हिरण्य से परिपूर्ण कलश को प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है । 'विनय पिटक' में श्रावस्ती के धनाढ्य श्रेष्ठी अनाथपिण्डक जेतवन क्रय करने हेतु राजकुमार जेत की सहस्रों कोटि के हिरण्य को दिये जाने की चुनौती को सरलता से स्वीकार कर लेते हैं । परवर्ती काल में श्रेष्ठि वर्ग का प्रभाव समाज में बढ़ता हुआ दिखलायी पड़ता है । जातकों में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिसमें निर्वासित नरेश वणिक दल के नेतृत्व में पूर्वी देशों की यात्रा पर धन कमाने की इच्छा से जाते हैं । 'शूरपारक जातक' में आए एक संदर्भ में भृगुकच्छ का वणिक दल सुवर्ण आदि को पश्चिमी देशों से सामुद्रिक व्यापार के द्वारा आयात करते थे । इस प्रकार श्रेष्ठी वर्ग आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार-व्यवसाय में प्रवृत्त रहते थे । धनी श्रेष्ठी वर्ग में स्वर्णकार भी होते थे जो अन्य धातुकारों की अपेक्षा तत्कालीन समाज में सुवर्ण धातु के अनुरूप ही सम्मानित स्थिति में थे । 'थेरीगाथा' से प्राप्त एक संदर्भ में किसी भिक्षुणी के मुख से यह कहते हुए उल्लिखित है कि मैं पूर्व जन्म में महाभोगवान ऐश्वर्यशाली धनसम्पदा से युक्त स्वर्णकारा थी । श्रेष्ठी वर्ग द्वारा संघ के लिए सभागार, बिहार, स्वर्णमय स्तूप, चैत्य एवं प्रदक्षिणा पथ आदि को बनवा कर दान में देने का भी उल्लेख प्राप्त होता है । पालि ग्रन्थों में उनके वाणिज्य-व्यवसाय को प्रशंसापूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया गया है । संभवतः बौद्ध धर्म के कट्टर समर्थक होने के कारण ऐसा वर्णित किया गया है । इस प्रकार उपरोक्त विवरण से

उच्च वर्ग के विभिन्न प्रकारों पर प्रकाश पड़ता है तथापि मोटे तौर पर अध्ययन-अध्यापन में रत तथा हिन्दू कर्मकाण्डों में प्रवृत्त वर्ग ब्राह्मणों का राज्यकार्य में प्रवृत्त क्षत्रिय वर्ग तथा व्यापार-वाणिज्य में प्रवृत्त वैश्यवर्ग के रूप में मूलतः विभाजन दिखलायी पड़ता है ।

तीसरा वर्ग सामान्य जीवन यापन करने वाले विभिन्न व्यवसायिक श्रेणियों के ज्ञात होते हैं । इसके अन्तर्गत धातुकारों यथा-लोहार, कांस्यकार, रथकार व अन्य में काष्ठकार, चर्मकार एवं कृषक वर्ग के उल्लेख मिलते हैं । इन समुदायों पर बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव था । अपने व्यवसाय के माध्यम से जीविकोपार्जन करने वाले इन वर्गों के अपने अलग-अलग व्यवसायिक कार्यक्षेत्र होते थे जो तत्कालीन समाज में प्रसिद्ध व्यवसायिक केन्द्र के रूप में भी जाना जाता था । धातुकर्म के रूप में प्रसिद्ध व्यवसायिक केन्द्रों को 'कम्मारग्राम' एवं 'कम्मारकुल' की संज्ञा दी गयी थी । सूचि-जातक में ऐसे ही मगध के दक्षिणागिरि के आसपास स्थित ग्राम में प्रसिद्ध लौह धातु कर्म केन्द्र अथवा लोहार ग्राम, सुत्तनिपात में मगध के ग्राम में ब्राह्मणों के वर्ग द्वारा कृषि कर्म में रत पूरे ग्राम को कृषक ब्राह्मण ग्राम (एकनाला ब्राह्मण ग्राम) के उल्लेख महत्वपूर्ण रूप से ज्ञात होते हैं । इसी प्रकार महावग्ग से भद्दियानगर के चर्मकारों पर प्रकाश पड़ता है जो तरह-तरह के धातुमय चरणपादुकाओं का निर्माण करके अपना जीवन यापन करते थे । इसी प्रकार अन्य सामान्य वर्ग में आखेट कर्मी - बहेलिया, मूर्तिकार एवं चित्रकारों का वर्ग भी ज्ञात होता है ।

स्त्रियों की दशा :

विभिन्न वर्गों के अस्तित्व के अतिरिक्त धातुविषयक विवरणों की विवेचना करने पर तत्कालीन समाज में आर्थिक रूप से सम्पन्न महिलाओं की स्थिति पर भी प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है । इन महिलाओं के मुख्यतः पांच वर्ग ज्ञात होते हैं । प्रथम, राजघराने की सदस्या राजमहिषी, राजकन्या । द्वितीय धनी श्रेष्ठी एवं ब्राह्मण गृहपति की भार्या, तृतीय, उपरोक्त दोनों वर्गों की महिलाओं के सेवा कर्म में नियुक्त दासियों एवं आतिथ्यसत्कार में नियुक्त राजकीय परिचारिकाएं, चतुर्थ, प्रसिद्ध गणिका वर्ग एवं पंचम, युवराजों के विलासपूर्ण कार्यों में सहभागी वनवासिनी क्षत्रिय कन्याएं ।

स्वर्णाभूषणों के विशेष सन्दर्भ में इन महिलाओं की सामाजिक स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है । प्रथम वर्ग अर्थात् राजमहिषी एवं राजकुमारी का सामाजिक जीवन सम्मानित था । उनके जीवन में किसी प्रकार की कमी न होने पर भी एक आदर्श पत्नी की भूमिका निभाती हुई वर्णित हैं । राजा पर इनका विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है । कुछेक प्रसंग ऐसे भी हैं जिनमें विशेष प्रभाव होने के कारण

राज्यहित के विरुद्ध अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करने का सामर्थ्य राजमहिषी में था । 'छद्दन्त जातक' में आए एक प्रसंग में काशी नरेश की राजमहिषी हिमालय प्रदेश में पाए जाने वाले मंगल के प्रतीक हस्ति को किसी भी कीमत पर लाने की जिद पर अड़ जाती है । राजा के लिये हाथियों का शिकार राज्यहित के विरूद्ध होने पर भी रानी द्वारा किये गये दैनिक नाटक के समक्ष झुकने को विवश हो जाते हैं । एक आदर्श पत्नी की भूमिका का निर्वाह भी राजमहिषी द्वारा किये जाने का उल्लेख उदय जातक से प्राप्त होता है जिसमें काशी के युवराज के प्रवजित होने पर उनकी पत्नी भी साथ जाने को तैयार होती है । काशी नरेश द्वारा धन-सम्पत्ति आदि के दिये गये तरह-तरह के प्रलोभनों का उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । इसी प्रकार 'महावेस्सन्तर जातक' में सिबिराष्ट्र की राजपुत्रवधू अपने पति महादानी युवराज वेस्सन्तर के साथ प्रवजित हो जंगलों में जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । राजमहिषी की सेवा करने में अनेकों दासियाँ नियुक्त रहती थीं । इनके दैनिक जीवन में श्रृंगारपरक सामग्री विशेषकर स्वर्णाभूषणों का महत्व ज्ञात होता है । प्रायः समस्त आभूषणों से राजमहिषी अलंकृत रहती थीं । वेस्सन्तर जातक से प्राप्त रुचिकर प्रसंग में युवराज के वनवास प्रवास के पश्चात् सपत्नीक गृहनगर लौटने पर रानी मां पुत्रवधु को पहले से ही समस्त स्वर्णाभूषों को भिजवाती है ताकि राज्य के वैभव (राजघराने) के अनुरूप ही नगरवासी तथा स्वयं रानी मां अपने पुत्रवधू को पुराने रूप में देख सके । राजकुमारी के विवाह के अवसर पर उन्हें स्वर्णाभूषणों से आच्छादित सेविकाएं उनकी व्यक्तिगत सेवा के लिए साथ में जाने के लिए दी जाती थीं । इस प्रकार राजघराने से सम्बद्ध महिलाओं की स्थिति सम्मानित एवं उच्च कोटि की ज्ञात होती है ।

दूसरा वर्ग धनाढ्य गृहपति एवं श्रेष्ठि वर्ग की भार्या का था । ज़िनके पास सेवा आदि कर्म में लगे रहने वाली सेविकाओं की कोई कमी ज्ञात नहीं होती है । इनका सामाजिक जीवन उच्च स्तरीय ज्ञात होता है ।

तीसरे प्रकार में उच्च कुलीन वर्ग में राजमहिषी, युवराजों के सेवा कर्म में नियुक्त परिचारिकाओं एवं राजघराने में आतिथ्य-सत्कार हेतु नियुक्त की गयी राजकीय परिचारिकाओं पर प्रकाश पड़ता है । राजकीय वैभव के अनुरूप परिचारिकाएं सदैव स्वर्णाभूषणों से अलंकृत रहती थीं । यद्यपि इनके पास कोई कमी ज्ञात नहीं होती है तथापि स्वर्णाभूषणों के प्रति सेविकाओं का लोभ प्रसंगवशात प्राप्त होता है । 'कुसजातक' से प्राप्त एक सन्दर्भ में कुस युवराज अपनी राजमहिषी मद्र देश की राजकुमारी से मिलने हेतु उसकी दासी कुबड़ी की सहायता लेते हैं बदले में दासी कुबड़ी को निष्क कण्ठा बनवाने का लालच देते हैं । सेवा कर्म में रत दूसरा

रूप उन राजकीय परिचारिकाओं का था जो युवराज के दैनिक चर्या में नियुक्त होने के साथ-साथ आतिथ्य सत्कार एवं मनोरंजन आदि में नियुक्त रहती थीं । नागराज्यों में इस प्रकार की परिचारिकाओं अथवा नागकन्याओं के बारे में विशेष रूप से उल्लेख मिलते हैं ।

चौथा वर्ग प्रसिद्ध गणिकाओं का था जिनका दैनिक जीवन ऐश्वर्यपूर्ण था । शृंगारपरक स्वर्णाभूषणों का इनके दैनिक जीवन में विशेष महत्व ज्ञात होता है । 'थेरीगाथा' के अनुसार वैशाली की प्रसिद्ध गणिका आम्रपाली वृद्धावस्था में अपने अतीत का स्मरण करते हुए उन समस्त स्वर्णाभूषणों की चर्चा करती है जिनसे उनका शरीर यौवनावस्था में शोभायमान रहता था । 'सुलसा जातक' के अनुसार काशी की प्रसिद्ध गणिका सुलसा अपने प्राणों की रक्षा हेतु दुराचारी व्यक्ति को स्वर्णाभूषणों को देने का प्रस्ताव रखती है । इस संदर्भ विशेष में उन्मुक्त जीवनयापन करनेवाली इन महिलाओं में तत्कालीन समाज में व्याप्त असुरक्षा की भावना पर भी प्रकाश पड़ता है । सामान्य वर्ग की महिलाओं में भी असुरक्षा की भावना बनी रहती थी । प्रायः निकायों में कठोरतम दण्डविधान के संदर्भ में दुराचारी व्यक्ति को तप्त लौह कुम्भी में दीर्घ अवधि तक औंधे मुँह लटकाए जाने का उल्लेख मिलता है । पाँचवां वर्ग उन क्षत्रिय वनवासी कन्याओं के ज्ञात होते हैं जो तत्कालीन समाज से अलग-थलग दण्डकारण्य में रहती थीं तथा युवराज के विलासपूर्ण कार्यों में सहभागी थीं । इस कार्य से प्राप्त धन से वह अपनी जीविका चलाती थीं । अलम्बुसा जातक से काशी के दण्डकारण्य में इस प्रकार की क्षत्रिय कन्याओं के उल्लेख मिलते हैं । तत्कालीन समाज के उच्च वर्ग की दृष्टि में यह कन्याएं हेय समझी जाती थीं । इनकी तुलना में राज्याश्रय प्राप्त गणिकाओं का स्थान कहीं अधिक प्रतिष्ठापूर्ण ज्ञात होता है ।

अन्य सामाजिक जनजीवन के अन्तर्गत अन्तर्जातीय विवाह, सामाजिक मान्यताओं एवं तत्कालीन शिक्षा प्रणाली पर भी प्रकाश पड़ता है । 'सूचिजातक' से ज्ञात एक रुचिकर प्रसंग में काशी के ब्राह्मण बोधिसत्व को लोहार की कन्या से विवाह करने हेतु अपने आप को उत्कृष्ट कोटि का लोहार सिद्ध करना पड़ता है । इसी प्रकार तत्कालीन नरेशों के दूसरे राज्य की राजकन्या से वैवाहिक संबंध स्थापित करने के भी उल्लेख मिलते हैं ।

क्षेत्रगत सामाजिक मान्यताओं के अन्तर्गत उत्सवों एवं धार्मिक विश्वासों के प्रचलन पर भी प्रकाश पड़ता है । 'महाजनक जातक' में विदेह राज्य में प्रचलित चातुर्मासी कुमुदिनी उत्सव के प्रचलन पर प्रकाश पड़ता है जिसमें स्वयं विदेह नरेश बढ़-चढ़ कर भाग लेते हैं । जातक के अनुसार विदेह नरेश इस उत्सव में जाने के लिए स्वर्णमय अलंकारों से विभूषित सैन्धव घोड़ों को जोते जाने तथा स्वर्णिम

चित्रावली से अलंकृत रथ को उपयोग में लाते हैं । सामाजिक परम्पराओं के अन्तर्गत 'कुरूधम्म जातक' से कलिंग राज्य में प्रचलित धार्मिक मान्यता का उल्लेख मिलता है । प्राप्त संदर्भ के अनुसार कलिंग देश में अकाल पड़ने पर तथा उस प्राकृतिक विपदा को टालने के लिए कुरूदेश में पाए जाने वाले मंगल के प्रतीक हस्ति को मंगवाया जाता है । कलिंग नरेश कलिंग वासियों के विशेष आग्रह पर राज्य में वृष्टि हेतु हाथी को मंगवाते हैं । 'छद्दन्त जातक'के अनुसार कुरुदेश के हाथी मंगल के प्रतीक समझे जाते थे जिनका शिकार राज्यहित के विरुद्ध समझा जाता था ।

धातु-विषयक सन्दर्भों से तत्कालीन समाज में प्रचलित गुरुकुल शिक्षा प्रणाली पर भी प्रकाश पड़ता है । प्रायः काशी, मगध व अन्य राज्यों के युवराज तथा ब्राह्मण विद्यार्थी तक्षशिला में जाकर शिल्प एवं शास्त्र की शिक्षा ग्रहण करते थे । तक्षशिला की शिक्षा प्रणाली महंगी थी क्योंकि दूत जातक के अनुसार यहाँ से शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर लौटे निर्धन ब्राह्मण विद्यार्थी को काशी के जनपद में घूम-घूम कर धनी वर्ग से सुवर्ण निष्कों को आचार्य शुल्क हेतु एकत्र किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार धातु विषयक सन्दर्भों की विवेचना से तत्कालीन सामाजिक स्थिति के विकास में धातुओं का योगदान ज्ञात होता है ।

आर्थिक स्थिति :

धातु एवं धातु-कर्म का प्रत्यक्ष संबंध तत्कालीन आर्थिक स्थिति से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है । प्रमुख रूप से समाज में विकसित अर्थव्यवस्था से संबंधित मुद्रा प्रणाली, वाणिज्य-व्यवसाय इसके अन्तर्गत प्रमुख व्यवसायिक केन्द्रों, व्यवसायिक श्रेणियों तथा अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आयात-निर्यात की नीति पर प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है ।

तत्कालीन समाज की विकासशील अर्थव्यवस्था का आधार विभिन्न धातुओं से बनी मुद्राएं ज्ञात होती हैं जिनका उपयोग क्रय-विक्रय, वाणिज्य-व्यवसाय, दान-दक्षिणा, आचार्य शुल्क एवं मार्ग व्यय के रूप में किया जाता रहा है । एक विकसित मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत धातुओं की बनी मुद्राएं यथा सुवर्ण निष्क, हिरण्य, रूपिय, रजत-ताम्र कहापणों एवं ताम्र-लौह मासकों को ढाला जा रहा था । पालि निकायों से ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिसमें सुवर्णकार अत्यन्त दक्षता पूर्वक सुवर्ण निष्कों को नियत भार के रूप में निर्मित करते थे । इसी प्रकार निकायों एवं मिलिन्द प्रश्न से दण्डविधान के सन्दर्भ में रजत के पत्रों को काट कर रूपिय एवं कहापण प्रकार की मुद्रा को बनाने का उल्लेख मिलता है । प्राप्त सन्दर्भ के अनुसार घोर अपराध में लिप्त अपराधी व्यक्ति के शरीर को कार्षापण की भांति टुकड़े-टुकड़े भर काटे जाने का वर्णन प्राप्त होता है । यद्यपि सामान्यतः इन धातुओं की बनी मुद्रा राशि का

उपयोग आर्थिक लेन-देन के रूप में किया जाता रहा है किन्तु इनमें सुवर्ण मुद्राएं धनी वर्ग के लोगों द्वारा ही अपनी इच्छा अनुसार क्रय-विक्रय तथा दान-दक्षिणा के रूप में उपयोग में लाये जाने के उल्लेख मिलते हैं जबकि कहापण एवं ताम्र मासकों का प्रचलन सामान्य व्यवहार में ज्ञात होता है । परवर्ती काल में धनाढ्य वर्ग में आचार्य शुल्क, माग-व्यय एवं दानादि कार्यों में सुवर्ण निष्कों का व्यवहार बढ़ गया था । 'जुण्ह जातक' से प्राप्त एक रोचक प्रसंग में तक्षशिला से शास्त्र की शिक्षा ग्रहण कर लौटे काशी युवराज जुण्ह कुमार की अचानक किसी ब्राह्मण भिक्षु से टकरा जाने एवं उसके भिक्षा पात्र के टूट जाने पर प्रायश्चित्त स्वरूप एक सहस्र सुवर्ण निष्क उन्हें दिये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है । इस प्रकार जहाँ सुवर्ण निष्कों का धनी वर्ग में बढ़ते प्रचलन के उल्लेख मिलते हैं वहीं व्यापार-वाणिज्य में कहापणों का सर्वाधिक प्रचलन परवर्ती काल में ज्ञात होता है । मिलिन्द प्रश्न से प्राप्त एक प्रसंग में शाकल नगरी की आर्थिक समृद्धि के मुख्य कारकों में सुवर्ण, रजत एवं कहापणों का योगदान प्रमुख रूप से ज्ञात होता है । इस सन्दर्भ विशेष में कहापण रजत से भिन्न अलग प्रकार की मुद्रा राशि ज्ञात होती है । ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती चरण में कहापणों के क्रय-विक्रय के रूप में सामान्य रूप से बढ़ते प्रचलन को देखते हुए रजत-ताम्र अथवा ताम्र कहापणों को भी ढाला जाने लगा था । अतः निष्क के बढ़ते प्रचलन, कहापणों के सर्वाधिक उपयोग एवं नवीन रूप में कहापणों का ढाला जाना तत्कालीन समाज में निरन्तर विकसित हो रही अर्थव्यवस्था का सूचक है ।

धातु-विषयक सन्दर्भों की विवेचना करने पर पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न राज्यों यथा–राजगृह, चम्पा, काशी, वैशाली, काम्पिल्य एवं कुशीनारा में धातु व्यवसायिक केन्द्र पर प्रकाश पड़ता है । इन सन्दर्भों के विश्लेषण से विभिन्न राज्यों के कुछेक क्षेत्र धातुओं के प्रमुख व्यावसायिक केन्द्रों के रूप में भी ज्ञात होते हैं । यथा संयुक्त निकाय एवं सूचि जातक से मगध के दक्षिणागिरि के समीप स्थित लोहार ग्राम, महाउमग्गजातक से काम्पिल्य राष्ट्र में उत्कृष्ट लौह इस्पात का उत्पादन तथा एक निकाय से कोसल राज्य में लौह धातु-कर्म के विकसित केन्द्र ज्ञात होते हैं । पालि निकाय से कोसल कांस्य धातु-कर्म का प्रसिद्ध केन्द्र ज्ञात होता है । जातकों से काशी नगरी में सुवर्णनिष्कों, स्वर्णाभूषणों, स्वर्णमय पात्रों तथा स्वर्णखचित वाहनों के सर्वाधिक उपयोग पर प्रकाश पड़ता है, विशेषकर काशी के राजघराने में । ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती बौद्ध काल में काशी सुवर्ण व्यवसाय का विकसित केन्द्र रहा होगा । महावग्ग से भद्दिया नगर (अंग राज्य) में धातुमय चरण पादुकाओं के निर्माण तथा अन्य राज्यों में इसे विक्रय करने का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि भद्दिया नगर में प्रसिद्ध जूता उद्योग था । इन व्यवसायों को संचालित करने वाले धातुकारों को सामान्यतया 'कम्मार' की संज्ञा दी गयी है किन्तु इनके

स्वतन्त्र व्यवसायिक श्रेणी के रूप में होने के प्रमाण स्वरूप सुवर्णकार, लोहार, कंसत्थपझार इत्यादि तथा परवर्ती कालों में सज्झुकार (रजत कर्म करने वाले) जो पहले सुवर्णकार के अन्तर्गत विहित थे, अयोकार, लोहकार, तिपुकार, सीसाकार एवं वट्टकार (पीतल का काम करने वाले) इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं । परवर्ती काल में इनके स्वतंत्र इकाई के रूप में विकसित होना वाणिज्य व्यवसाय के विकास का द्योतक है । मिलिन्दप्रश्न के अनुसार शाकल नगरी की भौतिक समृद्धि के अनिवार्य कारक विभिन्न धातुओं एवं धातुकारों की श्रेणियां ज्ञात होती हैं । धातुकारों के अतिरिक्त श्रावस्ती एवं मगध के आसपास के ग्रामों में कृषिकर्म में रत कृषक वर्ग चर्मकार, आखेट-कर्म में रत व्याघ्र एवं मत्स्य पालन पर भी प्रकाश पड़ता है ।

अन्तर्राज्यीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आयात-निर्यात के उल्लेख भी धातु विषयक संदर्भों से ज्ञात होते हैं । इनमें जुड़े वर्ग को वणिक वर्ग कहा जाता था । यद्यपि यह कर्मकार की ही एक श्रेणी थी । सूचि जातक से लोहार ग्राम में निर्मित लौह उपकरणों को काशी तथा अन्य राज्यों में निर्यात किये जाने, 'शूरपारक जातक' से पश्चिमी तट भृगुकच्छ के वणिक दल द्वारा पश्चिमी देशों से सामुद्रिक व्यापार के द्वारा सुवर्ण धातु के आयात किये जाने तथा मिलिन्दप्रश्न से पूर्व देश सुवर्णभूमि से सुवर्ण को आयात किये जाने संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-वाणिज्य के विकसित होने पर प्रकाश पड़ता है । इस संदर्भ विशेष में वाणिज्य-व्यवसाय के लिए आवागमन के साधनों में नौका आदि से जलमार्गों द्वारा आयात-निर्यात किये जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं ।

सामाजिक-आर्थिक विकास के साथ ही तत्कालीन समाज के भौतिक विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी विकसित कृषि प्रणाली ज्ञात होती है । विनयपिटक से कृषि के विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों यथा फार, कुदाल, फावड़ा, फरसा, कुल्हाड़ी एव खुरपी के श्रावस्ती के बौद्ध भिक्षुओं द्वारा उपयोग में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । 'सुत्तनिपात' से मगध के एकनाला ब्राह्मण ग्राम में 500 कृषकों के लौह कृषि उपकरणों से कृषिकर्म में रत होने के उल्लेख मिलते हैं । इस सन्दर्भ विशेष से पूर्वोत्तर भारत में विशेषकर श्रावस्ती एवं मगध के आसपास के ग्रामों में कृषि कें लौह उपकरणों का उपयोग निश्चित रूप से अधिक उत्पाद अधिशेष की स्थिति को दर्शाता है ।

उपरोक्त कारकों के अतिरिक्त तत्कालीन समाज के राजनैतिक प्रक्रिया को क्रियान्वित करने तथा राजनैतिक शक्ति के विस्तार में भी लौह उपकरणों की

महत्वपूर्ण भूमिका ज्ञात होती है । निकायों एवं जातकों से विभिन्न प्रकार के लौह शस्त्रों यथा बर्छी, कूट, शूल, शक्तिआयुध तथा परवर्ती काल में खड्ग, बाण एवं वल्लम के उल्लेख मिलते हैं जिन्हें कठोरतम दण्ड विधान के साथ-साथ सामरिक महत्व के रूप में भी उपयोग में लाया जाता था । सुरक्षा कवचों का उपयोग भी शूरवीरों द्वारा किया जाता था । इस प्रकार लौह शस्त्रों के सन्दर्भ विशेष से तत्कालीन समाज में अन्तर्राज्यीय संघर्ष की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है । 'महाउमग्ग-जातक' से प्राप्त सन्दर्भ के अनुसार काम्पिल्य एवं विदेह राज्य के बीच संघर्ष की स्थिति चम्पयेय जातक से चम्पा नरेश द्वारा काशीराज को बहुत सा सुवर्ण धनराशि दान दिये जाने से दोनों राज्यों के बीच में मैत्रीपूर्ण संबंध तथा 'कुरूधम्म जातक' से कलिंग राज्य में अकाल आदि पड़ने पर कुरु प्रदेश से हाथियों को मंगवाया जाना दोनों राज्यों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों की पुष्टि करता है ।

पालि ग्रन्थों में वर्णित उपरोक्त सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिवर्तनों में धातु के योगदान की पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी होती है । लगभग छठीं-पाँचवीं शताब्दी ई. पू. के पुरातात्विक उत्खनन विशेष कर बौद्ध केन्द्रों के रूप में विख्यात पूर्वोत्तर भारत के विभिन्न क्षेत्रों यथा श्रावस्ती, राजगृह, वैशाली, कौशाम्बी, राजघाट, चम्पा, कपिलवस्तु तथा तक्षशिला (उत्तरी भारत में स्थित) के क्षेत्र में हुए उत्खनन कार्य से बड़ी संख्या में आर्थिक जीवनोपयोगी रजत-ताम्र की मुद्राएं जिन्हें पालि ग्रन्थों में वर्णित कहापणों एवं मासकों से समीकृत किया गया है, की प्राप्ति, युद्धोपयोगी विभिन्न प्रकार के अस्त्रशस्त्र तथा लौह निर्मित घरेलू उपकरण, शिल्प एवं कृषि के उपकरण इत्यादि की प्राप्ति[1] से उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि होती है । प्रो. रामशरण शर्मा के अनुसार पुरातत्व से प्राप्त कृषि के उपकरण के प्रयोग से पूर्वोत्तर भारत में बड़ी मात्रा में उत्पाद अधिशेष उपलब्ध होने लगा जो पत्थर अथवा ताम्र के उपकरणों से प्राप्त करना संभव नहीं था ।[2] साथ ही पालि ग्रन्थों में वर्णित 'कम्मारग्राम' जैसे तथ्यों की पुष्टि भी पुरातत्व से होती है । हाल ही में बलिया जिले में खैराडीह नामक स्थल की खुदाई से लौह धातु-कर्म में प्रयुक्त एक पंक्ति में बने हुए चूल्हे तथा ताम्र धातु-कर्म के उदाहरण प्राप्त होते हैं जिससे ज्ञात होता है कि यह स्थल लौह धातुकर्म के रूप में विकसित औद्योगिक केन्द्र रहा होगा ।[3]

---

1. प्रीचन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, परिशिष्ट-4, पृष्ठ-241-251.
2. वही, पृष्ठ-173.
3. डा. विभा त्रिपाठी से प्रो. कृष्णकान्त सिन्हा के निर्देशन में हाल ही में खैराडीह में हुए उत्खनन कार्य से प्राप्त अप्रकाशित पुरातात्विक साक्ष्य की जानकारी व्यक्तिगत वार्तालाप के माध्यम से प्राप्त की गयी ।

इस प्रकार यद्यपि पुरातात्विक साक्ष्यों से भी धातुओं के प्रचलन एवं विभिन्न प्रयोगों से पालि ग्रन्थों में वर्णित सामाजिक-आर्थिक कारकों में विभिन्न धातुओं के योगदान पर प्रकाश पड़ता है किन्तु कुछेक विवरण ऐसे भी हैं जिसमें तथ्य पूरी तरह से पुरातात्विक साक्ष्यों से मेल नहीं खाते हैं । विशेषकर अकूट समृद्धि की परिकल्पना बड़े-बड़े सुवर्ण मण्डप, अट्टालिकाओं अथवा बड़ी मात्रा में सुवर्ण धनराशि (मुद्रा) को दानादि में प्रयुक्त किये जाने से संबंधित विवरण । किन्तु साथ ही भवन-निर्माण एवं उनका समायोजन सीमित क्षेत्र के उत्खननों के होते हुए भी उच्च वर्ग एवं जनसाधारण के वर्गविभाजन की पुष्टि करता है । इस प्रकार के दृष्टिकोण पुरातात्विक कठोर यथार्थ एवं साहित्यिक परिकल्पना दोनों के मध्य होते हुए भी तत्कालीन समाज के वास्तविक चित्रांकन में सहायक हुए हैं ।

(2) शोध प्रबंध का संक्षिप्त सार :

विवेच्य युग में विभिन्न धातुओं के समग्र विवेचन से बौद्धकालीन भारत के भौतिक समृद्धि का आधार भिन्न-भिन्न धातुएं ज्ञात होती हैं । विभिन्न धातुएं यथा सुवर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, लौह, पीतल एवं धातुकर्म की दृष्टि से अपेक्षाकृत कहीं अधिक महत्वपूर्ण सीसा, रांगा, जस्ता इत्यादि तत्कालीन समाज में वर्गविशेष के दैनिक एवं व्यवसायिक जीवन मं अनिवार्य भूमिका निभाती हुई प्रतीत होती हैं । इनमें स्वर्ण एवं रजतमय वस्तुओं का प्रचलन एवं महत्व उच्च कुलीन वर्ग के दैनिक जीवन से सम्बद्ध है तो लौह, ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं का महत्व सामान्य एवं विशिष्ट दोनों ही रूपों में आवश्यकतानुसार दिखलायी पड़ता है । इस अध्ययन के माध्यम से विभिन्न वर्गों में धातुओं की उपादेयता, उनके प्रचलन एवं क्रमशः परिवर्द्धन तथा धातु विज्ञान के जिन प्रमुख कारकों पर प्रकाश पड़ता है उनका सारांशतः विवरण इस प्रकार है:–

(1) विवेच्य युग में सर्वाधिक विवरण सुवर्णमय वस्तुओं के प्राप्त होते हैं, जिनका प्रचलन धनाढ्य वर्ग में विशेष रूप से ज्ञात होता है । इनके स्वतंत्र एवं समग्र तुलनात्मक विवेचन से जो मुख्य कारक उद्भासित हुए हैं वह अधोलिखित हैं–

(क) बौद्ध कालीन भारत के आर्थिक रूप से सम्पन्न स्त्रियों-पुरुषों में अलंकरण की वस्तुओं के प्रति विशेष आसक्ति का भाव दिखलायी पड़ता है जिसके परिणामस्वरूप विवेच्य युग में विविध प्रकार के आभूषणों का क्रमशः नवीन रूपों में प्रचलन दिखलायी पड़ता है । प्रारम्भिक काल में स्वर्णमय अलंकृत वेणी, ग्रेवेयक, सुवर्णमाला, कुण्डल, मुद्रिका तथा पांजेब के उल्लेख स्त्रियों के शृंगार सामग्री के रूप में दिखलायी पड़ता है वहीं परवर्ती काल में प्रायः धनाढ्य वर्ग के सभी स्त्रियों तथा पुरुषों (युवराज) के स्वर्णाभूषणों से अलंकृत होने के उल्लेख मिलते हैं । इनमें

स्वर्णमय चिमटी, ललाटिका, सुवर्ण कच्छ, कायूर, निष्ककण्ठा, निष्कमुद्रिका, जंजीर प्रकार, अंगद (बाजूबन्द), हस्ताभरण एवं स्वर्णमय कटि आभूषण के नवीन प्रकारों के उल्लेख मिलते हैं । इस अध्ययन के माध्यम से स्वर्णाभूषणों के क्रमशः बढ़ते प्रचलन एवं नवीन प्रकारों के साथ-साथ परिमाण की दृष्टि से इनके बढ़ते उपयोग पर प्रमुख रूप से प्रकाश डाला गया है ।

(ख) शृंगार से परे स्वर्णाभूषण विशेषकर विविध रत्नों वाली सुवर्ण की मांगलिक माला का उल्लेख भी प्राप्त होता है जिसका उपयोग कर कुरू राष्ट्र के राज्य परिषद में आयोजित शास्त्रार्थ प्रतियोगिता में विजित विद्वान पुरोहित को धर्मपूजा के निमित्त विशेष रूप से प्रदान किये जाने की नवीन तथ्य प्रकाश में आते हैं ।

(ग) विवेच्य युग में सुवर्ण मुद्राओं यथा–हिरण्य एवं निष्कों के प्रचलन पर प्रकाश डाला गया है । इन मुद्राओं का उपयोग धनी वर्ग द्वारा ही विभिन्न रूपों में किया जता था । धनराशि के रूप में, सुवर्ण चूर्ण को व्यवहृत किये जाने के उल्लेख भी मिलते हैं । इन मुद्राओं का परवर्ती काल में प्रचलन बढ़ गया था । मुद्रा के प्रचलन एवं परिमाण की दृष्टि से बढ़ते उपयोग पर प्रकाश डाला गया है ।

(घ) दैनिक जीवन में व्यवहृत (की जाने वाली) सुवर्ण रत्नों से मंडित पात्रों, आसानों तथा स्वर्णमय द्रव्य से अलंकृत राजकीय व्यक्तिगत वाहनों के उल्लेख किये गये हैं । इसके साथ ही तत्कालीन समाज में विकसित चित्रकला पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है ।

(च) विवेच्य युग में राजकीय प्रसादों एवं बौद्ध पूजा के निमित्त निर्मित स्तूप, चैत्य आदि के सुवर्णमय पत्रों से मंडित किये जाने तथा सुवर्ण चूर्ण एवं सुवर्णमय द्रव्यों से सोपान, ईष्टका एवं भूमि को (राजप्रासाद) अलंकृत किये जाने के संदर्भ भी उल्लेखनीय हैं ।

(छ) पालि ग्रन्थों में विशिष्ट अर्थों में प्राप्त शब्दों यथा सुवर्णबालुका, सुवर्णचूर्ण तथा वैज्ञानिक शब्दावलियों यथा-सुवर्णमय पर्वतों के विश्लेषण से तत्कालीन समाज में नदियों, पर्वतीय भागों के आसपास सुवर्ण धातु के कणों के रूप में प्राप्त किये जाने, सामुद्रिक व्यापार के अन्तर्गत सुवर्ण को आयात करने तथा अन्तरिक्ष) विवेच्य युग में राजकीय प्रसादों एवं बौद्ध पूजा के निमित्त निर्मित स्तूप, चैत्य आदि के सुवर्णमय पत्रों से मंडित किये जाने तथा सुवर्ण चूर्ण एवं सुवर्णमय द्रव्यों से सोपान, इष्टका एवं भूमि को (राजप्रासाद) अलंकृत किये जाने के संदर्भ भी उल्लेखनीय हैं ।

(ज) विवेच्य युग में सुवर्ण धातु-कर्म विकसित अवस्था में प्राप्त होती है जिसमें सुवर्ण के प्रगलन, शोधन, सुदृढ़ीकरण, शुद्धता की परख, रखरखाव, मिश्रित सुवर्ण तैयार करने तथा स्वर्णमय द्रव्य को तैयार करके वस्तु पर चढ़ाने एवं सुवर्ण को पीटने की प्रक्रिया इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इन प्रक्रियाओं का तुलनात्मक विवेचन आधुनिक सुवर्ण धातु विज्ञान की प्रक्रियाओं से करते हुए सुवर्ण

धातु तकनीकी ज्ञान के विकास को नवीन आयाम में प्रस्तुत करना शोध प्रबन्ध का उद्देश्य रहा है ।

(2) रजत धातु विषयक विवरणों के विवेचन से जिन प्रमुख तत्वों पर प्रकाश डाला गया है वो इस प्रकार हैं:–

(क) सुवर्ण की भांति रजतमय वस्तुओं का प्रचलन भी सीमित रूप से उच्च कुलीन वर्ग में दिखलायी पड़ता है । विशेष रूप से रजतमय पात्रों, धन राशि के रूप में रूपिय चूर्ण, रूपिय मुद्रा एवं रजत कहापणों के सामान्य प्रचलन पर प्रकाश डाला गया है ।

(ख) परवर्ती चरण में कहापणों का प्रचलन रजत एवं ताम्र के मिश्रण से बने मुद्राराशि के रूप में ज्ञात होता है । आर्थिक विकास में कहापणों के बढ़ते प्रचलन एवं नवीन रूप में कहापणों के विकास पर मुख्यतः प्रकाश डाला गया है ।

(ग) आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में वर्णित शब्द रजतमय पर्वत तथा धनराशि के रूप में व्यवहृत रजतचूर्ण के विश्लेषण से नदियों तथा उत्तर-पूर्वी भारत में अवस्थित पर्वतीय श्रेणियों के आसपास रजत धातु की विद्यमानता ज्ञात होती है ।

(घ) अत्यन्त सीमित रूप से वर्णित रजत धातु कर्म के अन्तर्गत शोधन प्रक्रिया तथा मिश्रित सुवर्ण तैयार किये जाने में रजत के मिश्रण की जानकारी प्राप्त होती है ।

(3) विवेच्य युग में सर्वाधिक प्रचलन अथवा सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण लौह धातु के विविध पक्षों पर प्रकाश पड़ता है । लौह धातु का सामान्य एवं विशेष दोनों ही रूपों में महत्व ज्ञात होता है । सामान्य जनजीवन व्यतीत करने वाले बौद्ध श्रमणों के दैनिक जीवन में जहां लौह निर्मित घरेलू उपकरणों की भूमिका मुख्य रूप से ज्ञात होती है वहीं लौहमय शस्त्रों का उपयोग राजकीय आवश्यकता के अनुरूप किया जाता रहा है । लौहमय वस्तुओं के विवरण से जिन प्रमुख कारकों पर प्रकाश पड़ता है वे इस प्रकार हैं–

(क) विवेच्य युग के प्रारम्भिक चरण में जहां लौह निर्मित घरेलू उपकरणों तथा आन्तरिक दण्ड विधान के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लौह उपकरणों यथा–पात्र, सुई, कैंची, नहहरनी, सलाई, छूरी तथा बर्छी, कूट, शूल एवं शक्तिआयुध के विवरण प्राप्त होते हैं वहीं परवर्ती कालों में विशेष महत्व के सामरिक कार्यों में प्रयुक्त रक्षा उपकरणों के नवीन प्रकारों यथा – खड्ग, ढालें, बल्लम, तोमर एवं दण्ड तथा सुरक्षा कवचों की अनिवार्यता, राजकीय महत्व के लौहमय प्राचीरों वाले यातना गृह भूमिगत राजकीय प्रासाद एवं गुप्तशालाओं की नियोजना पर मुख्यतः प्रकाश पड़ता है ।

(ख) कोसल एवं मगध क्षेत्रों के आसपास लौह प्राप्ति की चर्चा इस क्षेत्र विशेष में विकसित लौह धातु कर्म एवं लौह तकनीकी ज्ञान के अन्तर्गत पिटवां लोहा तैयार करने, सामान्य एवं कठोर श्रम में प्रयुक्त की जाने वाली लौह वस्तुओं के निर्माण में कम एवं अधिक कार्बन के मिश्रण से लौह इस्पात तैयार करने तथा सामरिक महत्व के रक्षा उपकरणों के लिए उत्कृष्ठ कोटि के लौह इस्पात के उत्पादन जैसे नवीन तकनीकी आविष्कार, तरह-तरह के लौह वस्तुओं के निर्माण विधि एवं जंग से बचाव के उपायों को दिखलाया गया है । इन प्रक्रियाओं का आधुनिक लौह तकनीकी ज्ञान से तुलनात्मक अध्ययन तथा अध्ययन के परिणाम स्वरूप अत्याधुनिक विकसित लौह धातु कर्म के तत्कालीन समाज में प्रयुक्त किये जाने पर प्रकाश डालना शोध प्रबंध का ध्येय रहा है ।

(4) बौद्ध काल में ताम्र-कांस्यमयी वस्तुओं के सामान्य एवं उच्च वर्ग में प्रचलन ज्ञात होते हैं । ताम्र की अपेक्षा कांस्यमय वस्तुओं का विशेषकर पात्रों के ज्यादा व्यवहार में लाए जाने के उल्लेख मिलते हैं । विवेच्य युग में मुख्य रूप से कांस्यपात्रों के परिवर्द्धित रूपों तथा मुद्राराशि के रूप में कांसे का उपयोग, कांस्य के उत्पादन के साथ-साथ धातु-कर्म की दृष्टि से कांस्यमय द्रव्य को तैयार करके वस्तुओं को कांस्यमय बनाने की प्रक्रिया पर प्रमुख रूप से प्रकाश डाला गया है ।

(5) अपेक्षाकृत कम प्रचलित किन्तु धातु-कर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्य धातुएं यथा–सीसा, रांगा एवं जस्ते का सीमित रूप से उल्लेख किया गया है । पालि ग्रन्थों में प्रसंगवशात् उल्लिखित सीसे, रांगेमयी पात्रों के वर्णन तथा उन्हें सीसामयी एवं रांगामयी बनाने हेतु इन धातुओं के द्रव्य को चढ़ा कर तैयार किये जाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है ।

(6) परवर्ती काल में नवीन मिश्र धातु पीतल की चर्चा की गयी हैं । उत्तर पश्चिमी भारत के शाकल नगरी में पीतल धातु को उपयोग में लाए जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं ।

(7) विभिन्न धातुओं के सामग्री संकलन एवं तकनीकी विकास संबंधी अध्ययन की प्रक्रिया में खनिज सम्पदाओं से युक्त भौगोलिक परिक्षेत्रों एवं समाज के विकासशील आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों पर प्रमुख रूप से प्रकाश पड़ता है । तत्कालीन समाज के भौतिक समृद्धि के प्रमुख कारक विभिन्न धातुएं ज्ञात होती हैं जिनकी चर्चा करके शोध प्रबंध को नवीन रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है ।

उपरोक्त धातुओं के (सुवर्ण, रजत, लौह, एवं ताम्र) के सामग्री संकलन से पूर्व विभिन्न रूपों में धातुओं के योगदान पर प्रकाश डालना भी शोध प्रबंध का ध्येय रहा है ।

ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-सूची

मूल-स्रोत

अंगुत्तरनिकाय : सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, चार जिल्दों में प्रकाशित, नालन्दा, देवनागरी पालि सीरीज़, 1960, हि. अनुवाद, आनन्द कोसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, 1957 (जिल्द-1), जिल्द-2, 1959, जिल्द-3, 1963, जिल्द-4, 1969.

अर्थशास्त्र : गैरोला वाचस्पति, हि. संस्कृत, 1960 : रघुनाथ सिंह द्वारा संस्कृत-हिन्दी अनुवाद, कौटिलीयं अर्थशास्त्रम, वाराणसी, 1983

अपदान : सम्पादक भिक्षु काश्यप, खुद्दक निकाय, खंड-6, नालन्दा बिहार, 1955.

इतिउत्तक : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1959.

उदान : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1959 : हि. अनु., भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

खुद्दकपाठ : सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड-1, नालनादा, बिहार, 1959.

चरियापिटकं : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड-7, नालन्दा बिहार, 1959.

चुल्लवग्ग एवं महावग्ग : भिक्षु जगदीश काश्यप (सम्पा.), नालन्दा, बिहार, 1937, हि. अनुवाद, सांकृत्यायन राहुल, विनयपिटक, सारनाथ, वाराणसी 1935.

जातक : संपा., भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1937 : खु. नि., खंड-3, भाग-1, 2 ; हि. अनु., आनन्द कौसल्यायन, खंड-1 से 6, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1941.

थेरगाथा : सम्पा. जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, भाग-2, 1959, हि. अनु. भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1955.

थेरीगाथा : सम्पा. जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड-2, 1959, हि. अनु. डा. भरत सिंह उपाध्याय, थेरीगाथाएं, नई दिल्ली, निगाथा साहित्य मंडल, 1937.

दीघनिकाय : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, भाग-1-3, नालन्दा, बिहार, 1958, हि. अनु., राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु काश्यप, बुद्ध विहार, लखनऊ, 1979.

दीपवंस : विल्हेलम गायगर, अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो, 1908.

दिव्यावदान : इ. वी. कावेल एवं आई. ए. नील, कैम्ब्रिज, 1886.

धम्मपद : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1959; हि. अनु., भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1955.

पाराजिक : भिक्षु जगदीश काश्यप (सम्पा.), नालन्दा, बिहार, 1958, हि. अनु., राहुल सांकृत्यायन, विनयपिटक, सारनाथ, वाराणसी, 1935.

पेतवत्थु : सम्पा., भिक्षु जगदीश काश्यप, 1959, नालन्दा, बिहार.

बुद्धवंस : सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1959.

मज्झिमनिकाय : संपा. वी. पी. बापट एवं भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1956; हि. अनु., राहुल सांकृत्यायन, भिक्षु धर्मरत्न जी, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1955.

महानिद्देस : सम्पा. भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार, 1959.

महाभारत : 6 जिल्दों में, नीलकंठ टीका के साथ, चित्रशाला प्रेस, पूना, 1929.

महावंस : विल्हेलम गायगर, अंग्रेजी अनुवाद,कोलम्बो, 1908.

विनयपिटक : हि. अनु., राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी, 1935.

विभज्वाद : ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1988.

विमानवत्थु : संपा., भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा, बिहार.

संयुक्तनिकाय : संपा., भिक्षु जगीश काश्यप, भाग-1, 2, 3, 4, नालंदा 1959, हि. अनु., काश्यप एवं धर्मरक्षित, सारनाथ, प. सं., 1954.

सुत्तनिपात : संपा. भिक्षु जगदीश काश्यप, खुद्दकनिकाय, खंड-1, नालन्दा, बिहार, 1959, हि. अनु., जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, वाराणसी, 1955.

आवश्यकसूत्र : रतलाम, 1928-29.

मिलिन्दप्रश्न : पं. द्वारिका प्रसाद शास्त्री, हि. अनु., 1979, मिलिन्दप्रश्न पालि, अनु. जगदीश काश्यप, प्रज्ञानन्द पालि संस्थान, श्रावस्ती, 1972.

आधुनिक-ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण : पाणिनीकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, 1964.

अग्रवाल, वासुदेवशरण : भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी 1987.

अल्तेकर, ए. सदाशिव : एवं मिश्र, वी. के.; रिपोर्ट आन कुम्रहार एक्सकेवेशन्स, पटना, 1955.

आचार्य, प्रसन्न कुमार : ए डिक्शनरी आव हिन्दू आर्किटेक्चर, जे. के. पव्लिशिंग हाउस, मातिया पार्क, सुल्तानिया रोड, भोपाल, 1978.

आनन्द, के. कुमारस्वामी : इंडियन, आर्क्टिेक्चरल टर्म्स, जर्नल आव अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, जिल्द-8.

आप्टे, बी. एस : संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, बम्बई, 1954.

इंडियन, आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1955-1956.

इंडियन, आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1956-1957.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1957-1958.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1958-59.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1959-160.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1961-70.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1973.

इंडियन आर्कियोलाजी : ए रिव्यू, नई दिल्ली, 1975-81.

उपासक, सी. एस. : डिक्शनरी आव अर्ली मोनास्टिक टर्म्स, वाराणसी, 1975.

उपाध्याय, भरत सिंह : पालि साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग , 1986.

उपाध्याय, भरत सिंह : बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, शकसंवत् 2018.

उपाध्याय, वासुदेवशरण : प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, बिहार हिन्दी ग्रन्थ प्रकाशन, पटना, 1972.

एलेन जे. : कैटलाग आव क्वाइन्स इन एन्शिएंट इंडिया, 1930.

कनिंघम, अलेक्जेण्डर : ज्योग्राफी आव एन्शियंट इंडिया का हिन्दी अनुवाद, प्राचीन भारत का भूगोल, अनु. डा. जगदीश चन्द्र, आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, 1971.

कनिंघम अलेक्जेण्डर : भरहुत प्लेट, हिन्दी अनुवाद, डा. तुलसी राम शर्मा, भरहुत स्तूप, संस्कृत विभाग, खालसा कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1975.

कनिंघम, अलेक्जेण्डर : क्वाइन्स आव एन्शियंट इंडिया फ्राम द अर्लीयेस्ट टाइम्स टू दी सेवेन्थ सेन्चुरी, प्रकाशित पत्र, लन्दन, 1891.

काश्यप, जगदीश : अभिधम्म फिलोसोफी, वाराणसी, 1942.

कावेल, ई. वी. : जातक, अंग्रेजी अनुवाद, 6 जिल्दों में एवं इण्डेक्स, कैम्ब्रिज 1895., 1907.

कोसाम्बी, धर्मानन्द : दि बिगनिंग्स आफ आयरन एज़ इन एन्शियंट इंडिया, जर्नल आव द इकोनामिक एण्ड सोशल हिस्ट्री आफ द ओरियंट, दिल्ली, 1975.

गायगर, विल्हेलम : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज़, कलकत्ता विश्व-विद्यालय, 1956.

गोयल, श्रीराम : भारतीय अभिलेख संग्रह, जयपुर, 1982.

गोयल, श्रीराम : विश्व की प्राचीन सभ्यताएं, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1990.

चाइल्डर्स, आर. सी. : डिक्शनरी आव पालि लैंग्वेज़, लन्दन, 1875.

जायसवाल, काशी प्रसाद : रिपोर्ट आन कुम्रहार एक्स., रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, 1959.

जोशी, नीलकंठ पुरोषोत्तम : विनयपिटक के आधार पर भारतीय भौतिक जीवन की एक झलक, जे. यू. पी. एच. एस., 1951-52.

जोशी, लालमणि : संपा. एवं अनु. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता सूत्र.

डे. नन्दलाल : ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आव एन्शियंट एण्ड मेडिवल इंडिया, लन्दन 1977.

डेविड्स, रीज़ : पालि-इंगलिश डिक्शनरी, लन्दन, 1959.

डेविड्स, रीज़ : बुद्धिस्ट इंडिया, दिल्ली, पटना, 1971.

डेविड्स, रीज़ : बुद्धिज़्म, इट्स हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर, लन्दन, 1896.

वापट, वी. पी. एवं वाडेकर, संपा., अट्ठसालिनी, लन्दन, 1897, पूना, 1942.

त्रिपाठी, प्रभा : प्राचीन पूर्वोत्तर भारत, साहित्य संस्थान, वाराणसी, 1975.

त्रिपाठी, विभा : आयरन मेकिंग इन एन्शियंट इंडिया, विथ स्पेशल रेफरेंस टू एक्सकेवेशन, एट खैराडीह, प्रकाशित शोध पत्र, भोपाल, 1991.

धर्मेन्द्र कुमार : खनिज जगत, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण, 1973.

नारायण, अवध किशोर एण्ड राय, टी. एन. : एक्सकेवेशन्स आव राजघाट भाग-1, 1957-58, वाराणसी, 1976.

नियोगी, पंचानन्द : आयरन इन एन्शियंट इंडिया, 1964, कलकत्ता,

पीठक, विशुद्धानन्द : आहत, ए सेमान्तिक स्टडी, जर्नल आंफ दि न्यूमिसमैटिक सोसायटी ऑफ इंडिया, 1982.

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ 1976.

पाण्डेय, गोविन्द चन्द्र : स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स आफ़ बुद्धिज्म, इलाहाबाद, 1957.

फ्राउवाल्नर, ई. : द अर्लीयेस्ट विनय एण्ड दि बिगनिंग्स आव दि बुद्धिस्ट लिटरेचर, रोम, 1956.

फार्बस, आर. जे. : स्टडीज़ इन एन्शियंट टेक्नोलाजी, लन्दन, 1964.

बाजपेयी, कृष्णदेव एवं मिश्र विजयकान्त : वैशाली एक्सकेवेशन्स, 1950.

बनर्जी, एन. आर. : दि आयरन एज़ इन इंडिया, नई दिल्ली, 1965.

भानु प्रकाश : मेटल एण्ड मेटलर्जी, अप्रकाशित लेख, मेटलर्जी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय.

मजुमदार, रमेशचन्द्र : क्लासिकल अकाउण्ट्स आव एन्शियंट इंडिया, कलकत्ता, 1964.

महाथेर, बुद्धदत्त : कन्साइज् पालि-इंगलिश डिक्शनरी, कोलम्बो, 1949.

महाथेर, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, सारनाथ, वाराणसी, लंदन, 1938.

मार्शल, सर जान : तक्षशिला एन इलस्ट्रेटेड अकाउण्ट्स आव आर्कियोलाजिकल एक्सकेवेशन्स, 1913, 1935.

मार्शल, सर जान : दि मौन्युमेन्ट्स आव सांची, 1989, नयी दिल्ली एवं मोहे-जोदारो एण्ड दि इण्डस वैली सिविलाइजेशन, 1931, एक्सकेवेशन्स एट भीटा, कलकत्ता, 1910.

मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, वाराणसी, 1980.

मुखर्जी, राधाकुमुद : ए हिस्ट्री आव इंडियन शिपिंग, लन्दन, 1912.

मिश्र, अखिलेश्वर : सुत्तपिटक में वर्णित भौतिक जीवन का एक अध्ययन, शोध प्रबन्ध, प्रा. भा. इति. सं. एवं पुरा. वि., काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1988.

मोतीचन्द्रा : प्राचीन भारतीय वेशभूषा, प्रयाग, सम्वत् 2007.

रायचौधरी, हेमचन्द्र : पालिटिकल हिस्ट्री आव एन्शियंट इंडिया, कलकत्ता, विश्वविद्यालय, 1953.

राय त्रिभुवन नारायण : द गैंगेज़ सिविलाइजेशन, नई दिल्ली, 1983.

रैप्सन : दि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इंडिया, 1962.

लाहा, विमलाचरण : प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, रामकृष्ण द्विवेदी द्वारा अनूदित, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1972.

लोव एल. थेल्मा : रिफ्रैक्टरीज़ इन हाई कार्बन आयरन प्रोसेसिंग, डिपार्टमेण्ट आव साउथ ईस्ट एशियन स्टडीज़ यूनिवर्सिटी आव केलिफोर्निया 1892.

लाल, व्रजभूषण एण्ड दीक्षित, के. एम. : एक्सकेवेशन एट शृंगवेरपुरम्, 1952.

वील, एस. : बुद्धिस्टिक रिकार्ड्स आव द वेस्टर्न वर्ल्ड, लन्दन, 1959.

व्यास, कृष्ण गोपाल : आर्थिक भू-विज्ञान : हिन्दी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश, 1971.

वाडिया, डी. एन. : ज्योलाजी इन इंडिया, लन्दन, 1975.

विन्टरनित्स : हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर, कलकत्ता, 1927, 1933.

शर्मा, राणा प्रताप : पौराणिक कोश, वाराणसी, 1986.

शर्मा, रामशरण : प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, नई दिल्ली, 1990.

शर्मा, राय गोवर्द्धन : रेह इन्सक्रिप्शन्स आव मिनाण्डर एण्ड द इण्डोग्रीक इनवेज़न आव द गंगा वैली, एलाहाबाद , 1980.

शास्त्री, नीलकण्ठ : नन्द-मौर्य-युगीन भारत, वाराणसी, 1969.

शास्त्री, नीलकण्ठ : एज़ आफ नन्दाज़ एणू मोर्याज़ दिल्ली, 1967.

शुक्ल मार्कण्डेय : भारतीय कलाओं तथा औद्योगिक शिल्पों का अध्ययन, प्राचीन भारतीय इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, बस्ती, किसान डिग्री कालेज, 1969.

स्वामी प्रणवा नंदजी : कैलास– मानसरोवर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सत्यप्रकाश : क्वाएनेज इन एन्शियंट इंडिया, 1968.

सत्यप्रकाश : प्राचीन भारत में रसायन का विकास, प्रयाग, 1960.

संकालिया, हीरानन्द : रिपोर्ट आन द एक्सकेवेशन एट नासिक एण्ड जोर्वे, 1978.

सहाय, विशम्भर : हिमालय में भारतीय संस्कृति

सांकृत्यायन राहुल : पालि-हिन्दी डिक्शनरी, सारनाथ, वाराणसी, 1959.

सांकृत्यायन राहुल : बुद्धचर्या, सारनाथ, 1951.

सिंघल, दामोदर : एशिया में बौद्ध धर्म, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1981.

सिन्हा, कृष्ण कुमार : एक्सकेवेशन एट श्रावस्ती, 1959.

स्मिथ, विन्सेण्ट : अर्ली हिस्ट्री आव इंडिया, आक्सफोर्ड, 1924.

सिंह, शिवाजी : वैदिक लिटरेचर आन पाटरी, पटना.

सिंह, वीरेन्द्र प्रताप एण्ड नारायण सी. के. : पाटलिपुत्र एक्सकेवेशन्स, पटना, 1970.

सेंगर, जे. एस. : भारत-कम्बुज संबंध, मीनाक्षी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1985.

श्रीवास्तव, कृष्णकुमारी : पालि जातक–एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 1984.

शोध-पत्र एवं अन्य पत्रिकाएं :

कुपुरम जी. : गोल्ड इन एन्शियंट साउथ इंडिया, सेमिनार आन एन्शियंट मेटल इण्डस्ट्रिज़ आफ साउथ इंडिया, तंजौर, मार्च, 1983.

त्रिपाठी, विभा : आयरन मेकिंग इन एन्शियंट इंडिया विथ स्पेशल रिफरेन्स टू दि खैराडीह, भोपाल, दिसम्बर, 1991.

भारद्वाज, हेमचन्द्र : सम आस्पेक्ट्स आव अर्ली टेक्नोलाजी, रेडियो-कार्बन एण्ड इंडियन आर्कियोलाजी, संपा. जे. पी. अग्रवाल एवं ए. घोष, बम्बई, 1972.

शास्त्री, अजयमित्र : क्वाएन एण्ड अर्ली इंडियन इकोनामी, सेमिनार आन क्वाइन्स, पटना विश्वविद्यालय, 1969.

सिंह वीरेन्द्र प्रताप : सम आस्पेक्ट्स आफ लाइफ इन एन्शियंट वाराणसी, रिवील्ड थ्रू द आर्कियोलोजिकल सोर्सेज़, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, 1980.

गोल्ड बुलेटिन एण्ड गोल्ड पेटेन्ट डाइजेस्ट, वा. 24, रिसर्च लेबोरेटरी, दि ब्रिटिश म्यूज़ियम, लन्दन.

बैरियर, ई., दि अगारिया, हम्प्री मिलप्रेड, ऑक्सफोर्ड यूनि., लंदन, 1952. बुलेटिन ऑफ दि जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नं. 23., दिल्ली, 1965.

शब्दानुक्रमणिका

शब्दानुक्रमणिका

अंकुश–57, 199
अंकुसी–167, 200, 201
अंग–93
अगारिया–209, 211
अग्निमाल समुद्र–102, 108, 109, 115, 157
अंगूठी–47, 123
अंगुलियक–37
अंजन–254
अट्ठकथा–4, 17, 89
अट्ठकवग्ग–8, 10, 16
अत्थवण्णना–9
अंतः पुरभाजनी–181
अंतर्राष्ट्रीय–10
अंतरिक्ष–93, 97, 98, 154
अथर्ववेद–17
अर्थशास्त्र–110, 121, 141, 182, 184, 185, 197, 198, 199, 200, 203, 213, 231, 256, 257, 258
अदन–109
अद्धरिया–17
अर्धकाकनि–181
अर्धमासक–181
अनागतभयानि–14
अन्नागार–204, 220
अनात्मवाद–6
अनाथपिंडक–73, 126
अनुपिटक–3
अपदान–4, 10, 16, 54, 55
अभिनिष्क्रमण–6
अभिधर्मकोशसाहित्य–104

अभिधम्मपिटक–4, 12, 23
अफ्रीका–109
अयस्क–204, 206
अयोधन–180, 206,. 213
अयोकार–276
अरब–109
अरावली–236
अल्मोड़ा–236, 254
अलम्बुसा–45
अलियवसांणि–14
अलेक्जेन्डर कनिंधम–50, 52, 54
अहिच्छत्रा–181, 123
अष्टांगिक–7
अष्टाध्यायी–141, 231
असियष्टि–197
असम–159
आकर्षित–126
आपानगोष्ठी–44
आर. जे. फार्बस–237
आरामिक ग्राम–35
आयतन–7
आहत–232, 233
आवश्यकसूत्र–184
आंध्र–114
इंडिया–200, 206
इंडोचीन–115
इंडोनेशिया–115
इंडौबैक्ट्रियन–145
इत्तिउत्तक–5, 8, 16, 88
इंद्रप्रस्थनगर–60
इन्घट प्रकार–212
इरावदी–116

इस्पात–197, 204, 210
इस्पाती लौह–213
ई. बी. कावेल–48
ईरानी–166
ईष्टका–91
ईस्ट पाउडर–216
उर्जयत–107
उज्जैन–34, 204
उव्हीस–90
उड़ीसा–209
उत्तरी कृष्ण मार्जित–187, 230
उत्तर प्रदेश–209, 236
उदान–4, 8, 17, 18, 19
उद्दालक–74
उद्घाटिम–184
उपरिपण्णासकं–6
उरूवेला–227
उसुकार–215
उसूहिं–197
एकक निपात–7
एकाश्मक–95
एकनाला ब्राह्मण ग्राम–178, 244, 276
एनाल्स ऑव दि फार
हान डायनेस्टी–116
एरियन–184, 197, 198, 200
एशिया–208
ओक्खा–170, 225
ओटोफ्रांके–21
ओरियूप–187, 200
औषधितारे–166, 197, 211
कंगन–3
कच्छ–57, 122

कर्टियस–59, 88, 212
कड़ाही–72, 108
कण्णपेण्ण–43, 206, 209, 214, 215
कर्णमलहरणी–133, 229
कदली–121, 122
कनकसिकता–102, 105, 107
कनिंघम–52, 54, 70; 192
कनेर–184
कपिलवस्तु–277
कृष्णायस–123, 191, 192, 234
कम्बोडिया–115
कहापण–74, 132, 140, 142, 143, 144, 146, 147, 149, 159
कसौटी–119, 126
काञ्चनट्ट–61
काछ–57
कान्तार–110
काम्पिल्य–48, 89, 277
काशी–51, 77, 93, 248, 277
काशी प्रसाद जायसवाल–84
कार्षापण–140, 141, 144, 149, 152, 234, 250
काश्मीर–107
किन्नर–112
क्विलान–188
कुमारस्वामी–259
कुमुदनी–60
कुमायूँ–112
कुरूम्ब–201
कुरूराज्य–60
कुशाग्रपुर–91
कूटागार–95
केरल–108, 160
कैलास–105

कोसम–44
कोसाम्बी–175, 176, 183, 193, 231, 241, 246, 271
कोसल–7, 208, 241, 244, 281
कोरव्य –55
कोयला–91
कौन्डिन्यपुर–192, 193
कौटिल्य–119, 141, 255
कंसकूट–240
कंसेरा–227, 251
खग्गविसाणसुत्त–10, 18, 19
खडग–212, 217, 27, 89
खन्धक–4, 7
खड़ाऊ–55
खुद्दकपाठ–4, 8, 16
खुरमाली–49, 57, 109
खेतड़ी–223, 236
खैराडीह–208
गगरी–84
गढ़वाल–169, 290
गंगाघाटी–174
गणिका–234
ग्रामणि–200
ग्रैवेयक–33, 34, 46, 123
गैलना–255
गोल्डेन स्लीपर–55
गोंद–217
गौडिक–159
चकवाको–53
चंकमणपथ–90
चक्रवाल खान–159
चंद्रगुप्त मौर्य–58
चंदन–98

चंद्रमा–87
चंदरजत पर्वत–158
चंपानगरी–75, 93, 153, 269, 273, 277
चरियापिटक–4, 10, 16
चाइल्डर्स–8, 35, 174
चारकोल–237
चिमटी–4, 44, 61
चित्रुपाहन–137
चिरांट–163, 210
चीन–115
चीनी–116
चुंदकर्मार–117
चैत्य–276, 279
चोल–17
छिन–20
छेनी–192, 193
जखेड़ा–197, 183, 182, 18
जंजीर–167
जंबूखंडप्रदेश–104
जंबूधारा–104
जंबूनद–125
जंबू रसवती नदी–103
जंबूलिंग–104
जलयान–116
जव–114
जातक–4, 8, 9, 16, 19, 76
जातरूप–113, 132
जाम्बूनद सुवर्ण–98, 102, 103
जुआढ–179
जुण्ह कुमार–77
जेतवन–11
जेतुत्तरनगर–58

झांझर–38
ट्रावनकोर–108
तक्कलि–114
तक्कोल–114
तन्तुक–178
तमिलनाडु–114
तक्षशिला–70, 75, 174, 193, 200, 248
तश्तरीनुमा–148, 189, 227, 243
ताम्रपर्णि
तापकुटट्न–216
ताला–188
तार–229
तिपुकारा–258, 276,
तिब्बत–11
तेलउत्पलावन विधि–255
थाइलैंड–115
थोक जालुंग–111
दानी–145
दोआब–145
दिव्यावदान–186
धम्मपद–4, 19
धातुकथा–4, 19
धागा–6
नतशलाका–144
नंदलाल डे–113
नमेरू–111
नहहरनि–196, 215
नागदा–190
नागसेन–13
नासिका–135, 158
निकष–124
निदानवग्ग–7

निष्क–18, 24, 125, 274
निस्त्रिंश–19
नेपाल–254
नेवासा–190, 193
पगहों–194
पिञ्जर–58
पंजकोर–24
पट्ठान–4
पटिसम्भिदामग्ग–4, 10, 23
परिमाण–101
पर्वत–198, 254
परियोग–228
पंसुधोवक–117
प्लेसर–107, 156
पाटलिग्राम–208
पाठीन–211, 166
पार्श्वनाथ–6
पाणिनी–231
प्रमासपाटन–36, 204
प्रह्लादपुर–210
प्रत्यास्थता–207
पिटवां लौह–211
पीतल–281, 204, 258
पेनिनसुला–115
पी. सी. बागची–116
फतेहपुर–24
फरिश्ता–112
फोफी–82, 139
फार–213
बकरी–121
बर्द्दी–183, 196
बंदरगाह–116

बलिया–208
बहेलिया–271
ब्रह्मरिज्झा–17
बाहिरकथा–13
बिम्बिसार–11
बिहार–210
बील–51
बेबीलोन–110
बैरियर–211
बुद्धघोष–12, 13
बुद्धदत्त–80
बुद्धवंस–4, 10
बुलियन–76
बेसुंग–114
बौद्ध संगीति–11
भण्डारकर–272
भद्दिय नगर–94, 271
भरहत–45, 46, 51, 54, 59, 97, 192
भाब्रू–14, 19
भारत–3, 239
भारतवर्ष–105, 254
भीष्मपर्व–105
भोजपत्र–206
भृगुगच्छ–276
मगध–204, 264, 271, 279, 28
मटका–224
महिंसक–269
म्यानमार–115
मारक–241
मार्शल–113
मारविजय–7
मागध–92

मेगास्थनीज़–197
मैसॉन–200
मोतीचंद्रा–40
मौर्यकालीन–200
यक्षी–49
यक्ष–52
यष्टि–52
यान–83
रसरत्नसमुच्चय–119
राइसडेविड्स–19
राजगृह–277
रामेश्वरम्–108
रोमन–84
रूद्ररामन–108
लाओस–115
लाहा–32
ल्हासा–112
व्यांतिक–23
विनयमित्र–24
वेस्सन्तर–79
वुट्सस्टील–212
हस्तिआवरण–59,
ह्वेनसांग–156
हाउस ऑफ दिफिनियल–96
हाटक–113
हिरण्य–73, 791
हेरोडोट्स–197
हौंदा–88
शतपथब्राह्मण–50, 95, 118
शातकुंभ–114, 116
शिशुपालगढ़–192
श्रावक–50

श्रावस्ती–70, 72, 126, 186
श्रृंगवेरपुरम्–229
संगम–107
सप्तधारा–103
सतलज–196
सप्तपर्णी–4
सत्यप्रकाश–212
सांची–52, 153, 60
सांकृत्यायन–11, 17, 18, 180, 241
सागल नगरी–13
सांभर–190
सिगनेटरिंग–48
सिंधु उपत्यका–70, 106, 107
सिविराष्ट्र–57
सिरिमादेवता–50
सिरकपटीला–47
सिंहलद्वीप–14
सिंहली–15
सीसकारा–14
सुत्तनिपात–4, 15, 17
सुत्तपिटक–4, 5, 15
सुत्तविभग–4, 11
सुनहरीजरी–50
सुवर्णकार–14
सुवर्णकुड्य–99
सुवर्णचूर्ण–69, 70, 102, 106
सुवर्णमूर्ति–17
सुवर्णनिष्क–8
सुवर्णभूमि–110
सोमालि–157
सौनिया–187
स्वर्णजाल–57, 61, 87, 97

स्थपति–14
स्वर्णपरत–79
स्ट्रेबो–53
स्वर्णराशि–75, 102
स्वर्णधूलि–93
स्वर्णरेखा–107
स्वर्णसिकता–102, 105, 107
स्वर्णतल–116
स्वेजनहर–197
त्रपुकार–141
त्रिपिटक–3, 14, 222

●